
DURGA SAH MUNICIPAL LIBRARY
NAINI TAL
दुर्गासाह म्युनिसिपल पुस्तकालय
नैनीताल
Class No. 891.38
Book No. C31B
Reg No. 2453

बावर्चिन

आचार्य चतुरसेन शास्त्री की चुनी हुई कहानियों
का अनुपम संग्रह

प्रकाशक :

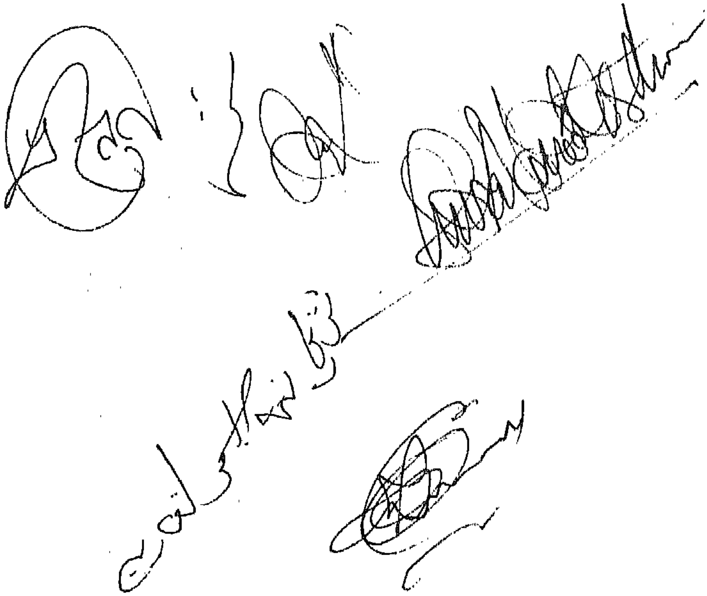
कर्मयोगी प्रेस, लिमिटेड,

इलाहाबाद

मूल्य २ रुपए ८ आने

मुद्रक : श्री० आर० सहगल
प्रकाशक : कर्मयोगी प्रेस, लिमिटेड
स्थान : रैन बसेरा, इलाहाबाद
प्रथम संस्करण : जनवरी, १९४७

विषय सूची



पुस्तक के विषय में—

प्रस्तुत पुस्तक में आचार्य चतुरसेन शास्त्री की १४ ऐसी कहानियों का संग्रह है जो उन्होंने विशेष रूप से मेरे लिए 'चाँद' में प्रकाशनार्थ लिखी थीं। इनमें अधिकांश कहानियाँ सामाजिक कुरीतियों को जनता के समक्ष उपस्थित करने की शुभ्र-भावना से प्रेरित होकर ही लिखी गई थीं। पत्रकार की हैसियत से २५ वर्षों के अनुभव के बल पर मैं कह सकता हूँ, कि अग्र-लेख तथा सम्पादकीय टिप्पणियाँ पढ़ने वालों की संख्या, जबकि ५ प्रति-शत भी नहीं होती, कहानी पढ़ने वालों की संख्या यदि सौ में सौ कहा जाय तो विशेष अतिशयोक्ति न होगी। सारांश यह, कि ये कहानियाँ एक लक्ष्य-विशेष को सामने रखकर लिखी गई हैं। कला की दृष्टि से इनमें त्रुटियों का ढूँढा जाना निसन्देह लेखक के प्रति अन्याय होगा, अस्तु

शास्त्री जी हिन्दी के सिद्ध-हस्त लेखक और प्रसिद्ध कहानीकार हैं। जिस विषय को आप उठा लेते हैं उसका अन्त तक निर्वाह करना उनकी विशेषता है। उदाहरण के तौर पर 'द्वितीया' शीर्षक कहानी में मनो-विज्ञान का गम्भीर अध्ययन पाठकों को मिलेगा। 'बड़नकी' तथा 'ठकुरानी' शीर्षक रचनाओं में एक ओर पाठक राजपूताने के 'ठाकरों' तथा जागीरदारों के नारकीय जीवन की झलक देखेंगे तो दूसरी ओर

नारी-हृदय की लालसा तथा स्त्रीत्व के निखरे हुए स्वरूप का उन्हें दर्शन होगा ; 'विधवाश्रम' शीर्षक कहानी में कला का अभाव होते हुए भी पाठकों के सामने एक ऐसा बीभत्स दृश्य उपस्थित होगा, जिसकी शिकार आज अधिकांश महिला-नामधारिणी संस्थाएँ हो रही हैं। 'पुरुषत्व' शीर्षक कहानी में कला का जो प्रस्फुटित स्वरूप हमारे सामने उपस्थित होता है, उसके जोड़ की कहानी बहुत कम देखने में आई है।

कतिपय अन्य कहानियाँ देने का भी मेरा विचार था पर काग़ज़ आदि के अभाव के कारण ऐसा नहीं किया जा सका। कर्मचारियों तथा उपयुक्त साधनों की कमी के कारण पुस्तक की छपाई में भी बहुत समय लग गया, त्रुटियाँ भी रह गईं मुझे इसका खेद है।

रैन बसेरा
इलाहाबाद

—आर० सहगल
१-१-१९४७

पुरुषत्व

राजेन्द्र अपनी करुण-कहानी कह चुके, तब उसे सुनकर रामेश्वर ज़ोर से हँस पड़े। इस हास्य से अप्रतिभ होकर राजेन्द्र ने उधर से मुँह फेर लिया।

रामेश्वर बोले—राजेन्द्र बाबू! हिकमत सीखकर ही हकीमी करना उचित है। जिस विद्या को तुम जानते ही नहीं, उसमें टाँग क्यों अड़ाते हो और फिर बेवक़ूफ़ बनने पर बिगड़ते क्यों हो?

राजेन्द्र ने कहा—क्या यह भी कोई विद्या है, जो सीखनी पड़ेगी?

"अवश्य"

"और उसका कॉलेज कहाँ है?"

"खुला हुआ विश्व ही उसका कॉलेज है, आत्मवेदना और सहृदयता

तथा स्थैर्य उसकी पाठ्य पुस्तकें हैं। जीवन के सम्मुख हठात् आ जाने वाली छोटी-बड़ी घटनाएँ उसके पाठ हैं, जिन्हें मनुष्य को संयमपूर्वक पढ़ना उचित है!"

"यह खूब रही। यह पाठ भी इस तरह पढ़ा जायगा, इसका तो कभी ख़्याल भी नहीं किया था। अब कॉलेज छोड़ने और विद्यार्थी-जीवन को भूल जाने पर इस विस्तृत विश्व को किस तरह पढ़ा जाय? कोई जीता-जागता गुरु भी तो दृष्टि नहीं पड़ता।"

रामेश्वर ने गम्भीरता से कहा—ऐसी ही इच्छा है तो प्रारम्भिक पाठ तो मैं ही पढ़ा दूँगा।

"अच्छी बात है, आज ही से सही। पर कुछ फ़ीस-वीस······"

"समस्त आशा और अभिलाषाओं का बलिदान। क्या तुममें इतना साहस है?"

"साहस?"

रामेश्वर ने घूरकर मित्र को देखा—"हाँ साहस! इस दुरूह विद्या की फ़ीस इतनी ही अधिक है।"

"अच्छी बात है। अब पाठ शुरू हो, मुझ में बहुत साहस है।"

"न भी होगा, तो करना पड़ेगा। अच्छा सुनो—पहले यही बात विचारनी चाहिए, कि स्त्रियाँ पुरुषों से क्या चाहती हैं।"

"क्या चाहती हैं?"—राजेन्द्र ने व्यग्र होकर पूछा।

योग के गहन सूत्र की तरह रामेश्वर ने कहा—

"पुरुषत्व"

"मैं समझ गया।"

"मुझे भय है, तुम नहीं समझे। पुरुष क्या वस्तु है, यह भी तुम्हें समझने की ज़रूरत है।"

"क्या मैं पुरुषत्व को भी समझने की योग्यता नहीं रखता ?"

"जो पुरुष पुरुषत्व को समझता है, वह कभी इन करुण-कहानियों का दयनीय पात्र नहीं बनता।"

"तब वह पुरुषत्व क्या वस्तु है ?"

"पुरुषत्व वह वस्तु है, जिसका स्त्री के शरीर, स्वभाव, जीवन-निर्माण और उसके स्त्रीत्व में नितान्त अभाव है। और उसके बिना स्त्रीत्व उतना ही बेस्वाद है, जितना लवण के बिना रसोई।"

"किन्तु उसकी रूप-रेखा क्या है ?"

"केवल भाव-गम्य, और उसका प्रभाव अमोघ है कोई स्त्री उसके सम्मुख सीधी खड़ी रह ही नहीं सकती।"

"किन्तु वह अत्यन्त निष्ठुर और बड़ी गर्वीली है।"

"यह सम्भव ही नहीं है।"

"वह निरी पत्थर या इस्पात की बनी हुई है।"

"स्त्रियाँ इन वस्तुओं की बनाई ही नहीं जातीं।"

"तुम निश्चय ही उसके सम्मुख जाकर लज्जित और विफल होओगे।"

"यह प्रकृति के सर्वथा विपरीत बात है।"

"तब मेरी-तुम्हारी बाज़ी रही, अगर तुम उसका गर्व भञ्जन कर सको, उसे वश में ला सको, तो मैं १० हज़ार रुपए हारा।"

"देखता हूँ, तुममें साहस का उदय हो रहा है। अस्तु, यद्यपि किसी स्त्री को वश में लाने के लिए इतना आतुर होना 'पुरुषत्व' को न शोभा देने

वाली बात है, पर पुरुषत्व का अर्थ अब तुम्हें सप्रयोग समझाना पड़ेगा। मुझे तुम्हारी चुनौती स्वीकार है। मैं आज ही रात को वहाँ चलूँगा, मगर तुम्हें मेरी आज्ञा के सर्वथा अधीन रहना पड़ेगा।"

"मुझे मञ्जूर है।"

दोनों मित्र विदा हुए।

२

उसका नाम था हीरा। रूप की हाट में उसके चढ़ते दिन थे। डेरेदार, ठिकाने की वेश्या थी। उसकी माँ ने गाने-बजाने, अदब-क़ायदे की वेश्या-वृत्ति-सम्बन्धी शिक्षा के सिवा, उसे अङ्गरेज़ी और हिन्दी-उर्दू की भी कुछ शिक्षा दी थी। लाखों की सम्पदा उसकी माँ कमाकर जवानी से उतरी थी। उसके बाद वह नायिका के पद पर ३-४ यौवनों का सम्पूर्ण सौदा कर चुकी थी। शहर की हवेली, बीच चौक में, अपनी शान नहीं रखती थी। नगर के बाहर की कोठी नवाबी ठाठ से सजी थी। हीरा जिस रङ्ग की पोशाक पहनकर उतरती थी, उसी रङ्ग के जवाहरात से जड़े गहने पहनती और उसी रङ्ग से रँगी मोटर में बैठती। नौकरों और ड्राइवरों की वर्दी भी उसी रङ्ग की होती थी। सन्ध्या के समय हीरा के रूप और ठाठ पर नगर की आँखें सड़कों पर बिछी रहती थीं। साधारण ज़मींदार तक वहाँ पहुँचने की हिम्मत न करते थे, सर्व-साधारण की बीत तो दूर है। वेश्या ज़रूर थी; अस्मत-फ़रोश थी, परन्तु कितनी मँहगी? कितनी दुर्लभ? कितनी नफ़ीस, कि शहर में प्रायः सभी की ज़बान पर, चाहे जब, हीरा उछलने लगती थी।

हीरा की उम्र का १७ वाँ साल जा रहा था। उसका रङ्ग मोती के समान स्वच्छ और पानीदार था, गालों की सुर्खी—मानों छूते ही खून टपक

पड़ेगा, होंठ और आँखें मानों परस्पर स्पर्द्धा करती थीं। अमृत और हलाहल-विष का आँखों से अटूट झरना झरता ही रहता था। जो एक बार देखता था, मर जाता और क्षण-भर में ही जी जाता था। धवल दन्त-पंक्ति की बहार उन रस-भरे उत्फुल्ल होंठों के अरुण वर्ण के बीच कैसी मोहक, कैसी प्यारी लगती थी? गर्दन और वक्षस्थल मानों इटली के किसी कारीगर की संगमर-मर पर अमर करामात थी। बढ़िया ईरानी क़ालीन पर बैठकर बिजली के दहकते प्रकाश में—बिजली के पङ्खे के नीचे अपने महीन, सादे, उज्ज्वल परिधान में जब वह गाने बैठती थी, और उस हंस के समान शुभ्र कण्ठ से इन क़व्वाली और ग़ज़लों के स्थान पर जब विशुद्ध स्वर, ताल, लय मूर्छना-युक्त सङ्गीत-लहरी का स्रोत बहता था, उस समय की बात क्या कही जाय? उस उमड़ते रस-समुद्र में पहले वह स्वयं डूबती, तब अर्द्ध-निमीलित नेत्र, कम्पित कण्ठ-स्वर, फड़कते होंठ और अलसता से अस्त-व्यस्त बिखरती हुई देह—किस मर्द को मर्द बना रहने दे सकती थी?

ऐसी ही वह अप्रतिभ रूप-गुण-सम्पन्ना, राज-महलों में भी दुर्लभ स्त्री-रत्न, वह वेश्या-पुत्री थी, जिससे निराश होकर राजेन्द्र, आत्मघात की अभिलाषा मन में सञ्चित कर रहे थे और उनके मित्र जिसे विजय कर लेने का बीड़ा उठा चुके थे।

ये दोनों ही मित्र नगर के गण्य-मान्य, धनी तथा अपार सम्पत्ति के स्वामी थे। दोनों की ही सज्जनता में कलाम न था, पर युवक राजेन्द्र, बाज़ार के पत्ते चाटने के शौक़ीन थे। उनके मित्र रामेश्वर उनसे उम्र में कुछ बड़े थे, परन्तु विचारवान्, गम्भीर और चरित्रवान् व्यक्ति थे।

एक चरित्रवान् व्यक्ति, जो स्त्रियों के सम्मुख अपने को पुरुष समझता

हो, उस पुरुष की समझ में आ ही नहीं सकता था, जो प्रति क्षण स्त्री-मात्र के लिए दास बना रहने का अभिलाषी हो। और यही दोनों के जीवन की ऐसी विभिन्न दिशाएँ थीं, जहाँ बहुधा दोनों मित्र टकराया करते थे।

इस बार रामेश्वर ने वेश्या के घर जाना स्वीकार करके राजेन्द्र को आश्चर्य-चकित कर दिया। वह यह कौतूहल भी देखना चाहता था, कि समस्त नगर की स्पर्द्धा और अभिलाषा की वस्तु हीरा को यह व्यक्ति और ऐसी कौन वस्तु देकर वश करेगा, जो मैं न दे सका था; और—और वह "पुरुषत्व" की कैसी विचित्र व्याख्या करेगा। इसी विचार से एक प्रकार प्रसन्न-चित्त राजेन्द्र घर लौटा।

३

उसी ज्वलन्त प्रकाश में हीरा साजिन्दों सहित बैठी थी। सामने केवल दोनों मित्र थे। राजेन्द्र के अनुरोध से कोठे के द्वार बन्द कर दिए गए थे।

हीरा को देखकर रामेश्वर के चित्त में एक अपूर्व भाव उत्पन्न हुआ! हाय! सर्प की यह सौन्दर्य! उन्होंने क्षणभर में उस रूप को हृदयङ्गत कर; एक बार कमरे पर दृष्टि डाली, और एक मसनद के सहारे उढ़क बैठे।

सङ्गीत-लहरी उठी और गिरी, जीवन आया और गया—राजेन्द्र लोटन-कबूतर हो रहा था, मिनिट-मिनिट पर नोट फेंक रहा था। पर रामेश्वर अचल-निर्विकल्प प्रतिमा की तरह हीरा के मुख पर दृष्टि दिए सङ्गीत-सुधा पी रहे थे। उनके नेत्रों में कौतूहल नहीं, उन्माद नहीं, औत्सुक्य नहीं, विनोद नहीं, उदासीनता नहीं, मोह नहीं। साथ ही होंठ में हास्य नहीं, स्पन्दन नहीं।

बालिका वेश्या-पुत्री ने यह देखा—समझा, धीरे-धीरे वह इस वज्र-पुरुष

की ओर आकर्षित हुई। वह उसके होठों में एक मुस्कान देखने की अभिलाषा लेकर और भी यत्न, और भी कौशल, और भी मनोयोग से अपनी कलाओं का विस्तार करने लगी। उसके ललाट पर पसीना हो गया। वह थक कर हाँफने लगी। उसने लज्जित होकर गाना बन्द कर दिया—जीवन में उसे पहली बार ही ऐसा नवीन पुरुष दिखा, जो उसे देखकर मरा नहीं, और सुनकर जिया नहीं!

वह अपने वस्त्र सँभाल चाँदी की तश्तरी में पान लेकर उठी, प्रथम रामेश्वर के सामने अदब से झुककर तश्तरी की। रामेश्वर ने पान उठाया और सौ रुपए का नोट तश्तरी में फेंक दिया।

क्षणभर को हीरा अवाक् हुई। उसने एक ही क्षण में रामेश्वर को, नायिका को और तश्तरी को देखा, एक बार वह झुकी और आगे बढ़ी।

रामेश्वर उठ खड़े हुए। राजेन्द्र भी उठे। उस दिन फिर हीरा और नहीं गा सकी।

४

दो सप्ताह बीत गए। हीरा को नित्य ही गाना पड़ता था, परन्तु उसका उल्लास और मग्न होना कहीं चला गया था। उसका मन उदास और चञ्चल रहता था। बहुधा वह गाते-गाते बहुत ही निरुत्साह हो जाती थी—कभी-कभी वह गाना बन्द कर एकदम ऊपर जाकर पड़ रहती थी। इस नई परिस्थिति का कारण वह स्वयं नहीं जानती थी; मानों कोई एक नई ठोकर उसके हृदय को लगी थी। किसी अतर्क्य शक्ति से रामेश्वर की मूर्त्ति दिनभर में लाखों बार उसके सम्मुख खड़ी हो जाती थी। हीरा को उस मूर्त्ति पर कितना क्रोध, कितनी विरक्ति और कितनी अवहेलना थी—परन्तु वह मूर्त्ति

मानों उसके नेत्रों में तप्त शलाका की तरह घुस गई थी। वह कभी-कभी बहुत ही झुँझला उठती थी। वह सोचती थी, कैसा वह आदमी था—मानों गूँगा और बहरा, बिलकुल अन्धा, मूर्ख, गँवार! किन्तु? किन्तु वह नोट? नोट न था, रद्दी कागज़ का टुकड़ा था। तब क्या वह कुछ और ही था? क्या वह इस रूप को सचमुच ठुकरा गया? मेरे पसीने पर भी उसकी मूँछ का एक बाल न खिला? वह एक बार भी न हँसा, न हिला, न बोला; वह मनुष्य न था। × × × हीरा सोचने लगी, क्या अब वह न आएगा? मैं उसे भायी ही नहीं, यही तो बात है! न मेरा रूप, न सङ्गीत, न और कुछ ही उसे पसन्द आया; पर फिर वह नोट क्यों फेंक गया? और मैंने ही क्यों ले लिया? जिसे मैं पसन्द ही नहीं, जो मुझ पर—मेरी कला पर रीझा ही नहीं, उसका रुपया मैंने क्यों लिया? हाय! वह मुझे हरा गया, मेरा अपमान कर गया। हीरा गुस्से से होठ चबाकर उठी, पूरे—क़द्दे-आदम—शीशे के सामने उसने एक बार अपने अनिन्द्य यौवन की परछाईं को देखा, और फिर वह रोती हुई कुर्सी पर बैठ गई। उसने निश्चय कर लिया, बदला लूँगी।

राजेन्द्र आते ही हीरा के अत्यन्त निकट बढ़ आए। उन्होंने उसे उदास देखकर कहा—यह क्या? क्या आज बादल बरसने वाले हैं।

हीरा ने सिर उठाकर राजेन्द्र को देखा, सँभलकर बैठी और बोली—आप क्या खेती बोकर आए हैं, जो बरसने की इतनी इन्तज़ारी में हैं?

राजेन्द्र ठण्डे पड़ गए। उन्होंने कहा—आज तो बहुत ही नाराज़ मालूम होती हो, क्या मेरी कुछ ख़ता हुई?

"यह खूब, बरसते-बरसते आपको नाराज़ी की भी आँच लग गई।"

कुछ भी न समझकर राजेन्द्र ज़ोर से हँस पड़े। हाय! कितना पुरुषत्व-हीन हास्य था वह? वे और नज़दीक खिसककर हीरा से सटकर बैठने लगे। हीरा ने दूर हटते हुए कहा—

"हाँ, आपके उन दोस्त का क्या हाल है, फिर कभी तशरीफ़ नहीं लाए? शायद गाना पसन्द नहीं आया। आजकल के लोग गुणों की क़द्र कम करते हैं—समझते भी कम हैं।" पिछली पंक्ति कहते-कहते हीरा की आँखों में सौ रुपए का नोट आ खड़ा हुआ, वह स्वयं ही अपनी बात पर शङ्कित हो गई।

राजेन्द्र का उधर ध्यान न था, वे बोले—उस दिन के बाद उन्होंने कुछ चर्चा ही नहीं चलाई, मगर गाना वे नहीं समझते, यह न कहना—वे स्वयं बहुत अच्छे गवैये हैं, सितार और दिलरुबा बजाने में शहर भर में उनकी जोड़ का कोई नहीं। आज मैं उन्हें लाऊँगा।

हीरा विकल हो उठी! आह! उस दिन के बाद फिर चर्चा ही नहीं, मुझे धिक्कार है; यह रूप, यह यौवन, सब धिक्कार—धिक्कार! हीरा इन तूफ़ानी विचारों को ज़ब्त न कर सकी। वह उठ खड़ी हुई और सोचने लगी, तब उस आदमी को प्रति क्षण स्मरण करके मैंने अपना ही अपमान किया। उसने घृणा-मिश्रित स्वर में कहा—जिसकी मर्ज़ी हो वह आवे या न आवे, हम लोग किसी को बुलाने तो नहीं जाते? राजेन्द्र फिर रात को उन्हें लाने का वादा करके चल दिए।

हीरा ने पक्का इरादा कर लिया कि आज वह उस मग़रूर पुरुष का

अवश्य अपमान करेगी। परन्तु ज्यों-ज्यों दिन ढलता गया, हीरा को अपने शृङ्गार की चिन्ता बढ़ती गई। वह व्याकुल होगई। वह कौन-सी पोशाक पहने, यह कुछ निर्णय ही न कर सकी। उसने कई पोशाकें पहनीं और उतारीं, कई ढङ्ग से बालों का जूड़ा बाँधा और खोला, कहीं इत्र लगाए और मुँह धोया; पर किस रूप में, किस रङ्ग में, किस साज में आज वह अपने यौवन को प्रकाशित करे—वह निर्णय न कर सकी। उसने हठात् माँ से पोशाक का प्रस्ताव किया।

बुढ़िया अवाक् रह गई। पोशाक का क्या मतलब? आज क्या कहीं जाना है?

हीरा झेंप गई। वह अपनी कोठरी में भाग गई।

सन्ध्या हुई। अन्धकार के हृदय को विदीर्ण करके हीरा ने बिजली का प्रकाश कमरे में फैलाया; ताज़े फूलों का एक बड़ा-सा गजरा गले में डाल, वह उस छकवा भर रूप और यौवन को लेकर उस प्रकाश के हृदय में सचमुच हीरे ही के समान विराजमान हुई।

दोनों मित्रों ने घर में प्रवेश किया। मन्त्र-मुग्धा सर्पिनी की तरह हीरा खड़ी हो गई। मित्र बैठ गए। हीरा खड़ी रही, रामेश्वर ने क्षण भर उसके मुख की ओर देखकर कहा—बैठिए।

हीरा बैठ गई। गर्व और उल्लास उसके यौवन को अरक्षित छोड़ भागा—वह विनय और सङ्कोच से सङ्कुचित यौवन को अपनी वेश्या-शक्ति के बल पर यथासम्भव चैतन्य करके गाने के आयोजन में लगी।

रामेश्वर ने बाधा देकर कहा—कष्ट न कीजिए, मुझे आपकी माता जी से कुछ बातें एकान्त में करनी हैं। क्षमा कीजिएगा।

हीरा अन्यमनस्का हो, उठकर बाहर चली गई। हाय रे आज का शृङ्गार!

नायिका ने सुना, चौंकी और गम्भीर हुई। कुछ ही मिनिट में वह एकान्त वार्ता समाप्त हुई। हीरा दो हज़ार रुपए मासिक पर रामेश्वर की नौकर हो गई!!

५

बिना उससे पूछे ही उसका सौदा हो गया, यह सुनकर हीरा बहुत ही क्रुद्ध हुई। उसने धरती में पैर पटक कर कहा—वह पुरुष? वह नीरस, गँवार, गूँगा, बहरा पुरुष? उसकी यह हिम्मत? मैं इससे बदला लूँगी, मैं इसका हर तरह अपमान करूँगी। वह उसी क्रोध में भरी नायिका के पास गई। नायिका ने वेश्या-धर्म की कठोर मर्यादा का विस्तृत वर्णन करके उसे शान्त किया। हीरा को उसी दिन मालिक की सेवा में चली जाना पड़ा।

हीरा के लिए एक नए बँगले की आयोजना की गई। उसमें चार दासी, दो दास और एक प्रबन्धक रख दिया गया। पोशाक और खाने-पीने की वस्तुओं की गिनती न थी। कमरों में बहुमूल्य वस्तुओं की सजावट का पार न था। शृङ्गार और ऐश्वर्य के नाते अटूट सम्पदा जो कुछ खरीद सकती है, वह सब वहाँ प्रस्तुत था। हीरा की रुचि और अभ्यास के अनुकूल आभूषण, मोटर और अन्य सामान प्रथम ही से उपस्थित कर दिए गए थे। उस राजमहल-सदृश बँगले में आकर हीरा चकित, भीत-विमूढ़ बनी खड़ी रही। यह सब कुछ हो सकता है, इसकी उसे कल्पना भी न थी, परन्तु इस समस्त वैभव के पीछे जो मूर्त्ति छिपी हुई है, वह—वह निर्मम, रसहीन मूर्त्ति? अरे! × × × हीरा सोचने लगी, क्या वह मूर्ख, बेतमीज़ और नीरस

2452

है ? ना ना, यह तो सम्भव ही नहीं, यह सब कुछ तो कुछ और ही मालूम होता है। परन्तु चाहे जो कुछ भी हो, मैं उसका अपमान करूँगी। मैं कभी उसके अधीन न होऊँगी। सन्ध्या हुई—बिजली के आलोक से बँगला इन्द्र-भवन हो गया। मानों अनगिनत आलोकित नक्षत्र के नीचे हीरा छिप रही थी। उसने सहसा मोटर आने का शब्द सुना। उसने बलपूर्वक अपनी प्रतिज्ञा को दुहराया—न बोलूँगी, न बोलूँगी, न बोलूँगी।

स्वयं मान करना और औरों का मान भञ्जन करना हीरा का व्यवसाय था। वह पुरुष, जो नारी-हृदय का नहीं, नारी-शरीर का भूखा है—हीरा के द्वार पर खड़ा होता और धरती तक झुकता है। यह दृश्य हीरा के नेत्रों को स्वाभाविक था। पुरुष की वह तस्वीर हीरा की चिर-परिचिता थी, जो हीरा के लिए प्यासी छटपटा रही थी। किन्तु उसी पुरुष-छाया के नीचे पौरुष का कुछ और भी रूप रहता है, यह हीरा को मालूम न था।

अपने अभ्यास के अनुसार उससे भी अधिक, बहुत अधिक तनकर हीरा उस शत्रु-पुरुष को, जिसने उसके स्त्री-शरीर की ज़रा भी परवाह न की थी, परास्त करने—तनकर अपनी सम्पूर्ण शक्ति लेकर तैयार हो गई। आधा घण्टा व्यतीत हो गया। हठात् मोटर के जाने का शब्द सुनकर वह चौंकी। उसने खिड़की से देखा, वही वज्र-पुरुष तीर की तरह उड़ा जा रहा है। हीरा क्रुद्ध सर्पिनी की तरह फुफकार मारकर, पैर पटक-पटककर ज़ोर से कमरे में घूमने लगी। समस्त दर्प, शृङ्गार किया हुआ रह गया, शत्रु सामने ही न आया। परन्तु हीरा पराजित योद्धा की तरह विचलित हो गई। उसने दासी को बुलाकर पूछा :

"क्या बाबू साहब आए थे ?"

"जी हाँ।"

"किसलिए?"

"सरकार को कुछ चाहिए तो नहीं, यह देखने।"

"कुछ कहते थे?"

"कहते थे, कि मालकिन को कोई कष्ट न हो और उनका हुक्म फ़ौरन् तामील किया जाय।"

हीरा ने गुस्से से होठ चबाकर कहा—"हुक्म फ़ौरन तामील किया जाय?"

"जी हुज़ूर"

"मेरा हुक्म है, यह शख्स बँगले में न घुसने पाए।"

दासी मुँह ताकने लगी। हीरा ने डपटकर बाहर जाने का हुक्म दिया। दासी के जाते ही हीरा पलँग पर गिरकर फूट-फूटकर रोने लगी। उस दिन रातभर हीरा सो न सकी।

६

कई दिन बीत गए। रामेश्वर हीरा की आज्ञानुसार बँगले में नहीं आते। वे प्रति दिन नियमित समय पर मोटर में आते और बँगले के कम्पाउण्ड के बाहर मोटर ही में बैठे-बैठे हीरा की कुशल ले जाते थे।

उस क्षण की बाट हीरा प्रातःकाल से सन्ध्या तक देखा करती। मोटर की शब्द-ध्वनि मानों जगत् में एक ध्येय वस्तु थी। उनके आने से घण्टों प्रथम वह खिड़की में, पर्दे की ओट में, खड़ी हो जाती। प्रथम वह छिपकर खड़ी होती, धीरे-धीरे प्रकट होने लगी। अब वह बिलकुल खुली खिड़की में सामने खड़ी होती थी। प्रतिदिन नया शृंगार, नई पोशाक, नया केश-विन्यास होता था। पर हाय रे पुरुष-पाषाण! एक क्षण को भी वह ऊपर

दृष्टि करके उस जीवित आलोक को देखता न था। किस निर्जन वन में हीरा ने रूप और यौवन की हाट लगाई !!

धीरे-धीरे हीरा को वहाँ रहना असह्य हो गया। यह भी कोई बात है, वे आते हैं, खबर ले जाते हैं, रानियों के ठाठ और सुख दे रक्खे हैं। सब कुछ दे ही जाते हैं, माँगते कुछ नहीं। हाय ! मैं इनका कब अपमान करूँ ? कैसे करूँ ? क्या इसे मुझसे कुछ भी नहीं लेना है ? मेरे पास क्या इस वज्र-पुरुष को देने योग्य कुछ नहीं है ? यह रूप, यह यौवन, यह शरीर, यह शृङ्गार—उफ़ ? नगर में इसके कितने दाम हैं। मगर दाम ? दाम—दाम की बात याद करके वह सोचने लगी—वह सोचने लगी, दाम तो इन्होंने भी दिए हैं—इतना खर्च, इतना धन-व्यय, इतना यत्न ! तब फिर यह किसलिए ? इस सौन्दर्य को सुखाने या सड़ाने के लिए ? हीरा विचार-सागर में डूबने-उतरने लगी। पर थाह न मिली।

दस दिन और व्यतीत हो गए। हीरा के अस्वस्थ होने का समाचार पाकर रामेश्वर नगर के दो प्रमुख डॉक्टरों को लेकर दौड़े। रामेश्वर बँगले के बाहर ही मोटर पर बैठे रहे। हीरा पलँग पर पड़ी थी। डॉक्टरों ने आते ही यन्त्र सँभाले।

हीरा ने उत्तेजित होकर कहा—"आप लोगों के कष्ट की ज़रूरत नहीं है, कृपाकर आप जाइए ?"

डॉक्टरों ने उसे समझाना चाहा। उसने झल्लाकर कहा—"वे कहाँ हैं ? हाय वे कहाँ हैं ?"

रामेश्वर ने धीरे-धीरे कमरे में प्रवेश किया। हीरा ने उधर से मुँह फेर लिया।

रामेश्वर ने कहा—"ज़रा आप इन्हें देख लेने दें।"

"आप इन्हें विदा करें।"

"किन्तु × × ×"

"विदा कर दें।"

रामेश्वर ने डॉक्टरों को विदा कर दिया।

रामेश्वर ने पूछा—"शायद आपकी तबीयत अब अच्छी है, ज़रा आराम करने से ठीक हो जायगी।"

हीरा बोली—"नहीं!" वह आँख भी न मिला सकी। उसके ज़रा होठ फड़क कर रह गए।

रामेश्वर चलने को उद्यत हुए।

हीरा ने उद्विग्न होकर कहा—"ठहरिए!"

रामेश्वर बैठ गए। वह उठ बैठी, फिर खड़ी हो गई। रामेश्वर एकटक उसके मुख को ताकते रहे। हीरा आगे बढ़ी। रामेश्वर उठकर पीछे हटने लगे। हीरा मानों होश में न थी। वह सोच रही थी—क्या पुरुष-स्त्री को सम्पदा और ऐश्वर्य देकर पुरुषत्व से उऋण हो सकता है? स्त्री को पुरुष से जो कुछ चाहिए, उसके लिए भी क्या कोई पुरुष नारी को इतना तरसा सकता है? हीरा का कण्ठ अवरुद्ध था। वह टूटते शब्दों में, अश्रु-धारा में डूबती हुई बोली—"आप—आप क्या थोड़ा विष मुझे नहीं दे सकते?" रामेश्वर ने करुणा, स्नेह और उदारता से कहा—"आप यह क्या कह रही हैं? आपके प्राणों के लिए मेरे प्राण, और आपके जीवन के लिए मेरा जीवन अभी हाज़िर है।"

"वही तो, वही तो, वही तो मुझे दो। ये समस्त ठाठ, कोठी, बँगले,

अटारी, महल—सब में आग लगा दो। इस अधम शरीर के लिए आपने इतना किया; पर ये प्राण सूखे जाते हैं—जीवन मरा जाता है; वही मुझे दो—अपने प्राण और अपना जीवन। मैं उसी की प्यासी हूँ—इतना क्यों तरसाते हो?"

निर्दयी, निष्ठुर, हीरा ने आवेश में ये शब्द कहे। वह रामेश्वर पर झुक पड़ी, ज़ोर से उसकी क़मीज़ फाड़ डाली! फिर अचेत होकर धरती पर गिर गई।

रामेश्वर धैर्य-च्युत न हुए। उन्होंने धीरे से हीरा को उठाकर कोच पर लिटा दिया। होश में आने पर हीरा झपटकर रामेश्वर से लिपटने को दौड़ी। रामेश्वर ने ज़रा हटकर मधुर-स्वर में कहा—"कृपाकर सावधान होइए! आपको क्या कष्ट है?"

हीरा खसककर रामेश्वर के पैरों में आ पड़ी। वह रो रही थी। अनन्त रुदन उमड़ रहा था, बाँध टूट गया था। अब हीरा नहीं रो रही थी, नारी-हृदय रो रहा था।

रामेश्वर ने कहा—"आप क्या चाहती हैं? कहिए तो, मैं शक्ति भर आपकी सेवा करूँगा।"

"मैं क्या चाहती हूँ, यह आप पूछते हैं? स्त्रियाँ पुरुषों से क्या चाहती हैं—यह आप पुरुष होकर नहीं जानते। आप ऐसे निष्ठुर पुरुष × × ×" हीरा बीच ही में रह गई। आवेश से उसके हाथ तथा होठ काँप रहे थे।

रामेश्वर ने संयत भाषा में कहा—मैं अच्छी तरह जानता हूँ, कि स्त्रियाँ पुरुषों से क्या चाहती हैं। परन्तु आप स्त्री नहीं, वेश्या हैं; यह दुखद-सत्य

मुझे कहना ही पड़ा। वेश्या को जो मूल्य देना होता है ; मैं शक्ति भर दे रहा हूँ।

हीरा कुछ भी न समझी ; वह बोली—"क्या वेश्याएँ स्त्री नहीं होतीं ?"

"नहीं"

"कैसे ?"—हीरा ने गर्दन उठाकर पूछा।

रामेश्वर कहने लगे—"स्त्री जगत् की एक पवित्र स्वर्गीय ज्योति है। वह पुरुष शक्ति के लिए जीवन-सुधा है। स्त्री के बल पर पुरुष असंख्य उत्तरदायित्व का भीषण से भीषण भार सहन करके भी जीवित रह सकता है। वह स्त्री दया, प्रेम, पवित्रता, दान, करुणा और कोमलता की मूर्त्ति होनी चाहिए। त्याग उनका स्वाभाव, प्रदान उनका धर्म, सहनशीलता उनका व्रत और प्रेम उनका जीवन है। परन्तु वेश्या जगत् की एक विकृत वस्तु है। देखने में मोहक और कोमल, किन्तु वास्तव में हलाहल विष; अपहरण उनका व्यवसाय, छल उनका स्वाभाव, पाप उनका जीवन और पतन उनका मार्ग है। स्त्री जिस वस्तु को शरीर के टुकड़े-टुकड़े होने पर भी किसी को अर्पण नहीं कर सकती, वेश्या उसे खुले बाज़ार टके सेर बेचती है। जानती हो; वह क्या वस्तु है ?"

"क्या वस्तु है ?"

"अस्मत, हाय! वह अस्मत, जिसका वास्तविक मूल्य इस पृथ्वी पर है ही नहीं, और विधाता ने स्त्री समझ कर वह दी थी। उसे तुम—वेश्याएँ—कोढ़ी, कलङ्की, पतित—चाहे जिसे भी बेच देती हो। ताँबे के टुकड़ों में इतनी शक्ति हम स्वार्थी पुरुष भी कभी नहीं अनुभव कर पाते।"

इतना कह कर रामेश्वर क्षण भर चुप रहे। हीरा चुपचाप निश्चल पैरों में नीचा सिर किए पड़ी थी। रामेश्वर ने अतिशय करुण-स्वर में हीरा के सिर पर प्यार से हाथ रखकर किञ्चित्, आकाश की ओर मुख उठाकर, कहा—"अभागिनी नारी! इस शरीर का समर्पण तुम कमीने धनके बदले में, चाहे भी जिस व्यक्ति को, कैसे कर सकती हो? हाय! जैसे विष-पुष्प के सूँघते ही मृत्यु आती है, वैसे ही विष-पुष्प तुम हो? पुरुष जो महान् पौरुष के बल पर मनुष्य समाज के प्रारब्ध का निर्माता है, कैसे निकृष्ट होकर वेश्या का दास बन जाता है। तुम वेश्या × × ×"

हीरा ने नेत्रों से स्वच्छ मोती के समान दो आँसू टपका कर और ऊँचा सिर उठा कर कहा :

"आप मुझे वेश्या न कहें?"

रामेश्वर अटक कर बोले—"तब क्या कहूँ?"

"मैं स्त्री हूँ।"

रामेश्वर की आँखों में आँसू भर आए, और टपक गए। वे चुपचाप कुछ देर तक हीरा के सिर पर हाथ धरे बैठे रहे। फिर बोले—"मैंने तुम्हें देखते ही समझ लिया था, कि तुम स्त्री-रत्न हो; पर तुम्हारी चाहना उस वस्तु की न थी, जो किसी स्त्री की होनी चाहिए। वेश्या होना स्त्रीत्व से पतित होना है। वेश्या बन कर कोई स्त्री तो रह ही नहीं सकती। मैंने यह सोच कर, कि वेश्यावृत्ति कभी तो मरेगी और नारीत्व उदय होगा, इस देव-तुल्य शरीर को वेश्या के लिए जो मूल्य देना था, देकर ले आया। मैंने निश्चय किया था, वेश्या-पुत्री हो तो क्या, वेश्या कभी न बनने दूँगा। पर क्या सचमुच तुम स्त्री बनना चाहती हो?"

"अवश्य, परन्तु × × ×"

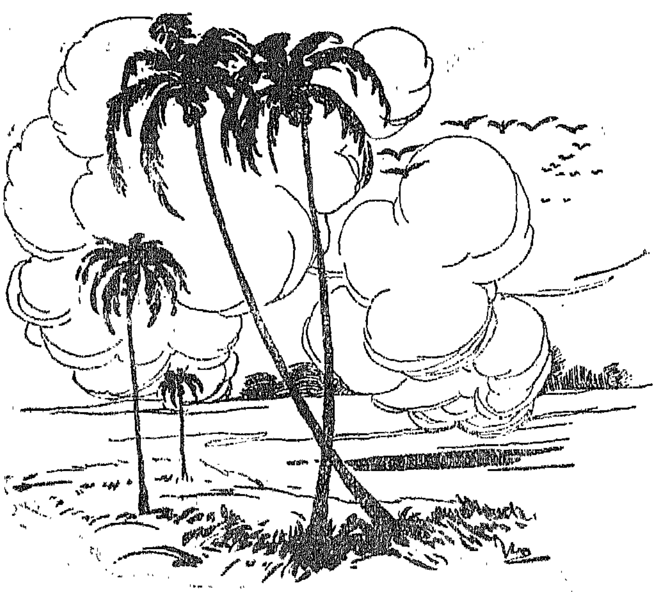
"परन्तु क्या ?"—हीरा ने बड़ी-बड़ी आँखें उठाकर देखा, फिर नीचे देखने लगी।

रामेश्वर बोले—"बोलो, बोलो।"

हीरा ने अपरिमित अनुनय नेत्रों में भरकर कहा—"मालिक मेरे! क्या स्त्री बनकर मुझे पुरुष प्राप्त होगा ?"

रामेश्वर घबराए। हीरा ने रामेश्वर का पल्ला पकड़ लिया। उसने कहा—"मैं पुरुष के लिए ही स्त्री बनती हूँ।"

रामेश्वर तन न सके। उन्होंने कहा—"प्रिये स्त्री ही के लिए पुरुष है।"



विधवाश्रम

एक गन्दी और तङ्ग गली के भीतरी छोर पर; एक पुराने पक्के दुमञ्ज़िले मकान के भीतरी हिस्से में, एक कोठरी-नुमा कमरे में, ४ मूर्तियाँ एक टेबिल पर बैठी धीरे-धीरे बातें कर रही थीं। यह मकान वास्तव में विधवाश्रम था और यह मनहूस कमरा था उसका दफ़्तर।

टेबिल पर कुछ मैले रजिस्टर, पुरानी पुस्तकें, दो-एक साप्ताहिक पत्र, कुछ काग़ज़ और कुछ चिट्ठियाँ अस्त-व्यस्त पड़ी थीं।

चारों व्यक्तियों में जो प्रधान पुरुष थे, उनकी उम्र कोई ५० वर्ष की होगी। उनका रङ्ग क़तई ताँबे की भाँति, चेहरा साहबनुमा, सफ़ाचट, बदन गठीला, क़द ठिगना, चाल बिल्ली के समान और दृष्टि साँप के समान थी। हृदय कैसा था, इसका भेद वह जाने, जो वहाँ की सैर कर आया हो। आप

विशुद्ध खद्दर पहनते थे और किसी को सम्मुख देखते ही मुस्कुरा कर तिरछी गर्दन करके दोनों हाथ जोड़ कर नमस्ते करते थे। आपका असली और पुराना नाम तो था सुखदयाल, परन्तु आप बहुतायत से डॉक्टर साहब के नाम से ही पुकारे जाते थे। आपने कब, कहाँ, और कितनी डॉक्टरी पढ़ी, यह जानने का अब कोई उपाय नहीं। एक युग हो गया तभी से आपका यह नाम पेटेण्ट हो गया है। सुना है, बहुत दिन हुए आप किसी गुरुकुल में कम्पाउण्डर थे। वहाँ के रसोइए, कहार और कोई-कोई ब्रह्मचारी भी, आपको डॉक्टर ही कह कर पुकारते थे, तभी से आपका यही नाम पड़ गया।

आश्रम में आने पर आपको तीन नाम और पेटेण्ट कराने पड़े—"पिता जी, अधिष्ठाता जी, और संरक्षक जी।"

चारों धर्मात्मा बैठे धीरे-धीरे कुछ बातचीत कर रहे थे, कि भीतर से एक स्त्री ने आकर कहा—पिता जी! लुगाइयाँ तो दोनों बहुत बढ़िया हैं।

"अच्छा!"

"दोनों की उठती हुई उम्र है, रङ्ग भी खूब निखरा हुआ है, पर दोनों रो बुरी तरह रही हैं।"

"अच्छा, उन्हें कुछ खिला-पिला कर बातचीत से ख़ुश करो, और अलग-अलग कोठरियों में सुला दो"—इतना कह कर पिता जी, उर्फ़ डॉक्टर जी, उर्फ़ अधिष्ठाता जी ने बूढ़े बकरे की तरह दाँत निकाल दिए और अपनी मनहूस आँखों को क्षण भर के लिए सामने बिखरे हुए काग़ज़ों पर से उठा कर बात करने वाली धरमपुत्री (?) की ओर घूर दिया। धरमपुत्री उसी तरह एक कटाक्ष फेंक और दाँतों की बहार दिखाती हुई चल दी।

इस धरमपुत्री की उम्र लगभग ३० वर्ष, रङ्ग कोयले के समान, जिस्म लम्बा, बदन छरहरा और चेहरा पानीदार था। दाँत चमकीले, आँखें तेज़ और चञ्चल तथा वाणी साफ़ और लच्छेदार थी। यही आश्रम की संरक्षिका, इस छोटे से स्त्री-जेलखाने की सुपरिण्टेण्डेण्ट, और इस पाप-महल की सर्वतन्त्र स्वतन्त्र महारानी थी। नाम था प्रेमदेवी।

२

उसी दिन, दिन के ३ बजे विधवाश्रम के बाहरी बैठक-खाने में, जिसे ऑफ़िस कहा जाता था, चार मूर्तियाँ एक टेबिल पर बैठी धीरे-धीरे बात-चीत कर रही थीं। टेबिल पर कुछ मैले रजिस्टर, पुस्तकें, साप्ताहिक पत्र, कुछ कागज़ात और कुछ चिट्ठियाँ पड़ी थीं। चारों पुरुषों में जो प्रधान पुरुष थे—वे ही हमारे डॉक्टर जी थे—वे अपने स्वभाव-सिद्ध ढङ्ग पर गर्दन टेढ़ी किए हाथ में पेन्सिल लिए कुछ भुनभुनाते जाते थे। इनकी बाँई ओर जो व्यक्ति थे, उनका मुँह पिचका हुआ, आँखें गढ़े में घुसी हुईं, लम्बी गर्दन, बड़ी सी नाक थी, सिर पर मैली खद्दर की टोपी थी। ये बड़े ध्यान से डॉक्टर जी की बात में दत्तचित्त हो रहे थे। असल में ये आश्रम के सेक्रेटरी थे। और सिर्फ़ २५) ऑनरेरियम पाते थे। उनके बराबर तीसरे व्यक्ति एक नवयुवक थे। इनकी घिनौनी मूँछें बड़े भद्दे ढङ्ग से मुख पर फैल रही थीं। आँखों में शरारत और चेष्टा में बदमाशी साफ़ झलक रही थी। ये डॉक्टर जी के हुक्म के मुताबिक़ सामने रक्खे हुए, खुले कागज़ों की फ़ाइल में कुछ काट-छाँट कर रहे थे। इन्हें आश्रम से ३०) महीना वेतन भी मिलता था। बेचारों के ऊपर रात-दिन का, आश्रम और उसमें रहने वाली स्त्रियों की रक्षा का असह्य भार था। विवश उन्हें रात को भी नौकरी से फ़ुर्सत नहीं मिलती थी,

हालाँकि आप बहुत कुछ शिकायात किया करते थे—पर इस ग़ैर-फ़ुर्सती में आप कितने खुश थे, सो भगवान जानता है। ये एक तौर से इस मण्डली में गुड़ के चिउँटे हो रहे थे। इनका नाम था गजपति।

इनकी बग़ल में लाला जगन्नाथ बैठे थे। इनका स्याहफ़ाम चेचक से मुँदा मुँह, भद्दी-सी आँखें, नाटा क़द और बात-बात में सनक सी उठना—इनके व्यक्तित्व को सब से पृथक कर रहा था। आपकी उम्र ५० के लगभग थी। आप मुख पर गम्भीरता और भक्ति-भाव लाने के लिए जो चेष्टा प्रायः किया करते थे, उससे ऐसा प्रतीत होता था, मानो आप अभी रो पड़ेंगे। शायद इसी चेष्टा के फल-स्वरूप आपका होंठ नीचे को लटक गया था और चेहरा कुछ लम्बा हो गया था।

लेख को ठीक करा कर डॉक्टर जी बोले—बस अब हिसाब में जो थोड़ी-सी भूल है, उसे तुम ठीक कर करा लेना। परन्तु सुनो—कल ही तो अन्तरङ्ग मीटिङ्ग है, सब काग़ज़ात आज ही रात को तैयार और साफ़ हो जाने चाहिएँ। पीछे का बखेड़ा रहना ठीक नहीं।

"बहुत अच्छा! परन्तु वे दो रुपए, जो कुन्ती की शादी में वसूल हुए हैं, किस मद्द में डाले जायँ?"

"किसी में भी नहीं, अभी उनकी बात छोड़ो, उनका हिसाब मैं पीछे दूँगा, तुम्हें तुम्हारा हक़ तो मिल गया न?"

"कहाँ, सिर्फ़ २५) मिले हैं।"

"तब यह लो ५) और, यह हिसाब तो साफ़ हुआ। आप लोगों को भी तो इस विवाह का हिस्सा मिल गया है।"

दोनों अन्य पुरुषों ने भी स्वीकृति दे दी। इस पर डॉक्टर जो कुछ

कहना चाहते थे, कि एक वृद्धा स्त्री ने द्वार में घुस कर मूर्ति चतुष्टय को धरती में माथा टेक कर प्रणाम किया।

गजपति ने कहा—"माई क्या है ?"

"महाशय जी! मेरी यह फुफेरी बहिन की लड़की है, बेचारी बाल-विधवा है, न कोई आगे न पीछे। मैं अन्धी-धुन्धी बुढ़िया हूँ, इकसा कहाँ तक देख-भाल कर सकती हूँ। घर में इसका मन नहीं लगता। सदैव द्वार पर खड़ी रहती है। सधवाओं-जैसा बनाव-सिङ्गार क्या इसको रुचता है ? पर यह एक नहीं सुनती। आपकी मैंने तारीफ़ सुनी है, खराब औरतों को आप सुधारते हैं, उनकी रक्षा करते और उन्हें सन्मार्ग पर लाते हैं। महाराज! आप कृपा कर इस लड़की का कुछ उपाय कीजिए।"

इतना कह कर उसने अपने पीछे सिकुड़ी खड़ी बालिका को धकेल कर आगे किया और माथा टेकने का आदेश किया। बालिका आगे दो क़दम बढ़ कर ठिठक गई। बोली नहीं, न उसने माथा ही टेका, केवल एक बार नेत्रों की रेखा से मण्डली को देखा। एक क्षीण हास्य-रेखा उसके मुख पर आई और वह चुपचाप खड़ी धरती को निहारने लगी।

तीनों आदमी उस शर्माई हुई बालिका को एकटक देखने लगे। मण्डली विचलित-सी हो गई।

गजपति ने कहा—"बुड्ढी माँ, तुमने अच्छा किया इसे यहाँ ले आई, यहाँ इसकी हमजोलियाँ बहुत हैं। अच्छा इसे ज़रा आने-जाने को कहो। क्यों जी, तुम्हारा नाम क्या है ?" इतना कह कर गजपति ने उसके कन्धे पर हाथ धर दिया।

डॉक्टर जी ने कहा—"ठहरो! उसे सामने वाली कोठरी में बैठने दो,

मैं इससे अभी बात करूँगा।" बालिका तत्काल कोठरी की ओर चली गई। वृद्धा बैठी रही, लाला जगन्नाथ उसे उपदेश दे रहे थे।

बालिका वास्तव में यहाँ की घूराघूरी देखकर घबरा उठी थी। वहाँ से वह जान बचा कर कोठरी में भाग गई। और चाहे कोई न जाने, परन्तु स्त्रियाँ बदमाशों की पाप-दृष्टि को ख़ूब पहचानती हैं।

इसके बाद डॉक्टर जी उठ कर कोठरी में घुस गए; दरवाज़ा उढ़का दिया। यह देखते ही ग़रीब बालिका सूख गई। वह वहाँ से उठ कर बाहर को जाने की चेष्टा करने लगी। डॉक्टर जी ने हाथ पकड़ कर कहा—"बेटी! डर क्या है, घबराने की बात नहीं। इधर आ, मैं तेरा रक्षक बनूँगा?"

इतना कह, वे उसे कनखियों से देखने लगे। बालिका सिकुड़ कर बैठ गई और उनकी बात की प्रतीक्षा करने लगी।

डॉक्टर जी ने कहा—"तुम्हारा नाम क्या है?"

"चन्दन"

"बहुत सुन्दर नाम है। अच्छा यह तो बताओ! तुम्हारे मन में कभी किसी तरह की उमङ्ग तो नहीं उठती?"

बालिका समझी नहीं। वह बड़ी-बड़ी आँखें उठा कर डॉक्टर जी की ओर देखने लगी।

"आह! समझी नहीं; (कन्धे पर हाथ धर कर और पास खसक कर) अभी नदान बच्ची हो। मन के भाव समझती नहीं। ख़ैर देखो, तुम चाहो तो यहाँ अश्रम में रहो, चाहे कभी-कभी आया करो। कुछ रुपए-पैसे की ज़रूरत हो तो मुझसे कहो। देखो, भेद-भाव मत रखना। अब मैं तुम्हारा रक्षक हुआ। क्यों, हुआ न? बोलो।"

बालिका बिना हाथ-पैर हिलाए चुपचाप बैठी रही। उसके बदन पर पसीना आ रहा था।

डॉक्टर जी ने उसकी कमर में हाथ डाल कर अपनी ओर खींचते हुए कहा—"जवाब तो दो!"

बालिका ने तनक कर कहा "आह! यह क्या करते हैं, अपना हाथ खींच लीजिए।"

"क्रोध मत करो। जब मैं रक्षक हुआ तो पूछूँगा बताना पड़ेगा, जो कहूँगा करना पड़ेगा; किसी बात में उज्र, न करना होगा। देखो, तुम्हारी यह साड़ी कितनी पुरानी और गन्दी हो गई है। ये रुपए ले जाओ, नई ले लेना।"

इतना कह कर डॉक्टर जी ने ५) रु० का एक नोट उसके हाथ पर धर दिया। बालिका नोट देख कर घबरा उठी, ले या न ले—न समझ सकी। उसके मन में नई साड़ी पहनने की लालसा जाग्रत हो उठी। वह उत्सुक होकर डॉक्टर जी के सफ़ाचट मुख को देखने लगी।

डॉक्टर जी ने कहा—"नोट को सम्हाल कर रख लो। जेब तो है न चोली में रख लो। गिर न जाय। ठहरो, मैं रख देता हूँ।"

बालिका, न रोष कर सकी न निषेध। डॉक्टर जी ने उसकी चोली में हाथ घुसेड़ दिया। एक पैशाचिक आवेश से डॉक्टर जी का लाल चेहरा और भी लाल हो उठा।

बालिका घबरा कर उठ बैठी। और उसने धड़ाम से किवाड़ खोल दिए। डॉक्टर जी भी हड़बड़ा कर उठ बैठे। उन्होंने धीरे से कहा—"अच्छा बाकी बातें फिर होंगी, परसों इसी समय आना। पर देखना, रुपयों की बात किसी न कहना—समझो?"

"पर जब खर्च करूँगी, तब तो भेद खुलेगा ?"

"कह देना किसी सहेली ने दिया था, या पड़ा पा गई थी।"

"ख़ैर, आप बेफ़िक्र रहें, मैं सब ठीक कर लूँगी।"

अब डॉक्टर जी दुलार से बालिका के गाल पर चुटकी लेकर बाहर चले आए। हँस कर बुढ़िया से कहा—"लड़की बड़ी सीधी है, दो-चार बार आने से समझ जायगी। न होगा तो यहाँ कुछ दिन रख लिया जायगा।"

बुढ़िया ने कहा—"भगवान आपका भला करें। आपने बड़ा भारी धर्म का बीड़ा सिर पर उठाया है।" इतना कह और धरती में माथा टेक बुढ़िया रवाना हुई।

३

डॉक्टर साहब आश्रम के भीतरी कक्ष में एक शतरञ्जी पर बैठे थे। सामने एक नवयुवती सिकुड़ी हुई बैठी थी। डॉक्टर साहब मन लगा कर उसे सत्मार्ग पर लाने की चेष्टा कर रहे थे। उन्होंने कहा—"देखो बेटी, मैं तुम्हारा धर्म का पिता हूँ और रक्षक हूँ। समझती हो न ?"

"जी हाँ, आपने पत्र में भी यही लिखा था, इसी से आप पर विश्वास करके चली आई हूँ। मैं आपकी धर्म की पुत्री हूँ। आह, मैं बड़े दुष्टों के फन्दे में पड़ गई थी, कहने को समाजी, पर परले दर्जे के लुच्चे, औरतों का व्यापार करने वाले।"

"अच्छा, तुम कहाँ जा फँसी थीं ? ख़ैर, जाने दो इन बातों को। तो देखो, जब मैं तुम्हारा रक्षक और धर्म-पिता हुआ, तब तुम्हें मेरे कहने के माफ़िक़ काम भी करना होगा। तुम जानती हो, मैं सदैव तुम्हारी भलाई की बात ही सोचूँगा।"

"मुझे आपका भरोसा है।"

"अच्छी बात है, तुम्हें तीन दिन यहाँ आए हुए। कहो, कोई कष्ट तो नहीं है।"

"जी नहीं।"

"खाने-पीने की दिक्कत।"

"जी, कुछ नहीं।"

"कपड़े-लत्ते तुम्हारे पास काफ़ी हैं न ?"

"जी हाँ।"

"खैर मैं दो जोड़ा साड़ी तुम्हें आज ही और भेजवा देता हूँ। तुम कैसी साड़ी पसन्द करती हो, रेशम-कोर की न ?"

"जी, जैसी मिल जाय।"

"जैसी चाहोगी वैसी मिल जायगी। खैर, तुम्हें कुछ जेब-खर्च भी चाहिए ?"

"जी नहीं, मेरे पास कुछ रुपए हैं।"

"अच्छी बात है, हाँ—एक बात—यहाँ ज़ेवर पहनने का नियम नहीं। तुम्हारे गहने सब कोष में जमा होंगे।"

"कोष क्या है ?"

"आश्रम का कोष—यानी खज़ाना। जब तुम्हारा विवाह होगा, तब वापस दे दिए जावेंगे।"

"मगर मैं विवाह तो करने की इच्छा ही नहीं करती।"

"यह कैसी बात है ? फिर यहाँ आई क्यों हो ?"

"मैं तो विद्या पढ़ कर अपना धर्म सुधारना चाहती हूँ।"

"परन्तु जवान लड़कियों का धर्म सिर्फ़ विद्या से ही नहीं बचता।"

"तब?"

"उन्हें ब्याह करना चाहिए।"

"ब्याह तो एक बार हो चुका, वही तक़दीर में होता तो तक़दीर क्यों फूटती?"

"यह तो संसार के कारख़ाने हैं, सब दिन एक से नहीं रहते। कहा है—बीती ताहि बिसारि दे, आगे की सुधि लेहु।"

"पर मैं तो विद्या पढ़ने ही आई हूँ।"

"विवाह कराके विद्या भी पढ़ना।"

"विवाह कराना मैं नहीं चाहती।"

"तुम्हें अवश्य विवाह कराना चाहिए।"

"मैं धर्म-काम में जीवन व्यतीत करना चाहती हूँ।"

"तुम्हारा विवाह किसी धर्मोपदेशक से करा दिया जायगा।"

"पर यह मुझे पसन्द नहीं, मुझे विवाह से घृणा है।"

"यह तुम्हारी नादानी है।"

"आप मेरे पढ़ने-लिखने का बन्दोबस्त कर दें।"

"पर यह विधवाश्रम है, कोई कन्या-पाठशाला नहीं।"

"आपने लिखा था, कि पढ़ने का प्रबन्ध हो जायगा।"

"पर विवाह के बाद।"

"विवाह के बाद आप क्या यहाँ रख सकेंगे?"

"यहाँ रखने ही से क्या—जो विवाह करेगा, वह पढ़ाएगा।"

"और यदि मैं विवाह न करूँ?"

"अवश्य करना पड़ेगा ?"

"मैं विवाह नहीं करूँगी ?"

"कह चुका, अवश्य करना पड़ेगा।"

"तब मुझे चली जाने दीजिए, मैं यहाँ न रहूँगी।"

"यह भी असम्भव है।"

"असम्भव क्यों ?"

"नियम है।"

"यह तो धींगामुश्ती है।"

"तुम चाहे जो कुछ भी समझो।"

"मैं यहाँ एक मिनिट भी नहीं रह सकती।"

"तुम यहाँ से जा नहीं सकतीं।"

"देखूँ कौन रोकता है।"

"डॉक्टर ने सङ्केत किया। गजपति और जगन्नाथ अधिष्ठात्री देवी के साथ आ हाज़िर हुए। डॉक्टर ने कहा—"इस बेवक़ूफ़ को समझा कर राज़ी करो।" और वे चले गए।

युवती ज़बरदस्ती बाहर जाने लगी।

गजपति ने कहा—"ज़ोर क्यों करती हो, ज़ोर हममें भी है। बस समझो-समझाओ, ज़ोर से कुछ नहीं बनेगा।"

"मैं कुछ नहीं सुनती, मैं अभी जाऊँगी।"

"जा नहीं सकतीं ?"

"क्या मैं क़ैदी हूँ ?"

"जो कुछ समझो।"

"तुम सब लोग एक-ही-से पिशाच हो, धर्म की टट्टी में शिकार खेलते हो।"

"जो जी में आवे सो बको।"

"क्या तुम ज़बर्दस्ती शादी कराना चाहते हो?"

"और आश्रम हमने किस लिए खोला है?"

"मैंने समझा था विधवाओं को शिक्षा मिलती है। रोटी-कपड़ा मिलता है, वे स्वावलम्बिनी बनाई जाती हैं।"

"और तुम्हें यह नहीं मालूम, कि उनकी शादियाँ भी होती हैं?"

"मैं समझती थी, जो शादी कराना चाहे उसकी शादी होती होगी।"

"बस यही ग़लती है। इस तरह यहाँ पञ्छियों का बसेरा बसाया जाय, तो आश्रम का दिवाला दो दिन में निकल जाय। यहाँ तो नया माल आया—इधर से उधर चालान किया, आश्रम का भी खर्च निकला और तुम लोगों का भी भला हुआ।"

"मैं अपना भला कर लूँगी, तुम अपना खर्च ले लो और मुझे जाने दो।"

"खर्च क्या होगा?"

"और कुछ मेरे पास नहीं, जो दो-चार गहने हैं उन्हें ले लो।"

"लाओ, ये तो कोष में जमा होंगे ही।"

युवती ने गहने उतार दिए। उन्हें गजपति ने हाथ में लेकर कहा—"हमने तार देकर तीन आदमी पंजाब से तुम्हारे लिए बुलाए हैं। वे आज रात को आ जावेंगे। एक तो आ भी गया है, अब यह तुम्हारी पसन्द पर है, जिसे चाहो पसन्द करो।"

इतना कह और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए, उसने उसे पीछे को ढकेल दिया। जब तक वह सम्हले, उन्होंने बाहर निकल कर साँकल चढ़ा

दी और कहा—"भागने की चेष्टा के भय से ऐसा किया गया है। बुरा न मानना, अभी विवाह को ना-नू करती हो, जब सुन्दर जवान देखोगी तो ख़ुश हो जाओगी। दिन भर पड़ी-पड़ी सोच लो।"

इतना कह कर तीनों चल दिये। युवती भौंचक-सी खड़ी रह गई। फिर वह ज़ोर-ज़ोर से किवाड़ों पर हाथ मारने और चिल्ला-चिल्ला कर रोने लगी।

४

"देखो सावित्री, आज तुम्हारी फिर शादी निश्चय हो गई है। और इस बार भी तुम्हें वही चालाकी करनी होगी। तुम कुछ नई तो हो नहीं, सब बातें जानती हो।"

"अब इस बार मुझे कहाँ जाना होगा?"

"दूर नहीं, करनाल के पास एक क़स्बे में।"

"हे ईश्वर, वहाँ मेरा दिल कैसे लगेगा?"

"दिल की एक ही कही, १०-१५ दिन नहीं काट सकती हो?"

"माल-मलीदे तो ख़ूब मिलेंगे?"

"ख़ूब"

"और वह उल्लू?"

"वह एक बूढ़ा ख़ूसट है, ख़ूब बनाना।"

"कुछ झगड़ा-बखेड़ा तो खड़ा न होगा?"

"झगड़ा क्या होगा?"

"ख़ैर, मुझे क्या मिलेगा?"

"सैर-सपाटा, माल-टाल और बढ़िया साड़ी, जूता-मोज़ा और ३-४ अदद नए गहने।"

"और रुपए ? रुपए इससे न जमा कराए जावेंगे ?"

"५०० तो बँधी बात है, उसका क्या कहना है।"

"पर इस बार सब रुपए मैं लूँगी।"

"यह कैसे हो सकता है, पहले की भाँति अर्द्धम-अद्धा पर सौदा होगा।"

"अच्छी बात है, मुझे मञ्जूर है।"

"तब नहा-धोकर सिङ्गार-पिटार कर लो। उल्लू को सामान का पर्चा उतरवा दिया है, लेकर आता ही होगा। साड़ी तुम स्वयं पसन्द कर लेना।"

उपरोक्त बातचीत विधवाश्रम की अधिष्ठात्री देवी और एक युवती में हो रही थी। बातचीत करके अधिष्ठात्री जी चली गईं और युवती कुछ सोच कर हँस पड़ी। उसने उँगली पर आप ही आप गिन कर कहा—एक-दो-तीन! यह तीसरा उल्लू है। इसमें भी ख़ूब मज़ा है। थोड़ी देर तक वह अपने भूतकाल को सोचने लगी। वह वर्तमान जीवन से उसका मुक़ाबिला करने लगी। क्या यह अच्छी बात है? पति के घर में कैसी सुखी थी, ज़रा-सी बात पर लड़ कर निकल भागी—और ये दुष्ट मुझे फाँस लाए। अब यहाँ अजीब शादियाँ होती हैं, रुपए गाँठ में करो, दुलहिन बनो, ब्याह करो और फिर चकमा देकर भाग आओ। फिर ब्याह कर लो! पकड़ी जाओ तो कह दो कि ज़ुल्म करता है, मारता है। जय गङ्गा जी की!

युवती फिर ज़रा हँस दी। फिर कुछ सोचने लगी। थोड़ी देर में उसने एक कहारी को पुकार कर कहा—ज़रा बलवन्त को तो बुला दे।

बलवन्त एक ३० वर्ष का हट्टा-कट्टा, किन्तु मैला-कुचैला आदमी था।

उसकी आँखें छोटी, नाक पतली और लम्बी, माथा तङ्ग और रङ्ग पीला था। उसके दाँत बड़े गन्दे थे, और मूँछें बड़ी बेतरतीब थीं। वह ठिगना, ज़रा मोटा और बेहूदा-सा आदमी था। उसने आकर ज़रा हँस कर कहा—क्या हुक्म है?

"वही मामला है, बस समझ लो।"

"सब समझ चुका हूँ। सुन लिया है।"

"बताओ, फिर क्या करना होगा?'

"करना-धरना क्या है, ज़रा शर्मीली नवेली बन कर चली जाओ। १०-५ दिन खूब शर्मीली बनी रहना, बूढ़े को अच्छी तरह सुलगाना। ५-७ गहने वसूल करना, उसे रिझाना। मौक़ा पाकर चिट्ठी में भागने की तारीख़ लिखना—समय भी लिख देना। समय वही सन्ध्या का ठीक है, मैं गली में मिल जाऊँगा, सवारी तैयार रहेगी। हम लोग अगले स्टेशन से सवार होंगे। ५-७ दिन पहले की भाँति सैर करेंगे, फिर यहाँ आ जावेंगे।" बलवन्त युवती को घूर कर हँस दिया। युवती ने नटखटपने से हँस कर कहा—"बस, इस बार तुम्हारे चकमे में मैं नहीं आने की, सैर-सपाटा नहीं होगा, मैं सीधी यहीं आऊँगी।"

"कैसी बेवक़ूफ़ हो, जब वह यहाँ ढूँढ़ने आवेगा, तब क्या होगा?"

"मैं क्या जानूँ!"

"बस, तो जब ऐसी अनजान हो तो जैसा हमारा बन्दोबस्त है, वह करो। तुम्हारे ग़ायब होते ही वह सीधा यहीं दौड़ेगा। और आश्रम का कोना-कोना छान कर चला जायगा। बस आश्रम की ज़िम्मेदारी ख़तम। फिर दूसरा उल्लू देखेंगे"

"और इतने दिन तुम अपनी मनमानी करोगे।"

"देखो प्यारी, मेरे विषय में ऐसी बात न कहो। दो-दो बार तुम्हारे लिए मैं जान हथेली पर धर चुका हूँ। तुम्हें मैं दिल से चाहता हूँ। अन्त में तो और दो-चार खेल खेल कर तुम मेरी होगी?

"चलो हटो, मैं तुम्हारा मतलब ख़ूब जानती हूँ। तुमने जानकी से भी ऐसे ही कौल-क़रार किए थे। आख़िर जब झगड़ा पड़ा तो साफ़ बच गए—बेचारी को जेल जाना पड़ा।"

"नहीं प्यारी, ऐसा न कहो—क़सूर उसी का था।"

"ख़ैर, जाने दो। तो अब क्या बात पक्की रही?"

"वही, जो मैं कह चुका हूँ।"

"मैं तुम्हें ख़त लिखूँगी।"

"हाँ, उसमें इशारा भर कर देना कि कौन तारीख़।"

"अच्छी बात है।"

"बाक़ी सब काम मैं स्वयँ कर लूँगा।"

"बहुत अच्छा।"

"पर, आज.........

"चलो हटो, आज मेरी शादी है, ऐसी बातें न करो।"

"अच्छा देखा जायगा।"—यह कह कर दुष्टतापूर्ण संकेत करके वह चला गया।

५

"महाशय जी, ५००) तो मैं जमा कर चुका, अब ये दो सौ किस लिए माँगे जाते हैं?"

"महाशय जी, वे ५००) रु० तो स्त्री-धन हैं। यदि तुम उसे त्याग दो, उस पर ज़ुल्म करो, उसे दग़ा दो तो वह क्या खाएगी, वह तो कहीं की न रही न; इसका तुम्हें अभी इक़रारनामा लिखना पड़ेगा।"

"ख़ैर, वह मैं लिख दूँगा, कहीं घर-गृहस्थ में ऐसा भी होता है। महाशय जी, मैं गृहस्थ आदमी हूँ, लुच्चा-लुङ्गाड़ा नहीं।"

"तभी ऐसी देवी आपको दी गई है, दुनिया में चिराग़ जला कर भी देखोगे तो ऐसी लड़की न मिलेगी।"

"यह आपकी मेहरबानी है।"

"तब लीजिए यह रहा इक़रारनामा—दस्तख़त कीजिए। आओ जी तुम बलवन्त, गवाही कर दो। एक गवाही और चाहिए। अधिष्ठात्री देवी जी को बुला लो, वे कर देंगी। हाँ, वे दो सौ?"

"वे दो सौ किस मद्द में जावेंगे?"

"आश्रम के मद्द में। महाशय जी, आश्रम का ख़रचा कहाँ से चलता है, यह तो सोचिए। लड़कियों पर, महीनों रख कर उन पर कितना ख़र्च किया जाता है। उनकी शिक्षा—परवरिश, उनके कुसंस्कारों को दूर करके उनके विचारों को शुद्ध करना, उन्हें आदर्श गृहिणी बनाना—यह सब मामूली बात थोड़े ही है। ये दो सौ रुपया आश्रम को दान समझिए, इनकी आपको रसीद मिलेगी। ख़ातिर-जमा रखिए।"

"मगर मैं आश्रम को तो ५०) प्रथम ही दे चुका हूँ।"

"वह तो दाख़िला फ़ीस थी महाशय जी, यह तो आश्रम का नियम है कि जब कोई विवाहार्थी आवे तो फ़ीस-दाख़िला लेकर तब विवाह की चर्चा लाई जाय।"

"मगर महाशय जी, ये दो सौ रुपए तो भार मालूम देते हैं।"

"यह आप क्या कहते हैं? संस्था को देने में आप इधर-उधर करते हैं। सोचिए, यदि संस्था न होती तो कितनी देवियाँ धर्म-भ्रष्ट होतीं, और आपकी सेवाएँ भी कैसे हो सकती थीं।"

अधिष्ठाता, उर्फ़ पिता जी और वर में उपरोक्त घिस-फिस बड़ी देर तक होती रही और तब उन्होंने २००) के नोट गिन दिए। इसके बाद ही, स्वस्ति-वाचन, शान्ति-प्रकरण का ज़ोर-शोर से पाठ हुआ। अग्नि प्रज्वलित हुई, दुलहिन आई और पवित्र वैदिक रीति से विवाह-कार्य सम्पन्न हुआ। विवाह होने पर अधिष्ठाता जी बोले—१५) और दीजिए?"

"यह किस लिए?"

"५) पण्डित जी की विवाह-दक्षिणा। ५) की साड़ी अधिष्ठात्री देवी जी के लिए और ५) की मिठाई लड़कियों के वास्ते।"

कुछ अनमने होकर १५) भी दे दिए। इसके बाद उन्होंने घड़ी देख कर कहा—"अब आप विदा की तैयारी करा दीजिएगा। गाड़ी जाने में अधिक देर नहीं है।"

"पर अभी तो प्रीति-भोज होगा।"

"बस प्रीति-भोज रहने दीजिए।"

"ऐसी जल्दी नहीं। सब तैयार है। भला बिना भोजन विवाह कैसा?"

प्रीति-भोजन का आयोजन हुआ। पुरोहित, अधिष्ठाता और अलम-गल्लम, जो वहाँ उपस्थित थे, सभी बैठे। भोज समाप्त होते ही, हलवाई ने बिल अधिष्ठाता जी को दे दिया, उन्होंने एक नज़र डाल कर वर महाशय की तरफ़ संकेत करके कहा—आपको दो।

वर महाशय ने घबरा कर कहा—अब यह क्या है ?

"अभी प्रीति-भोज हुआ न, उसी का बिल है।"

"यह भी मुझे चुकाना पड़ेगा ?"

"वाह महाशय जी, यह ख़ूब कही, विवाह आपका होगा तो क्या बिल और कोई चुकावेगा ?"

"इसका पेमेण्ट तो आश्रम को करना चाहिए।"

"वाह, आश्रम तो आप ही की संस्था है, वह यह भार कैसे उठा सकती है। सोचिए तो।"

वर महाशय ने ज़रा गुनगुने होकर बिल चुका दिया और कहा—अब आप ज़रा जल्दी कीजिए, गाड़ी के जाने में वक़्त बिलकुल नहीं रहा है।

"बस अब विलम्ब क्या है। विवाह आपका शुभ हो।"

इसके थोड़ी देर बाद ही वर-वधु विदा हुए। वधू ने हँस-हँस कर सब से हाथ मिलाए। किसी-किसी से घुस-पुस बातें की और 'पतिदेव' के साथ खट से कूद कर ताँगे पर चढ़ गई।

यह असल वैदिक विवाह का प्रताप था कि वधू रोई नहीं, चिल्लाई नहीं, घूँघट दिया नहीं, शर्माई नहीं। बोलो वैदिक धर्म की जय !!

६

"कहिए, आपका क्या काम है ?"

"मुझे आपसे एकान्त में कुछ कहना है।"

"यहाँ एकान्त ही है, निस्सङ्कोच कहिए। इन लोगों से कुछ छिपा नहीं।"

"आपसे मैं एक सहायता लेना चाहता हूँ।"

"कहिए भी, क्या सहायता ?"

"एक लड़की का उद्धार करना है।"

"कहाँ से ?"

"वेश्या के घर से।"

"वह लड़की कौन है ?"

"उसी वेश्या की कन्या।"

"आप क्यों उद्धार किया चाहते हैं ?"

"वह वहाँ रहना और कुकर्म करना नहीं चाहती। उसकी माँ उसे मजबूर कर रही है, पर वह पसन्द नहीं करती।"

"वह क्या चाहती है ?"

"किसी भले आदमी से ब्याह करना चाहती है।"

"वह भले आदमी शायद आप हैं।"

"जी नहीं, मैं तो ऐसा कर ही नहीं सकता। आप जानते हैं, ज़ात-बिरादरी का मामला है"

"तब फिर आपको उसकी इतनी चिन्ता क्यों है ? लाखों वेश्याओं की लड़कियाँ यही करती हैं।"

"मैं सिर्फ़ इसका उद्धार चाहता हूँ, और आपकी सेवा से भी बाहर नहीं।"

"आप किस तरह काम करना चाहते हैं—खुलासा कहिए।"

"सुनिए, मैं किसी तरह उसे वहाँ से निकाल लाऊँगा, बाज़ार में सौदा ख़रीदने के बहाने। उसकी माँ मुझ पर विश्वास करती है, भेज देगी। फिर उसे डिप्टी कमिश्नर के पास भेज दूँगा। वहाँ वह कह देगी कि मेरी

माँ मुझसे बुरा काम कराना चाहती है—उससे मुझे बचाया जाय। जब उससे पूछा जायगा कि तू कहाँ जाना चाहती है, तब वह आश्रम में आने को कह देगी। आप यहाँ रख लें, और हम जिस आदमी से कहें उसकी शादी उसी रात को कर दें। ये दो सौ रुपए आपकी नज़र हैं।"

"और वह आदमी कौन है?"

"मेरा नौकर है।"

"समझ गया, इस ढङ्ग से आप उस लड़की पर अधिकार करना चाहते हैं। मगर वह नौकर शादी होने पर आपके हत्थे क्यों लड़की को चढ़ने देगा?"

"वह ८) रु० माहवार पाता है। उससे हमने ज़बानी तय कर लिया है कि लड़की पर उसे कोई दख़ल नहीं होगा। इक़रारनामा लिखा लिया है कि इसकी मर्ज़ी के माफ़िक़ अगर मैं इसका भरण-पोषण न कर सकूँ तो लड़की को स्वतन्त्र रहने का अधिकार है। वह इक़रारनामा मेरे पास है।"

"बड़े उस्ताद हो। २००) लाए हो?"

"ये हाज़िर हैं।"

"जाओ अपना काम करो, लड़की को यहाँ भेज दो। मगर देखो, वह इस शादी में ना-नू तो न करेगी?"

"ज़रा भी नहीं।"

"तब ठीक।"

७

विधवा-आश्रम का आज वार्षिकोत्सव था। सभास्थान ख़ूब सजाया गया था। लाल-पीले कपड़ों पर वेदमन्त्र लिख कर लटका दिए गए थे।

धर्म और सत्यकर्म का प्रवाह बह रहा था। 'नमस्ते' की गूँज आसमान चीर रही थी। बहुत सी स्त्रियाँ और पुरुष एकत्रित थे। सभास्थल खचाखच भर रहा था। थोड़ी देर बैण्ड बज चुकने के बाद सभा की कार्यवाही प्रारम्भ हुई। भीतरी ओर का एक छोटा-सा दरवाज़ा खुला और उसमें से ५-६ आदमी निकले। ये सब अन्तरङ्ग सभा के सदस्य थे। इन्हीं में हमारे पूर्व परिचित डॉक्टर साहब तथा अन्य सत्पुरुष भी थे।

उनके आते ही सभा में तालियों की गड़गड़ाहट से सभा-भवन गूँज उठा। इसके बाद ही लाला जगन्नाथ जी ने चिल्ला कर कहा—"मैं प्रस्ताव करता हूँ, कि आज की सभा में हमारे परम श्रद्धास्पद, आदरणीय श्री० डॉक्टर साहब सभापति का स्थान ग्रहण करें।" गजपति ने प्रस्ताव का अनुमोदन किया। अब डॉक्टर साहब भाँति-भाँति के मुँह बनाए, उसी प्रकार टेढ़ी गर्दन किए, विविध रीति से शिष्टाचार प्रदर्शन करते हुए अति दीन-भाव से सभापति के आसन पर जा बैठे। मानो उन्हें फेर-सी लगाई जा रही थी। उनके आसीन होते ही फिर तालियाँ बजीं। अब एक महाशय जी बड़ा-सा साफ़ा सिर पर लपेटे उठ खड़े हुए और बड़े गर्वीले ढङ्ग से खड़े होकर एक भजन गाना प्रारम्भ किया। भजन क्या था, गद्य-पद्य का सम्मिश्रण था। न सुर, न ताल। वे ख़ूब चीख़-चीख़ कर गाने लगे और साथ ही हारमोनियम बजाने लगे। हारमोनियम भी ख़ूब चीख़ रहा था। अन्ततः लोगों के कानों के पर्दे फटने लगे और वह गायन समाप्त हुआ। इसके बाद डॉक्टर साहब ने खड़े होकर वक्तृता देनी प्रारम्भ की :

"भाइयो और देवियो !

आज आपके आश्रम का द्वितीय वार्षिक उत्सव है। इस अवसर पर

इतने आदमियों को एकत्रित देख कर मैं फूला नहीं समाता हूँ। अभी मन्त्री जी आपको रिपोर्ट सुनाएँगे ; उससे आपको मालूम होगा, कि अधोगति के मार्ग में पतित भ्रष्टा स्त्रियों को पतन के महापङ्क से उद्धार करने में आश्रम ने कितनी समाज की सेवा की है। ईश्वर की कृपा और आप लोगों की सहानुभूति से संस्था ख़ूब सफल हो रही है (हर्षध्वनि), परन्तु अभी लाखों-करोड़ों अनाथा विधवाएँ हैं, जिनका उद्धार होना बाक़ी है (सुनो-सुनो) काम बड़ा कठिन है, और उसे यह आश्रम ही पूरा कर सकता है। सज्जनों, आर्य-पुरुषो, क्या आप इस आश्रम से सहानुभूति नहीं रखते ? (हर्ष ध्वनि) क्या आप इसकी हस्ती को क़ायम रखना चाहते हैं ? (अवश्य-अवश्य) तब मैं आशा करता हूँ, कि आप अपनी जेबों में जो हाथ आश्रम के नाम पर डालेंगे, वह ख़ाली बाहर न आवेगा। आपको यह स्मरण रखना चाहिए, कि जो-जो महाशय चन्दा देंगे, उनका नाम-ठिकाना सब समाचार-पत्रों में छपा दिया जावेगा।" इसके बाद आपने लम्बे भाषण में यह साबित कर दिया कि यह संस्था कितनी पवित्र है और आर्य-समाज के सिद्धान्तों की रक्षा के लिए ऐसी संस्थाओं की बड़ी भारी आवश्यकता है।"

आपके बैठते ही—प्रबल ताली की घोषणा से सभा-मण्डप गूँज उठा। इसके बाद मन्त्री महोदय वार्षिक रिपोर्ट पढ़ने के लिए उठ खड़े हुए।

रिपोर्ट पढ़ने से पता लगा कि गत वर्ष की अपेक्षा इस वर्ष १,५००) की अधिक आय हुई है (हर्षध्वनि)। इस वर्ष कुल ५,५७५॥-)॥ आमदनी हुई है। और ५,५७५।)॥ ख़र्च हुए हैं। रोकड़ ।-) बाक़ी बचा है। इनमें कर्मचारियों का वेतन-खाते ३२००) और मकान-भाड़ा और स्टेशन के खाते १३००), मुक़दमे खाते ८००), छपाई खाते २००) रु० ख़र्च हुए हैं।

७३।)॥ फुटकर खर्च खाते में आए हैं। यद्यपि।~) की रक़म जो हाथ में बची है, बहुत कम है, फिर भी वह बचत तो है। ईश्वर की कृपा से हमारी संस्था को क़र्ज़ नहीं लेना पड़ा।

रिपोर्ट ख़तम होते ही फिर तालियों की ध्वनि से सभा-भवन गूँज उठा। इस बीच में एक आदमी ने खड़े होकर कहा—"मुक़दमे में ८००) की बड़ी रक़म खर्च होने का कारण क्या है?" सभापति ने कहा—"कृपा कर बैठ जाइए, सभा के काम में गड़बड़ी न कीजिए।" उसने एक न सुनी। कड़क कर कहा—"महाशय, मैंने गत वर्ष ५००) तक दिया था, और बीच-बीच में भी मैं संस्था को सहायता देता रहा हूँ। सो क्या मुक़दमे-बाज़ी में खर्च करने के लिए? मैं यह जानना चाहता हूँ, कि जनता के धन का दुरुपयोग तो नहीं किया जा रहा है?"

मन्त्री जी ने कहा—"हमारे पूज्य प्रधान जी, डॉक्टर साहब पर एक मामूली औरत के भगाने का मुक़दमा खड़ा किया गया था। इसके सिवा हमारे विश्वासी कर्मचारी गजपति के विरुद्ध भी दो ऐसे ही झूठे मुक़दमे खड़े कर दिए गए थे। यह बात सभी जानते हैं कि उक्त दोनों सज्जन संस्था के कितने सहायक हैं। इसलिए विवश हो, हमें पैरवी करनी पड़ी और यह रुपया खर्च करना पड़ा।"

इतने में एक दूसरे आदमी ने खड़े होकर कहा—"और वेतन खाते तो आपने ३ हज़ार से अधिक रक़म डाली है, इसका ब्योरा क्या है? जितने उच्च अधिकारी हैं वे, तो सभी अवैतनिक हैं, फिर इतनी रक़म क्या की जाती है?"

यह सुनते ही सभापति ने खड़े होकर कहा—"महाशय, यह तो सभा के काम में पूरा विघ्न हो रहा है। कृपा कर आप बैठ जाइए।"

चारों तरफ़ से शोर मच गया—"बैठा दो, निकाल दो, चुप कर दो।" उक्त महाशय ग़ुस्से से आग-बबूला होकर उठ कर बाहर चले गए।

सेक्रेटरी महाशय फिर रिपोर्ट पढ़ने लगे। इस पर एक और आदमी उठ कर कुछ कहने लगा।

सभापति ने कड़क कर कहा"—महाशय! इस भाँति बारम्बार बेहूदे ढङ्ग से सभा के काम में विघ्न करना अनुचित है। मैं उपस्थित भाइयों से पूछता हूँ—क्या आप इस बात को पसन्द करते हैं?"

चारों तरफ़ 'नहीं-नहीं' का शोर मच गया और वह आदमी भी उठ गया।

इसके बाद आश्रम के कार्यों के कुछ उदाहरण सुनाए गए।

रजवन्ती एक तेलिन थी। उसकी उम्र २२ वर्ष की थी। उसका पति उसे अच्छी तरह नहीं रखता था। उसे आश्रम में आश्रय दिया गया। और सरकार से लिखा-पढ़ी करके पति से बेदख़ल कर दिया गया, फिर उसका विवाह एक अच्छे युवा से कर दिया गया। उसने २००) आश्रम को दिया।

एक मुसलमानी स्त्री अज़ीमन स्टेशन पर कहीं जा रही थी। उसके गोद में एक बालक भी था। उसे हमारे उत्साही कार्यकर्त्ता गजपति जी आश्रम में ले आए, और समझा-बुझा कर, उसे शुद्ध कर उसका विवाह एक युवक से कर दिया। उसके पति ने मुक़दमा चलाया, पर जीत हमारी ही हुई।

गुलाबो वैश्य-कन्या थी। उसका पति कमाऊ न था। उसे खाने-पीने का कष्ट था। उसने हमारे परम श्रद्धास्पद डॉक्टर साहब को पत्र लिखा कि मुझे कहीं ठिकाना करवा दो। बस उसे वहाँ से किसी तरकीब से मँगवा

लिया गया और उसका विवाह उसकी पसन्द के एक आदमी से कर दिया गया।

राजो नामी एक २३ वर्ष की स्त्री थी। वह व्यभिचारिणी हो गई थी। उसे कोई उपदेशक फुसला लाया था। कुछ दिन वह उसके घर में रही। पीछे न जाने कैसे उसे शराब पीने की आदत पड़ गई। वह वहाँ से भाग आई और आश्रम में पहुँचाई गई। यहाँ हमारे आदरणीय डॉक्टर साहब ने उसे एकान्त में बहुत कुछ धर्मोपदेश दिया और उसे सुशिक्षा दी। पर वह दुष्टा डॉक्टर साहब के ऊपर ही कुकर्म का दोषारोपण करने लगी। इसके बाद वह स्थिर हुई और उसका ब्याह एक योग्य पुरुष के साथ कर दिया गया। उसने उसके साथ असद् आचरण किया, तो वह फिर आश्रम में आ गई। आश्रम की तरफ़ से उस पुरुष पर मुक़दमा चला दिया गया। उसने १०००) रु० देकर डर कर फैसला कर लिया। आधा उसमें से आश्रम को दिया गया। अब फिर उस स्त्री का विवाह किया जायगा।

इन उदाहरणों को सुन कर सभा में हलचल मच गई। और लोग बारम्बार धन्यवाद देने लगे। सभापति की प्रशंसाओं के पुल बँध गए। और संस्था की सुदुपयोगिता की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई। इसके बाद ही चन्दे की वर्षा शुरू हुई और नोटों का ढेर लग गया।

८

दो आदमी चुपचाप बातें करते सड़क से जा रहे थे। सन्ध्या का समय था। एक ने कहा—बस ठहर जाओ। यही वह घर है। वह खिड़की देखते हो, वहीं है वह।

"वह तो बन्द है।"

"अवश्य वह खोलेगी। मैं तीन दिन से देखता हूँ। वह बार-बार इशारा करती है।"

"यार क्यों बेपर की उड़ाते हो। ऐसे खूबसूरत भी नहीं हो, जो कोई औरत तुम पर मरे—फिर वह महलों में रहने वाली।" इतने में खिड़की खुली और एक औरत उसमें दीख पड़ी।

उस आदमी ने मित्र की बात खतम होते ही कहा—"देखो, वह देखो।"

दोनों ने देखा। वह कुछ सङ्केत कर रही थी।

अब कुछ देर उधर देख, एक बगल खड़े होकर उनमें से एक ने सङ्केत किया। सङ्केत का उत्तर सङ्केत में दिया गया। अब दोनों को सन्देह नहीं रहा। परन्तु एक ने कहा—"भाई, देखो यह मामला कुछ और ही ढङ्ग का मालूम देता है, प्रेम का नहीं। वरना वह औरत दो आदमियों को सङ्केत न करती।" यह कह कर उसने फिर उस स्त्री को सङ्केत किया। स्त्री का सङ्केत पाकर उसने कहा—"ठहरो, सब ठीक हुआ जाता है। अभी हमें एक पुलिस का कॉन्स्टेबिल बुलाना पड़ेगा।" वह लपक कर एक कॉन्स्टेबिल को बुला लाया। कॉन्स्टेबिल ने खिड़की की तरफ देखा—वह स्त्री वहीं खड़ी थी और सङ्केत कर रही थी। उसने कहा—"ज़रूर यह औरत बदमाशों के अड्डे में क़ैद है। ठहरो, पहले यह देखना है कि यह मकान है किसका।"

कॉन्स्टेबिल ने तुरन्त ही पता लगा लिया और उन आदमियों से कहा—"तुम लोग यहीं रहो मैं थाने से मदद लेकर आता हूँ, मकान पर धावा बोलना पड़ेगा।"

थोड़ी ही देर में दो कॉन्स्टेबिलों को लेकर पुलिस-इन्स्पेक्टर आ गया, और सब लोग आश्रम के द्वार पर जा धमके। द्वार पर धक्के देने पर एक

आदमी ने द्वार खोला। पुलिस को देख कर वह घबरा कर बोला—"आप क्या चाहते हैं?"

"मैनेजर साहब कहाँ हैं?"

"डॉक्टर जी हैं, वे भीतर हैं?"

"उन्हें ज़रा बुलाओ!"

चपरासी भीतर गया। डॉक्टर साहब की सुन कर फूँक निकल गई। वे बाहर आए और बिलैया-डण्डौत करके कहने लगे—"जनाब, आपको भ्रम हुआ है, यहाँ ऐसी कोई वारदात नहीं है।"

"मगर मैं मकान की तलाशी लेना चाहता हूँ।"

"आप ऐसा नहीं करने पावेंगे।"

इन्स्पेक्टर ने डॉक्टर को पीछे ठेल दिया और वे घर में घुस गए। सीधे उसी कमरे में पहुँचे। बाहर ताला बन्द था, कहा—इसमें कौन है?

"इसमें एक बाबू साहब का सामान बन्द है।"

"वे कहाँ हैं?"

"बाहर गए हैं?"

"इसकी ताली कहाँ है?"

"वह उन्हीं के पास है।"

"अच्छी बात है"—इन्स्पेक्टर ने एक कॉन्स्टेबिल से कहा—"ताला तोड़ दो।"

डॉक्टर साहब के विरोध करने पर भी ताला तोड़ दिया गया। देखा, उसमें तीन कोठरियों में तीस स्त्रियाँ कैद थीं। उन्होंने बयान दिए, कि हमें

फुसला कर लाया गया है और शादी करने को राज़ी न होने पर बन्द कर दिया गया है।

अधिष्ठाता जी उर्फ़ डॉक्टर उर्फ़ पिता जी, और धर्मपुत्री जी उर्फ़ अधिष्ठात्री देवी जी तथा गजपति जी और बलवन्त तथा उक्त तीनों स्त्रियों को साथ ले पुलिस-इन्स्पेक्टर थाने को चल दिया। धर्मात्मा हाजत की शोभा-वृद्धि करने लगे।

६

कई स्त्रियों के ग़ायब होने की रिपोर्ट पुलिस में प्रथम ही से पहुँची हुई थी, पुलिस ने स्त्रियों से पूछ कर उनके वारिसों को बुला लिया। और सब सबूत तैयार होने पर मैजिस्ट्रेट के सामने मुक़दमा दायर किया गया।

मैजिस्ट्रेट के सामने पहुँच कर तो डॉक्टर साहब ने गम्भीर धर्म-भाव धारण कर लिया। "धरमपुत्री" जी बड़ी सीधी गऊ बन गईं। गजपति ने रोनी सूरत बना ली। तीनों स्त्रियाँ लज्जा से सिकुड़ी खड़ी थीं। आख़िर औरतों को उड़ाने, उन्हें बेचने और ज़बरदस्ती बन्द कर रखने का मुक़दमा चला।

मैजिस्ट्रेट ने, बारी-बारी से तीनों स्त्रियों के बयान लिए—

एक ने कहा :

"मेरा नाम रामकली है। मैं हैदराबाद दक्खिन से आई हूँ। पर मेरा असली वतन कानपुर है। ज़ात की ब्राह्मण हूँ। मेरा पति हैदराबाद में नौकर था। वह वहीं मर गया। तब एक पड़ौस के भले घर में मैं मिहनत-मजूरी करके गुज़र करने लगी। उस घर के मालिक की मेरे ऊपर बुरी नज़र पड़ी, उन्होंने मुझे तङ्ग करना शुरू कर दिया। अन्त में उन्होंने मेरा धर्म भ्रष्ट कर दिया। उन्होंने बड़े-बड़े सब्ज़ बाग़ दिखाए थे। पर थोड़े ही दिन में

उनका बर्ताव बदल गया। उन्होंने मुझे पढ़ने की सलाह दी। मुझे वह पसन्द आ गई। उन्होंने कहा कि हम तुझे दिल्ली-आश्रम में भेज देते हैं, वहाँ बहुत अच्छा बन्दोबस्त है। मैंने स्वीकार किया। वे मुझे मन्त्री आर्य-समाज के पास ले गए। उन्होंने मुझे लिखा-पढ़ी करके यहाँ पहुँचा दिया। यहाँ इन लोगों के रङ्ग-ढङ्ग देख कर मैं घबरा गई। मन्त्री जी ने कहा था कि वहाँ आर्य देवियाँ रहती हैं—विद्या पढ़ाई जाती है और सन्ध्या, हवन नित्य-कर्म होते हैं। पर यहाँ देखा तो कुट्टनखाना है, गुण्डों का राज्य है। वे भले घर की बहिन-बेटियों को फुसला कर लाते हैं और दस-पाँच दिन खिला-पिला कर बेच देते हैं। मेरा भी सौदा होने लगा। २-३ आदमी भी बुलाए गए। रुपए भी वसूल कर लिए, पर मैं मर्दों की दुष्टता को जान चुकी हूँ। मैं इन पर विश्वास नहीं करती, न उनकी दासी बनना चाहती हूँ। फिर मेरी क़िस्मत में जो होना था हो गया। मैं विद्या पढ़ कर कहीं अध्यापिका की नौकरी करना चाहती थी जिससे गुज़र हो जाती, परन्तु ये लोग तो बेचने को पागल हो रहे थे। मुझे बहुत डराया-धमकाया, पर जब मैं राज़ी न हुई, तब बन्द कर दिया। मैं ७ दिन बन्द रही। दो बार मुझे पीटा भी गया। एक बार यह गजपति ज़बर्दस्ती करने को मेरी कोठरी में घुस आया, उससे बड़ी कठि-नाई से जान बचाई। मैंने उसकी बाँह में काट खाया था, उसका निशान अवश्य होगा। यह अधिष्ठात्री देवी कहाती हैं, पर पूरी चुड़ैल हैं। ये उसका ज़ुल्म आँखों देखती और खिलखिला कर हँसती थीं। नित्य ही वहाँ ऐसा होता है। उस दिन से मुझे खाना भी नहीं दिया गया है और मार डालने की धमकी दी जाती थी।"

मैजिस्ट्रेट ने पूछा—तुम्हारी उम्र क्या है?

रामकली—२२ वर्ष हुज़ूर।

मैजिस्ट्रेट—तुम्हारे पास कुछ गहना और दूसरा सामान भी था, जब तुम आई थीं ?

राम०—जी हाँ हुज़ूर, २ अदद सोने तथा ४ अदद चाँदी के गहने थे, सबकी क़ीमत २००) होगी। वे सब इन्होंने छीन लिए। वहाँ कोष में जमा होंगे।

मैजिस्ट्रेट—और कपड़े वगैरा ?

राम०—वह भी सब छीन लिया।

मैजिस्ट्रेट—अच्छा तुम इधर बैठो। दूसरी लड़की को लाओ।

दूसरी लड़की ने आकर बयान दिया :

"मेरा नाम चम्पा है। उम्र १८ वर्ष की है। जाति की वैश्य हूँ। मेरे पिता बरेली में पुलिस-इन्स्पेक्टर थे। जब मैं ७-८ बर्ष की थी, तब कुछ लड़कियों के साथ खेल रही थी। इतने में एक आदमी आया, वह फुसला कर हमें तमाशा दिखाने के बहाने थोड़ी दूर ले गया। हम तीन लड़कियाँ चलीं। थोड़ी दूर पर उसने एक ताँगा रोक कर कहा—"लो इस पर बैठ कर चलो, जल्दी पहुँच जायँगे।" हम लोग ताँगे पर बैठ गए। उसने एक मकान में हमें छोड़ दिया, वह बहुत बड़ा मकान था और उसमें बहुत सी लड़कियाँ थीं। हम कुछ दिन घर की याद में रो-पीट कर वहाँ रहने लगीं। बहुत दिन बीत गए और हम घर को भूल गईं। एक बार एक पञ्जाबी-सा मोटा-ताज़ा आदमी मेरे पास लाया गया। वह मुझे घूर-घूर कर देखने लगा—पीछे पता लगा इससे मेरी शादी होगी। मैं डर गई, उस आश्रम में एक कहार का लड़का नौकर था, उसने कहा कि मेरे साथ शादी करे तो मैं

तुझे यहाँ से निकाल दूँ। मैं राज़ी हो गई और वह वहाँ से एक दिन शाम को निकाल कर, रेल में बैठा कर मथुरा ले आया। हम लोग धर्मशाला में ठहर गए। न जाने क्यों पुलिस ने भाँप लिया कि यह भगा कर ले आया है। पुलिस उसके पीछे पड़ी। वह भाग गया, मैं अकेली रह गई। कहाँ जाऊँ, यह कुछ न बता सकी। पिता का स्मरण भी न रहा था। कहाँ हैं, कौन हैं। लाचार कुछ लोगों ने मुझे वहाँ के विधवाश्रम में भेज दिया। मैं फिर वहाँ रहने लगी।

"पर वहाँ के हालात बड़े गन्दे थे। खुला व्यभिचार होता था। पुलिस वाले आते और उन्हें लड़कियाँ रात भर को सौंप दी जाती थीं। एक बार पुलिस-इन्स्पेक्टर को मेरे कमरे में भेज दिया गया। मैं भय से थर-थर काँपने लगी। पेशाब का बहाना कर छत पर से कूद कर भागी। कुछ देर तो जमुना किनारे घाट पर छिपी रही, पीछे स्टेशन पर आई। वहाँ यह आदमी गजपति मुझे मिला। इसने मेरी सब कहानी सुन कर कहा, कि तेरे बाप को मैं जानता हूँ। चल मैं तुझे वहाँ पहुँचा दूँ। यह मुझे दिल्ली ले आया और यहाँ आश्रम में रख दिया।

"यहाँ भी वही हाल देखा। पर इस बार मैं अपने को न बचा सकी। इस गजपति ने मेरा धर्म बिगाड़ दिया। यह रात-दिन वहीं रहता है और बिना इसकी इच्छा पूरी किए कोई लड़की अपनी इच्छानुसार काम नहीं कर सकती। यह बड़ा निष्ठुर नर-पशु है, नित्य दो-चार शिकार पकड़ लाता है। डॉक्टर बूढ़ा घाघ है। बेटी-बेटी करके ही सब कुकर्म करता है। उस दिन मुझसे कहा कि मेरे यहाँ रोटी पकाने के लिए आ जाना। जब गई तो बुरी-बुरी बातें कहने लगा। मैं वहाँ से अकेली ही भाग आई। अधिष्ठात्री देवी उनकी पुरानी

चुड़ैल हैं। उन्होंने सब्ज़-बाग़ दिखा कर मुझे शादी करने को लाचार कर लिया। मैं राज़ी हो गई। गहने-कपड़े रुपए मिलने की आशा थी। वह आदमी मेरठ के पास के किसी देहात का बनिया था। लोहे का काम करता था। उसकी औरत मर चुकी थी और उसे गर्मी की बीमारी हो गई थी। मुझे उससे बड़ी घृणा थी। पर वह मेरी बड़ी आव-भगत करता था। यह बात तय हो गई थी, कि गजपति अमुक दिन वहाँ जायगा और मौका पाकर उड़ा लाएगा। यही हुआ, और मैं फिर यहाँ लाई गई। वह भी आया झगड़ा किया तो उसे डरा दिया कि तुमने लड़की को मार डालने की कोशिश की है। तुम पर फ़ौजदारी मुक़दमा चलेगा। बेचारा भाग गया।

"फिर दूसरी जगह मेरा ब्याह कर दिया गया और वहाँ से भी उसी भाँति भगा लाई गई। पर इस बार जिससे ब्याह हुआ था, वह आदमी मुझे पसन्द था। पर ये लोग ज़बर्दस्ती ले आए। मैंने अपने गहने, कपड़े, रुपए माँगे और पति के पास जाना चाहा तो इन्होंने मुझे मारा और बन्द कर दिया। ६ दिन से मैं बन्द हूँ। गजपति रोज़ रात को मेरा धर्म नष्ट करता है, उससे मेरी पार नहीं बसाती।"

मैजिस्ट्रेट ने पूछा—तुम्हारे गहने, कपड़े, रुपए कहाँ हैं ?

चम्पा—हुज़ूर इन्हीं के पास हैं।

मैजिस्ट्रेट—डॉक्टर को मालूम है।

चम्पा—हुज़ूर उसी के हुक्म से वे छीने गए हैं ?

मैजिस्ट्रेट—अच्छा हटाओ, तीसरी को बुलाओ।

तीसरी ने आकर बयान दिया :

"मेरा नाम गोमती है। आयु २५ वर्ष, ज़ात वैश्य, रहने वाली ज़िला

अलीगढ़ की हूँ। मेरे पति हैं, ससुर हैं और परिवार है। मैं राजघाट गङ्गास्नान करने गई थी, वहाँ साथ वालियों से भटक गई। यह भजपति मुझे माता-माता कह कर साथ ले आया। कहा, हम स्वयंसेवक हैं। चलो, घर पहुँचा दें। इसके साथ दो औरतें और थीं। कहा, इन्हें पहुँचा कर तब तुम्हें पहुँचावेंगे। मैं क्या करती, चुप हो रही। यह मुझे दिल्ली ले आया। यहाँ रख दिया। यहाँ का हाल देख-देख कर मैं रोती और तक़दीर को ठोंकती थी। पर डॉक्टर ने कहा—'देखो हमने तुम्हारे पति को तार दिया था कि इसे ले जाओ, तो जवाब आया है कि वह अब हमारे काम की नहीं रही। कहो, अब क्या कहती हो।' मैं ख़ूब रोई और मरने पर तैयार हो गई। तब इन्होंने घोर दिया और १ महीने बाद मुझे मजबूर करके ब्याह कर दिया। मैंने समझा, तक़दीर में जो होना लिखा था, वही हुआ। मैं चली गई। पीछे यहाँ से एकाएक आदमी दौड़ा गया और बुला कर फिर ले आया। यहाँ आने पर पता लगा कि मेरे पति को पता लग गया था और वे पुलिस लेकर यहाँ आए थे, पर लौट गए। ये मुझसे एक लिखे हुए काग़ज़ पर दस्तख़त कराना चाहते हैं, पर मैं नहीं करती। मैं वहाँ भी नहीं जाना चाहती, जहाँ इन्होंने मेरा ब्याह किया था। मैं अपने घर जाना चाहती हूँ। इसीलिए इन्होंने मुझे बन्द कर रक्खा है। मुझे बन्द किए १० दिन हो गए। मैं खिड़की से नित्य राह चलतों को इशारे करती थी, कि कोई छुड़ावे। आखिरकार पुलिस ने आकर हमें छुड़ाया।"

मैजिस्ट्रेट ने पूछा—तुम्हारे साथ भी कुछ गहना आदि था?

गोमती—जी हुज़ूर, मेरे पास २ हज़ार के लगभग गहना था, वह सब इन्होंने जमा करने के बहाने ले लिया।

"अच्छी बात है"—मैजिस्ट्रेट ने कहा, और उसे बैठा कर कहा—"अब गवाहों को बुलाओ।"

पुलिस-इन्स्पेक्टर ने गवाही दी :

"मैं अमुक थाने में इन्स्पेक्टर हूँ। अमुक नम्बर के कान्स्टेबिल के कहने से मैंने आश्रम के मकान पर धावा मारा। ये लड़कियाँ ताले में बन्द मिलीं। तलाशी में यह नक़दी, ज़ेवर और काग़ज़ात मिले। इन्हें लड़कियों ने शिनाख़्त से अपना बताया है।"

इसके बाद और भी २-३ गवाह लेकर मैजिस्ट्रेट ने कहा—अच्छा अभियुक्त क्या कहना चाहते हैं?

डॉक्टर ने बयान दिया :

"हुज़ूर मैं पुराना आर्य-समाजी हूँ। सब लोग मुझे जानते हैं। मैं कभी झूठ नहीं बोलता। नित्य सन्ध्या हवन करता हूँ। ये लड़कियाँ और गवाह सब झूठे हैं। विधवाश्रम बड़ी पवित्र संस्था है। स्त्रियों का उद्धार करना उसका उद्देश्य है। ये देखिए, छपे हुए सार्टिफ़िकेट हैं, जो बड़े-बड़े लोगों ने दिए हैं, मैं सबको धर्मपुत्री समझता हूँ। विवाह उनकी राज़ी पर ही होते हैं। गहने-कपड़े मैं सब देने को तैयार हूँ। मेरा उद्देश्य अधर्म का नहीं, धर्म का है। धर्म की जय होती है। यही ऋषि दयानन्द का मिशन है।"

गजपति ने कहा—"मैं इस मामले में कुछ नहीं जानता सिर्फ़ क्लर्की करता हूँ।" अन्य अभियुक्तों ने भी इन्कार कर दिया।

मैजिस्ट्रेट ने फ़ैसला लिखा :

"इस मुक़दमे के सम्बन्ध में मेरी मुख़्तसिर राय है, कि ऐसे ही पाखण्डियों से सच्चे धर्म का अनिष्ट होता है। धर्म चाहे सनातन हो, चाहे आर्य-

समाजी, या कोई भी समाजी—यदि उसमें सरलता, सत्यता और श्रद्धा तथा विश्वास है, तो वह प्रशंसनीय है। मैं यह जानता हूँ कि प्रत्येक मत में कुछ सच्ची लगन के सत्यवक्ता और कर्मिष्ठ आदमी हैं, जो वास्तव में प्रशंसा के योग्य हैं। इसके सिवा सभी सम्प्रदायों में कुछ पाखण्डी लोग भी होते हैं, जो भीतर कुछ और बाहर कुछ और होते हैं। पर अभियुक्तों-जैसे पेशेवर अपराधियों की श्रेणी तो पृथक ही है। ये, न केवल पेशेवर अपराधी ही हैं, प्रत्युत उसे किसी समाज या धार्मिक संस्था की आड़ में छिपा कर, उस संस्था का गौरव भी नष्ट करते हैं। निस्सन्देह समाज के लिए ऐसे आदमी कलङ्क-रूप हैं।

"यह बात तो सच है कि हिन्दू-समाज में स्त्रियों की दुर्दशा का अन्त नहीं है और वे चारों तरफ़ से प्रतारित होकर असहाय हो जाती हैं। उनकी सहायता के लिए ऐसे आश्रमों की स्थापना एक उच्च-कोटि के अस्पताल से कम पवित्र संस्था नहीं। मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि ऐसी संस्थाओं का सम्पर्क बहुधा भयानक पतिता स्त्रियों से पड़ना बहुत-कुछ स्वाभाविक है और उनके साथ थोड़ा अनैतिक व्यवहार होना भी असम्भव नहीं। विधवाओं के विवाह की उपयोगिता का कौन बुद्धिमान समर्थन नहीं करेगा। परन्तु अच्छी-बुरी सभी स्त्रियों को अवैध उपायों से फुसला कर इकट्ठा करना, उनके आचरण सुधारने तथा उन्हें शिक्षिता करने का कोई उद्योग न करके, रुपया लेकर लोगों को बेच देना; यही नहीं, उन्हें फुसला कर वापस बुलाना और दुबारा-तिबारा बेचना भयानक अपराध और जघन्य पाप है। ख़ास कर जब वह ऐसे आदमियों के द्वारा किया जाय, जिन पर जनता विश्वास करती और सत्पुरुष समझती है। यह सम्भव है कि संस्था को गुण्डों और दुष्ट स्त्रियों से सावका

पड़ता रहे, पर यह उचित नहीं कि वह गुण्डों के हाथ में आश्रम को सौंप दे, गुण्डों को अधिकारी बनाए। अभियुक्तों पर जो आरोप प्रमाणित हुए हैं—वे सङ्गीन हैं और ऐसे आदमी समाज के लिए भयानक हैं। मैं इन्हें उनकी दुष्टता के लिए डॉक्टर सुखदयाल को २ वर्ष और अन्यों को ६-६ मास का सपरिश्रम कारावास की सज़ा देता हूँ।"

दण्डाज्ञा सुनते ही डॉक्टर साहब तो उसी भाँति टेढ़ी गर्दन करके और बूढ़े बकरे की भाँति दाँत निकाल कर हँस दिए। परन्तु अधिष्ठात्री जी धाड़ मार कर रो दीं। गजपति भी ग़ुस्से से होंठ चबाने और गालियाँ बकने लगा।

पुलिस ने सबको पकड़-पकड़ कर सीखचों में बन्द कर दिया और तीनों स्त्रियाँ मय अपने सामान के स्वाधीन हो और एक बार 'पिता जी नमस्ते' का व्यङ्ग करके अपनी राह लगीं!

प्रबुद्ध

वृद्ध महाराज शुद्धोदन आज विशेष प्रसन्न-वदन दिखाई पड़ रहे थे। वे प्रासाद के भीतरी अलिन्द में एक स्फटिक मणि की पीठ पर बैठे थे। उन्हीं के सम्मुख कुछ दूर पर खड़े हुए प्रतिहार को पुकार कर कहा—अरे! देख तो, युवराज सिद्धार्थ अभी मृगया से लौटे या नहीं?

प्रतिहार ने आगे बढ़ और धरती पर बल्लम टेक कर कहा—परम परमेश्वर, परम वैष्णव, महाभट्टारक पादीय महाराजाधिराज की जय हो! भट्टारक पादीय महाकुमार अभी-अभी मृगया से लौटे हैं और वे वायु मण्डप में विश्राम कर रहे हैं।

"अच्छा-अच्छा, महानायक प्रबुद्धसेन और महामात्य विजयादित्य को तो यहाँ भेजदो।"

प्रतिहार ने नत-मस्तक हो प्रस्थान किया। महाराज ने चँवरवाहिनी को सङ्केत से निकट बुला कर कहा—जा, राजमहिषी से कह दे कि आज ही तो भाण्ड-वितरण का दिन है, सभी राजकुमारियाँ आ गई होंगी। वे स्वयं उनकी शुश्रूषा करें, ऐसा न हो कि किसी को खिन्न होने का अवसर मिले।

महानायक प्रबुद्धसेन ने स्थिर भाव से सम्मुख खड़े होकर और खड्ग को उष्णीष से लगा कर पुकारा—परम परमेश्वर, परम वैष्णव × × ×

महाराज ने बीच ही में हँस कर कहा—हुआ, महानायक, आज सभी सेना सज्जित रहनी चाहिए। ज्योंही कुमार सिद्धार्थ अन्तिम भाण्ड वितरण करें, त्योंही जयघोष और सैनिक-अभिवादन होना चाहिए। आज ही कुमार सिद्धार्थ सेना को पताका प्रदान करेंगे।

महानायक ने नत-मस्तक होकर कहा—महाराज की जय! समस्त सेना सज्जित होकर भट्टारक पादीय महाराज कुमार के अन्तिम भाण्ड-वितरण की प्रतीक्षा कर रही है।

महामात्य बिजयादित्य ने नत-जानु होकर महाराज का अभिवादन किया। महाराज ने प्रफुल्ल-वदन होकर कहा—महामात्य! अब तो समय समुपस्थित है, फिर विलम्ब क्यों! सभी राजकुमारियाँ आ तो गईं तुम कुमार सिद्धार्थ को तृतीय अलिन्द में ले आओ, वहीं भाण्ड-वितरण किया जायगा। हाँ, तुम कुमार के सर्वथा निकट रहना और उनकी गति-विधि का सूक्ष्म निरीक्षण करते रहना। नेत्रों का तारतम्य और ओष्ठप्रस्फुर, गूढ़ मनोगत भावों को प्रदर्शित कर देगा। ज्योंही तुम देखो कुमार किसी कन्या के प्रति आकर्षित हुए हैं, त्योंही तुम शङ्ख-ध्वनि करना, और पुरोहित को शुभ-सम्वाद देकर मेरे निकट भेज देना। इतना कह कर महाराज हँस दिए।

वृद्ध महामात्य भी हँसे। उन्होंने कहा—जो आज्ञा, परन्तु कोली राजकन्या यशोधरा अभी तक नहीं आई हैं। वह......

बीच में ही एक दण्डधर ने उपस्थित हो, उच्च स्वर से जयनाद करके कहा—कोली राजकन्या भट्टारक पादीय महाराज कुमार से भाण्ड-प्रसाद पाने की अभिलाषा से द्वार पर उपस्थित हैं।

महाराज ने हठात् खड़े होकर कहा—जाओ-जाओ राजमहिषी से कहो कि वे राजनन्दिनी का यथेष्ट स्वागत करें।

महामात्य ने नत-मस्तक होकर कहा—तो अब मैं जाता हूँ।

"शुभं ते पन्थानः स्युः।"

महाराज फिर अलिन्द में अकेले रह गए। उस समय न जाने कितनी सुखद स्मृतियाँ उनके हृत्पिण्ड को विकसित कर रही थीं।

२५

वायु-मण्डप की एक स्वच्छ शिला पर राजकुमार सिद्धार्थ विषण्ण-वदन बैठे थे। उनके शरीर पर केवल एक उत्तरीय और अधोवस्त्र था। वे मानो किसी गहन चिन्ता में मग्न थे। वसन्त की मृदुल वायु उनके काकपक्ष को लहरा रही थी। कुसुम-गुच्छ झूम-झूम कर सौरभ बिखेर रहे थे। तप्त वर्ण के समान उनकी शरीर-कान्ति उन महीन वस्त्रों से बिखरी पड़ती थी। उनका मुख, चिन्तन की गम्भीर भावना के कारण प्रस्फुटित कैशोरावस्था की उत्फुल्लता से रहित होगया था; पर उसका अप्रतिभ सौन्दर्य कुछ और ही रङ्ग ला रहा था। उनकी सुडौल गर्दन, विशाल वक्षस्थल, प्रलम्ब बाहु, और केहरी-जैसी ठवन असाधारण थी। सुकोमल हृद्गत भाव, सुकुमार देह और पुंसत्व का उद्गम एक अलौकिक मिश्रण बना रहा था। वे शिला-खण्ड पर बैठे दोनों

हाथों में जानु देकर सम्मुख पुष्करिणी में खिले एक कमल-पुष्प पर बारम्बार मत्त भ्रमर का प्रणय-आक्रमण देख रहे थे। परन्तु उस विनोद का कुछ प्रभाव उनके हृदय पर था—यह नहीं कहा जा सकता। उनकी दृष्टि भ्रमर पर थी अवश्य, पर वे किसी गूढ़ जगत में विचर रहे थे। कभी-कभी उनके होंठ फड़क उठते और कोई अस्फुट शब्द-ध्वनि उनमें से निकल जाती थी। वे इतने मग्न थे कि कब कौन उनके निकट आ खड़ा हुआ है, यह उन्हें ज्ञात ही नहीं हुआ।

पीछे से स्पर्श पाकर उन्होंने चौंक कर देखा और सम्भ्रान्त भाव से खड़े होकर आगत वृद्ध पुरुष को प्रणाम करते हुए बोले—आर्य की उपस्थिति का मुझे कुछ भी भान नहीं हुआ।

वृद्ध महापुरुष ने हँस कर कहा—होगा कैसे तुम स्वयं उपस्थित रहो तब न ? क्षण भर भी एकान्त हुआ, और तुम गम्भीर चिन्तन में मग्न हुए। कुमार! क्या प्रतापी शाक्य वंश के एक मात्र उत्तराधिकारी के लिए यह उचित है ?

"आर्य, क्षमा कीजिए। मैं भविष्य में इसका ध्यान अवश्य रक्खूँगा; परन्तु × × × आज मेरी परीक्षा हो गई न ?

"आशातीत, तुम्हारे-जैसे अन्यमनस्क शिष्य से मुझे इतनी आशा न थी, सभी कहते थे कि कुमार लक्ष्य-वेध न कर सकेंगे। तुम अभ्यास ही कब करते थे ? परन्तु आज तुम्हारा हस्त-लाघव देख कर मैं गद्‌गद हो गया। कुमार! मैं धन्य हुआ। तुम शाक्य वंश के दीपक होगे। मैं भविष्य वाणी करता हूँ—तुम अप्रतिम योद्धा × × ×" वृद्ध पुरुष ने कुमार के कन्धे पर स्नेह से हाथ रख कर उपरोक्त वचन कहे।

कुमार ने बीच ही में बात काट कर कहा—आर्य ! पुरजन फिर तो मेरी परीक्षा की हठ न करेंगे ?

"कभी नहीं, वे पूर्ण सन्तुष्ट हैं, सर्वत्र ही तुम्हारी अप्रतिभ शस्त्रकला की चर्चा हो रही है । पर तुम क्या विशेष थके हुए हो ?"

"तनिक भी नहीं ।"

"तब यह एकान्त सेवन क्यों ? वह गम्भीर चिन्तन क्यों ? और यह विषण्ण मुख-मुद्रा क्यों ?"

"आर्य अत्यन्त स्नेह के कारण ऐसा विचार करते हैं । परन्तु × × × अरे ! महामात्य इधर ही आ रहे हैं—आर्य ! हमें आगे बढ़ कर अमात्यवर का अभिवादन करना चाहिए ।"

दोनों व्यक्ति वायु-मण्डप के द्वार तक बढ़ आए । महामात्य ने हँस कर कहा—महाभट्टारक पादीय महाराज कुमार की जय हो ! आप आज आखेट में विजय प्राप्त कर आए हैं । इस सुसमाचार से अन्तःपुर में विशेष उल्लास हो रहा है; महिषी की इच्छा है कि आज सभी राजकुमारियाँ समुपस्थित हैं कुमार उन्हें अपने हाथों से रत्न-भाण्ड प्रदान कर प्रतिष्ठित करें ।

कुमार ने सलज्ज भाव से कहा—माता जी की जैसी आज्ञा । तीनों व्यक्ति धीरे-धीरे प्रसाद की ओर चल दिए ।

३

ऊषा की आलोकित रश्मि-रेखा की तरह सबके अन्त में राजनन्दिनी यशोधरा ने कक्ष में प्रवेश किया, मानो उन्हें देखते ही कुमार सिद्धार्थ का चिर-निद्रित यौवन जाग्रत हो उठा । वह धीरे-धीरे सौरभ, आलोक और शोभा विखेरती हुई व्यास पीठ तक पहुँच कर कुमार के सम्मुख खड़ी हो गई ; वह

सिमट रही थीं और झुक रही थीं, न जाने अविकसित यौवन के भार से अथवा लज्जा के भार से; वह सम्मुख खड़ी होकर भूमि पर दृष्टि गड़ाए पद-नख से धरती पर बिछे स्फटिक-प्रस्तर पर रेखा खींचने का व्यर्थ प्रयास कर रही थीं।

कुमार चित्र-लिखित से देखते रह गए। वे जाग्रत भी प्रसुप्त-से थे। कुमार के निकट खड़े अमात्यवर ने कहा—कुमार! राजनन्दिनी को भाण्ड प्रदान करो।

कुमार ने घबरा कर इधर-उधर देखा और अस्त-व्यस्त स्वर में कहा—शुभ्रे! तुमने अति विलम्ब किया भाण्ड तो सभी वितरण हो चुके।

राजनन्दिनी क्षण भर उसी तरह खड़ी रहीं फिर उन्होंने ऋजु-प्रणाम करके लौटने का उपक्रम किया।

कुमार असंयत होकर आगे बढ़े और कण्ठ से मणिमाला निकाल कर उन्होंने कुमारी के गले में डाल दी। कुमारी ने दृष्टि उठा कर कुमार के प्रदीप्त स्वर्ण-मुख की ओर देखा। वे पत्ते की तरह काँपने लगीं और उनका मुख प्रस्वेद से भीग गया। कुमार जड़वत खड़े थे। हठात् महामात्य ने ज़ोर से शङ्ख-ध्वनि की और क्षण भर में भुशुण्डिकाएँ गर्ज उठीं, उसके बाद ही विविध वाद्य ध्वनि से राजप्रसाद गुञ्जायमान हो गया।

कुमार ने विचलित होकर कहा—आर्य! यह क्या हुआ? पर उन्होंने देखा, कक्ष में वे हैं और पुष्पभार से झुकी हुई लतिका के समान राजनन्दिनी यशोधरा हैं। उन्होंने साहस करके कहा—राजनन्दिनी क्या प्रतिदान की अभिलाषा रखती हैं?

कुमारी के अधरोष्ठ में एक क्षीण हास्य-रेखा और कपोलों पर लाली आई और गई। उन्होंने नत-जानु होकर कुमार का अभिवादन किया और चली गईं।

४

क्या हम प्रेम की व्याख्या करें ? उस प्रेम की, जहाँ शरीर, सम्पत्ति का माध्यम नहीं है; जहाँ केवल प्राणों में प्राणों का लय है; जो नेत्र-पटल पर नहीं तौला जाता ; केवल आत्मा जिसमें विभोर होती है ; जो जीवन से मृत्यु तक और मृत्यु से परे भी वैसा ही पारिजात-कुसुम की तरह अक्षय विकसित रहता है; वासना का जहाँ सम्पर्क नहीं; भोग और तृप्ति का जहाँ प्रसङ्ग नहीं ; अभिलाषा और अरुचि दोनों ही जहाँ नहीं; सुख नहीं आनन्द है; जहाँ कुछ भी प्राप्त करने की अभिलाषा नहीं—सब कुछ प्राप्त है ।

इस पृथ्वीतल पर दाम्पत्य जीवन में यह प्रेम किस महाभाग ने प्राप्त किया ???

गौतम ने यशोधरा का अञ्चल खींच कर कहा—गोपा प्रिये ! अब बस करो, चङ्गेरी तो भर चुकी । अब इन पुष्पों को लताओं में इसी तरह विकसित छोड़ दो । ये कल तक तो खिले रह सकेंगे ? देखो, जिन डालियों के पुष्प तुम तोड़ चुकी हो, वे कितनी अशोभनीय हो गई हैं ?

"होने दो, आर्यपुत्र ! ये कल फिर फूलों से लद जायेंगी । यह तो प्रकृति का स्वाभाव है ? आप व्यर्थ ही इतना विवाद करते हैं ।"

"व्यर्थ ? नहीं प्रिये । इन कुसुम-लतिकाओं के प्रति तुम्हारा आचरण नितान्त निष्ठुर है । अभी प्रातःकाल तो तुम इन्हें अपने हाथों सींच रही थीं —क्या इसीलिए ?

"और नहीं तो क्या ? आर्यपुत्र क्या मुझे ऐसी ही निःस्वार्थ समझे बैठे हैं ? मैंने सींचा है तो फूल भी चुनूँगी । यह तो जगत की गति ही है और यह निष्ठुर आचरण क्या इतना ही ? अभी तो मैं सूची से गूँथ कर माला बनाऊँगी । ये यूथिका, चम्पा और कुन्द क्या योंही अस्त-व्यस्त चङ्गेरी में पड़े रहेंगे ? जैसे आर्यपुत्र के विचार पड़े रहते हैं ?"

"उलाहना मत दो प्रिये! तुम्हे तो उदार होना ही चाहिए। तुम राज-नन्दिनी हो, हाय-हाय! क्या तुम इन कोमल पुष्पों को सूई से बिद्ध करोगी?"

"आर्यपुत्र! देखते रहें मैं एक-एक को विद्ध करूँगी? मैं राजनन्दिनी हूँ, पालन करना, कर-ग्रहण करना और दण्ड-भय से शासन और सुव्यवस्था बनाए रखना मेरा कर्त्तव्य है। जल-सिञ्चन करके मैंने पालन किया, पुष्पचयन करके कर-ग्रहण कर रही हूँ और अब शूची-शस्त्र के बल से सुव्यवस्थित करके माला बनाऊँगी। फिर आर्यपुत्र के वक्षस्थल पर वह सुशोभित होगी और मेरे परिश्रम का वेतन मुझे प्राप्त होगा।"—इतना कह कर गोपा हँस पड़ी।

महाराज-कुमार सिद्धार्थ ने उसे दृढ़ता से पकड़ कर कहा—पर मैं विद्रोह करूँगा, अब मैं तुम्हें अधिक यह कर-शोषण नहीं करने दूँगा, प्रिये! चाहो तो मुझे दण्ड दो।

"अच्छी बात है। मैं तुम्हें बाँधकर डाले देती हूँ।" इतना कह कर गोपा ने अपने दृढ़ भुजा-पाश में कुमार को बाँध लिया।

महाराज कुमार के अन्तस्तल में सदैव जाग्रत प्रबुद्ध-सत्ता उस मद से क्षण भर को मूर्छित होगई। उन्होंने पत्नी-श्रेष्ठ को प्रगाढ़ आलिङ्गन करके चुम्बय किया।

गोपा ने हँस कर कहा—आर्यपुत्र! स्मरण रक्खें कि यह अनुग्रह वेतन में न काटा जाय, पुरस्कार मात्र समझा जाय!

राजकुमार हँस पड़े। उन्होंने कहा—गोपा प्रिये! उस दिन तो तुम इतनी चपला न थीं, जिस दिन भाण्ड-वितरण × × ×

"आर्यपुत्र के पास इसी बात का क्या प्रमाण है कि मैं वही बालिका हूँ?"

"वही तो हो प्रिये ! यह नेत्र और यह अधरोष्ठ, इन्हें क्या मैं भूल जाऊँगा ? ओह, इन्हीं ने तो मुझे ठगा है।"—राजकुमार मानो एक गम्भीर चिन्तन में पड़ गए।

गोपा ने व्याजकोप से कहा—आर्यपुत्र को भ्रम हुआ है। वे थीं राजनन्दिनी यशोधरा—कोल-कुमारी, और मैं हूँ भगवती गोपा—शाक्य सिंहासन की युवराज्ञी।

"अच्छा-अच्छा प्रिये ! अब चलो, प्रासाद में चलें, सूर्य अस्त हो रहा है; तुम्हें शीत का भय है।"

" जो आज्ञा आर्यपुत्र !"

५

"अर्द्ध रात्रि तो कब की व्यतीत हो गई। त्रिशिरा नक्षत्र आकाश के मध्य भाग में आ गया ! आर्यपुत्र क्या अभी शयन न करेंगे ?"

"ओह प्रिये ! तुम अभी तक जाग रही हो ?"

"सारा संसार मोहमयी निद्रा में शयन कर रहा है।"

"हाय ! यह कैसे दुःख का बिषय है ?"

"कैसा घोर अन्धकार है ?"

"पर मेरा हृदय प्रकाशित है।"

"मेरे प्रभु ! इतने निकट होने पर भी मैं उस प्रकाश की एक किरण भी नहीं देखती।"

"मैं उसे संसार के प्राणिमात्र को दिखाने की बात ही सोच रहा हूँ।"

"इस स्तब्ध अन्धनिशा में ?"

"अन्धनिशा तो मानव-हृदय में ओत-प्रोत है। तुम समझती हो, जब

सूर्योदय होगा तब वह छिन्न-भिन्न हो जायगी ?"

"मैं मूर्ख स्त्री और क्या सोचूँगी ?"

"नहीं गोपा, आत्म-प्रतारणा की आवश्यकता नहीं; पर इस बात को तो सोचो। मानव-आत्मा, न जाने कब से उसी प्रकार सो रही है, जैसे इस समय संसार, और वह उसी प्रकार अन्धकार में व्याप्त है, जैसे इस समय पृथ्वी। यह निद्रा और अन्धकार कुछ समय में दूर हो जायगा, ऊषा का उदय होगा, जगत सुन्दर हो जायगा, प्रकृति भाँति-भाँति के रङ्ग का शृङ्गार करेगी, आलोक से आकाश और भूलोक शोभायमान होगा, आह! कैसी सुन्दर बात है, परन्तु मानव-हृदय का अन्धकार, और सुषुप्ति तब भी दूर न होगी। यह अक्षय अन्धकार, यह चिर मोह-निद्रा मनुष्य पर शाप है। मनुष्य-जाति के इस दुर्भाग्य पर तुम्हें करुणा नहीं आती ?"

"और इस अनन्त मानव समुदाय में अकेले आर्यपुत्र जाग्रत हैं ?"

"प्रिये! व्यंग्य क्यों करती हो ?"

"अच्छा, आर्यपुत्र! इस अन्धकार में जाग्रत होकर किस सौभाग्य की आशा करते हैं ? इस अन्धकार में तो जाग्रत पुरुष की अपेक्षा सुख से सोए पुरुष ही अधिक भाग्यशाली हैं ?"

कुमार ने उत्तेजित होकर गोपा का हाथ पकड़ लिया, कहा—"किन्तु, यदि उनका कभी प्रभात न हो तो ? उस निद्रा का कभी अवसान न हो तो ?

गोपा विचलित हुई, निरुत्तर हुई। वह पति के निकट बैठ कर कुछ सोचने लगी।

सिद्धार्थ ने कहा—"प्रिये! यदि मैं अपने हृदय के प्रकाश की रेखा से

इस अन्धकार को छिन्न-भिन्न कर सकूँ ? जाग्रत होकर मानव-समाज सुन्दर आलोक देखे तो, गोपा ? क्या हमारा जीवन धन्य न होगा ?"

"अवश्य !"—गोपा ने दृढ़ता से कुमार का हाथ पकड़ कर कहा।

"तब इसके लिए हृदय विदीर्ण करना पड़ेगा।"

"विदीर्ण ???"

सिद्धार्थ कुछ न बोले। दोनों महाप्राण आन्दोलित हो रहे थे। "हृदय विदीर्ण करना होगा ?" गोपा का माथा घूमने लगा। वह ज़ोर से कुमार का आलिङ्गन करके रोने लगी। वह बहुत कुछ कहना चाहती थी, पर कुछ कह न सकती थी; वह बहुत दिन से एक आशङ्का को मन से दूर करने की चेष्टा कर रही थी, पर कर नहीं सकती थी। कुमार के भाव को वह कुछ समझ न सकी, पर 'हृदय विदीर्ण' होने की भावना भी वह सह न सकी—वह पति के वक्षस्थल पर गिर कर फूट-फूट कर रो उठी।

एक बार महाराज कुमार की अन्तर्हित प्रबुद्ध सत्ता फिर मूर्च्छित हुई। उन्होंने गोपा को गाढ़ आलिङ्गन करके बारम्बार उसका चुम्बन किया।

धीरे-धीरे दोनों प्राणी शयन-कक्ष की ओर चले गए।

६

"देखो प्रिये, यह क्या हो रहा है ?"—कुमार ने मुर्झा कर डाली पर झुके हुए एक पुष्प की ओर सङ्केत करके कहा।

गोपा ने देखा और वह आश्चर्य-चकित हो कुमार की तरफ़ देख कर बोली—"आर्यपुत्र का अभिप्राय क्या है ?"

"अभी कुछ देर पूर्व सूर्य की किरणों ने इस पुष्प को छुआ, यह खिल

पड़ा। सूर्य तो अस्त हो रहा है, और यह मुर्झा रहा है ; अब यह सूख कर झड़ जाएगा।" यह कह कर उन्होंने पत्नी की ओर देखा।

गोपा कुमार की मुख-मुद्रा को एक टक देख रही थी। कुमार ने फिर कहा—"गोपा प्रिये! मनुष्य का जीवन भी ऐसा ही है। उनकी दृष्टि गोपा के मुख से हट कर एक बार दोलायमान हुई और फिर वह दूर क्षितिज पर डूबते हुए सूर्य पर अटक गई। मुख पर कुछ हास्य की रेखा आई; पर वह गई नहीं। वे जड़वत वैसे ही बैठे रहे।

गोपा घबरा गई। उसने कहा—"आर्यपुत्र अब और क्या विचार रहे हैं?"

कुमार ने चौंक कर कहा—"ओह, कुछ भी तो नहीं, प्रिये! आज मैं नगर में गया था। वहाँ मैंने राजपथ पर एक पुरुष देखा, वह एक लाठी के सहारे बड़े कष्ट से चल रहा था, उसके नेत्र इतने विभ्रम थे कि उनकी अपेक्षा नेत्र न होते तो हानि न थी; दाँत सभी गिर गए थे, उससे उसका मुख तो विकृत हो ही गया था, वाणी भी अस्पष्ट हो गई थी, उसकी खाल काली होकर लटक गई थी, और हड्डियाँ चमक रही थीं, उसका अङ्ग-अङ्ग काँप रहा था। वह बड़े चाव से मेरी ओर देख रहा था, मैं उसके निकट गया। उसने काँपते-काँपते ऊपर हाथ उठा कर मेरा अभिवादन किया, और कहा—"कुमार! एक दिन मैं तुमसे भी अधिक सुन्दर था और एक दिन तुम भी ऐसे हो जाओगे।" मैंने सोचकर देखा, प्रिये! उसका कथन सत्य हो सकता है।"

गोपा कुमार की ओर देखती रही ; उसके होठ काँप कर रह गए।

कुमार बोले—"कुछ आगे चलने पर एक और हृदय-द्रावक दृश्य देखा। एक पुरुष को लोग उठा कर लिए जा रहे थे। मैंने उन्हें रोक कर पूछा—यह क्या है? उन्होंने कहा—यह मर गया है। मैंने उसे देखा, वह न हिल

सकता था, न बोल सकता था—उसमें प्राण नहीं था। वे उसे भस्म करने को ले जा रहे थे। एक ने कहा—अन्त में सभी को ऐसा होना पड़ेगा।"

राजकुमार हठात उठ खड़े हुए। उन्होंने शून्य दृष्टि से आकाश की ओर देखा। उनके हृदय को मानो कोई ज़ोर से मन्थन कर रहा था। उन्होंने कातर कण्ठ से गुनगुना कर कहा—"यह कैसी भयानक दशा है! राजा और रङ्क यहाँ विवश हैं! क्या इस दुःख से छूटने का कोई उपाय ही नहीं है? फिर ये सुख, राजप्रसाद, धन और अधिकार विडम्बना मात्र हैं? जब ये चिरस्थायी ही नहीं, जब उस अवश्यम्भावी अवस्था के प्रतिकार में ये समर्थ ही नहीं तब?? उन्होंने ज़ोर से पुकार कर कहा—"गोपा प्रिये! तब ?"

गोपा कुमार की मुख-मुद्रा और भवभङ्गी से डर गई। उसने त्रस्त स्वर में कहा—आर्यपुत्र, क्या सोच रहे हैं?

"प्रिये! कोई गूढ़ वस्तु कहीं छिपी है?"

"इस राजसम्पदा से, अधिकार सत्ता से भी अधिक?"

"हाँ।"

"इस यौवन, सौन्दर्य और आनन्द से अधिक?"

"हाँ।"

"आपकी इस चिर-किङ्करी से भी अधिक?"

"ओह, गोपा प्रिये, ठहरो! वह गूढ़ वस्तु हमें प्राप्त करनी चाहिए।"

"और वह है कहाँ?"

"मैं उसे ढूढ़ूँगा; वह मनुष्य मात्र के दुःख को दूर करने की तालिका हो गी।" उनके होंठ फड़कने लगे, और नेत्र उन्मीलित हो गए!

गोपा एक बार कम्पित हुई। उसने कुमार का हाथ पकड़ कर उठाया।

और कहा—"आर्यपुत्र ! नगर निरीक्षण तो आपने किया, अब मेरी सारिका का निरीक्षण भी कीजिये । देखिए, यह आपकी तरह मेरा नाम लेकर पुकारना सीख गई है । आज आपको उस मयूर के जोड़े को स्वयं भोजन कराना होगा । इसके सिवा आज आप अन्धकार-निरीक्षण न कर सकेंगे ? अभी से शयन-कक्ष में रहना होगा ।"

बहुत चेष्टा करने पर उसके होठों पर हास्य आया । कुमार ने अन्य-मनस्क होकर कहा—"अच्छा प्रिये ! तुम्हारी ही बात रहेगी ।"

७

"पुत्र ? हे भगवान ! यह नया बन्धन और उत्पन्न हुआ ! गोपा क्या कम थी ? वह आनन्द और हास्य का मधुर अमृत एक क्षण भी मुझे नीरस नहीं रहने देना चाहता, परन्तु जो स्वभाव से नीरस है, वह सरस होगा कैसे ? गोपा के प्रेम-पाश को तोड़ने में मैं कितना बल लगा चुका, वह टूटा नहीं, अब यह पुत्र ? अरे, कैसा सुन्दर है यह, केवल एक बार देखने के लिये मैंने समस्त संयम नष्ट कर दिया । वह स्वर्ण की दीप्त कान्ति धारण करने वाला अर्द्धनिमीलित नेत्र, छोटा-सा मुख, मानो मेरी ही एक सजीव छाया—मुझसे पृथक, परन्तु मेरे प्राणों की एक कोर ! मैंने प्राण दिया और गोपा ने शरीर । गोपा के समान ही सुन्दर और प्रिय, कोमल रुचिर । अरे ! वह मेरा पुत्र है । हम दोनों के प्राण और शरीर जिस महायोग में एक राशि पर आए, वह इन्द्रियातीत आनन्द का आदान-प्रदान जिस क्षण हुआ, उसकी ऐसी स्थायी स्मृति ? गोपा ! जादूगरनी, यह क्या किया ? उस एक क्षण के करोड़वें हिस्से की आनन्द-लहर को तूने ऐसा स्थिर बना दिया ? मैंने उसे गोद में उठाया । गोपा का वह मूक अनुरोध और वह अप्रतिभ उल्लास !

गोपा के नेत्रों में मानो उसके प्राण ही आ गए थे। उसने उसे मेरी गोद में दिया और मेरे चरण चुम्बन किए—यह इतनी विनय क्यों ? तब गोपा प्रिया अब मातृभाव में परिप्लावित हुई ? अच्छा ठहरो, उसके नेत्र कैसे थे ? गोपा ने कहा, ठीक मेरे जैसे ? अरे ! कहीं मैंने ही तो जन्म नहीं ले लिया ? नहीं तो उस अबोध बालक पर मेरी इतनी ममता क्यों होती ? मेरा उसका परिचय कब का है ?"

राजकुमार को कोमल शैया पर नींद न आई। चुपचाप उठकर उपवन में टहलने लगे। उनके विचारों में फिर उत्तेजना उत्पन्न हो गई। वे पुत्र की बात को सोचते-सोचते चिन्ता में मग्न हो गए—ऐं ! यह कैसा सुख, यह कैसा सौभाग्य, जिसमें निद्रा का नाश हो गया ? सारा संसार तो सो रहा है। यही तो चिन्तनीय विषय है, जो सुख है वह भी दुःख का मूल है। कोई भी ऐसा मनुष्य नहीं जो मानव-जीवन की इस कठिन व्याधि का उपाय जानता हो।—राजकुमार एक जामुन के वृक्ष के नीचे बैठ कर जीवन, मरण और उत्पत्ति के विचार में लीन हो गए।

उस अभेद्य अन्धकार में मानो उनके दिव्य चक्षु खुल गए। उनसे उन्होंने देखा—संसार का सुख दुखदाई, मृत्यु अनिवार्य और भवितव्य है, पर यह जान कर भी लोग अज्ञान के अन्धकार में ही अपना जीवन व्यतीत करते हैं, और सत्य की खोज नहीं करते ! कुमार का हृदय अगाध दया से भर गया।

हठात राजकुमार ने देखा, सन्मुख वृक्ष के नीचे एक गम्भीर महापुरुष खड़े हैं। कुमार ने पूछा—"तुम कौन हो ? और कहाँ से आते हो ?"

"मैं श्रमण हूँ, बुढ़ापे के दुःखों और रोगों की पीड़ा और मृत्यु के भय

से मैं घर-द्वार का परित्याग करके निकला हूँ ; मैं मुक्ति अन्वेषक हूँ, क्योंकि संसार के सब पदार्थ नाश हो जाते हैं, केवल सत्य ही सदा साथ रहता है। प्रत्येक वस्तु बदलती रहती हैं, कोई पदार्थ स्थिर नहीं है। मैं अक्षय आनन्द को चाहता हूँ। मैंने संसार त्याग दिया है। मैं भिक्षा माँग कर खा लेता हूँ। मैंने इन्द्रियों को वश में कर लिया है, मैं अपने उद्देश्य में तत्पर हूँ।"

"मैं भी इन्द्रियों के विषयों की निस्सारता अच्छी तरह समझ गया हूँ। मुझे भोग से घृणा हो गई है। मेरा जीवन मुझे शून्य दीखता है। क्या तुम कह सकते हो, कि इस अशान्त जगत में कहीं शान्ति मिल सकती है ?"

"जहाँ उष्णता है वहाँ शीतलता भी है। पर महान सुख के लिए महान परिश्रम भी करना होगा। पापविद्ध व्याकुल आत्मा को उस कल्याण-मार्ग का शोध करना चाहिए, जो निर्वाण की ओर जाय। निर्वाण-सरोवर में स्नान करने से सारे पाप धुल जाएँगे।"

"आह ! तुम्हारा सुसमाचार शुभ है। मेरे पिता और पत्नी मुझे राजकार्य में लगाना चाहते हैं। वे घराने की कीर्ति के इच्छुक हैं, वे कहते हैं—यह समय धर्मजीवी बनने के उपयुक्त नहीं।"

"याद रक्खो कुमार ! धर्म-पालन के लिए, सत्य की खोज के लिए, परमानन्द की प्राप्ति के लिए, कोई समय अनुपयुक्त नहीं।"

"महाश्रमण धर्मान्वेषण का समय आ गया, मैं उन सब बन्धनों को तोड़े डालता हूँ, जो धर्म-प्राप्ति में बाधक हैं।"

राजकुमार ने एक बार उच्च अट्टालिका की ओर देखा। श्रमण ने कहा— "कुमार सिद्धार्थ ! तुम्हारी जय हो ! तुम महान हो ! तुम तथागत हो ! देखो, सत्य को पराकाष्ठा तक पहुँचाना। जिस प्रकार सूर्य सब ऋतुओं में स्थिर

होकर अपने नियमित मार्ग पर चलता है, उसी प्रकार तुम भी सत्य-पथ पर अटल रहना। तुम 'बुद्ध' होगे तुम लक्षावधि मनुष्यों की बुद्धि को शुद्ध करोगे तुम जगत के पथ-प्रदर्शक होगे।"

सिद्धार्थ ने देखा—महापुरुष यह कहते-कहते अन्तर्धान हो गए।

वे उठ खड़े हुए। उन्होंने कहा—"मैंने सत्य का साक्षात कर लिया। मैं अब सङ्कल्प सिद्ध करूँगा। मैं सब बन्धनों को तड़ूँगा। मैं बुद्ध-पद प्राप्त करूँगा।"

वे धीरे-धीरे गम्भीर चिन्तन करते हुए अलिन्द की ओर लौटे।

माता और पुत्र सुख-नींद में बेसुध सो रहे थे। गोपा के अरुण अधर पर हास्य की रेखा फैल रही थी, और उनके बीच कुन्द-कली के समान दाँत चमक रहे थे। 'वह किस सुख-स्वप्न को देख रही है' ?—कुमार क्लान्त-भाव से खड़े-खड़े यही सोचने लगे। गोपा का एक हाथ शिशु के वक्ष पर था। उस सुगन्धित कक्ष में शिशु का छोटा, किन्तु अति प्रतिभावान मुख दीप्त हो रहा था। सिद्धार्थ का हृदय भर आया। उन्होंने प्रण किया—मैं सङ्कल्प पर स्थिर रहूँगा। फिर भी उनके नेत्रों से अश्रुधारा बह चली। वे बोले—और यह शोकावेग कितना दुर्धर्ष है ? इस धारा के वेग को रोकना कितना कठिन है ? कुमार आगे बढ़ कर शय्या के पास घुटनों के बल बैठ गए। एक बार उन्होंने शिशु का मुँह चूमने का उपक्रम किया पर जागने के भय से वे वैसे ही बैठे रहे। गोपा की सुख-निद्रा पर उनकी दृष्टि थी। अश्रु वेग से उमड़ रहे थे। अन्त में उन्होंने हृदय में वह साहस सञ्चित किया, जो पृथ्वी पर कभी किसी तरुण ने नहीं किया था। वे धीरे से उठे। उन्होंने दोनों हाथों की मुट्ठी बाँध कर आकाश में स्तब्ध तारागणों की ओर देखा और फिर एक

दृष्टि गोपा के स्निग्ध यौवन और शिशु के अज्ञात मोह पर डाली और चल दिए !

पृथ्वी पर अन्धकार छा रहा था। उन्होंने फाटक पर आकर देखा, चन्न उपस्थित है।

"चन्न तुम क्या जाग्रत हो ?"

"परम परमेश्वर महाभट्टारक पादीय युवराज × ×"

"चन्न एक घोड़ा ले आओ।"

"जो आज्ञा।"

तारों के क्षीण प्रकाश में वह महान राजकुमार राजपाठ सुख-भोग और ऐश्वर्य पर लात मार कर महान प्रकाश की खोज में जा रहा था।

"चन्न ! बस अब आवश्यकता नहीं। तुम घोड़ा लेकर राजधानी चले जाओ।"

"स्वामिन ! मैं आप को प्राण रहते न छोड़ूँगा।"

"चन्न ! लो ये बहुमूल्य वस्त्र भी ले जाओ। अब कहो—तुम्हारा स्वामी कौन है ?"

"महायुवराज ! यह सम्भव ही नहीं।"

"ठहरो।" युवराज ने तलवार से अपने सुन्दर केश-गुच्छ काट कर तलवार चन्न के सन्मुख रख कहा—"तो इसे भी सँभालो।"

चन्न धरती पर गिर कर रोने लगा। वह बोला—"प्रभु ! मैं कदापि-कदापि न जाऊँगा।"

"चन्न ! वत्स ! हठ मत करो ! शोक भी मत करो आनन्दित हो।

मैं सत्य की खोज में जा रहा हूँ। मैं जगत को आनन्द प्रदान करूँगा। जाओ वत्स! पिता जी और गोपा को धैर्य प्रदान करो।"

एक आन्तरिक तेज़ से दीप्तमान पुरुष की तरह सिद्धार्थ चल दिए। चन्न पछाड़ खाकर गिर पड़ा। सिद्धार्थ के नेत्र सत्य के प्रचण्ड उत्साह से देदीप्यमान हो रहे थे। उनका यौवन-सौन्दर्य उस पवित्र तेज में परिवर्तित हो गया था, जो उनके श्रीमुख पर दृष्टिगोचर हो रहा था।

६

राजगृह महानगरी जनपूर्ण हो रही थी। प्रतापी विम्बिसार वहाँ के सम्राट थे। जब मध्याह्न काल होता—गृहस्थ भोजन कर चुकते—वीतरागी सिद्धार्थ भिक्षा-पात्र हाथ में लिए नगर की गलियों में भिक्षा माँगने निकलते। वह प्रभावान मुख-मण्डल, विनम्र गति, पृथ्वी पर झुके हुए नेत्र और ओष्ठ-सम्पुट से मृदु-ध्वनि में निकलने वाला 'कल्याण' शब्द नगरवासियों के लिए अपूर्व था। वे प्रत्येक घर से एक ग्रास भोजन ग्रहण करते थे और बारह ग्रास लेकर नगर के बाहर चले जाते। जनपथ और राजपथ पर उनके पीछे भीड़ लगी रहती। बाल-वृद्ध उनके लिए मार्ग छोड़ देते, उनके भिक्षा-पात्र में ग्रास डाल कर कृतार्थ होते, और सोचते कोई महान मुनि नगर में आए हैं।

सम्राट विम्बिसार ने सुनकर गुप्तचरों द्वारा जाना कि शाक्य वंश का राजपुत्र राज-पाट त्याग बनवासी हुआ है। वह राजकीय वस्त्र पहनकर, स्वर्ण-मुकुट सिर पर धारण कर, अमात्यों के सहित उससे मिलने आया। मुनि सिद्धार्थ वृक्ष के नीचे गम्भीर मुख-मुद्रा किए बैठे थे। विम्बिसार ने प्रणाम कर कहा—आपके हाथ में राज्य-रश्मि शोभा देती है, भिक्षा-पात्र नहीं। आपका तारुण्य इस तपस्या के योग्य नहीं। श्रेष्ठ और ज्ञानी पुरुषों की शक्ति-सम्पन्न

होना चाहिये। धर्म खोकर धनी होना उत्तम नहीं, पर धन, धर्म और बल को प्राप्त कर जो इन्हें दूरदर्शिता से भोग करे, वह मेरा गुरू है।

मुनि सिद्धार्थ ने आँख उठा कर सम्राट को देखा और कहा—राजन ! आप धार्मिक और विवेकी हैं, आपका कथन सत्य है; पर मैं सारे बन्धनों से पृथक हो चुका हूँ, क्योंकि मैं मोक्ष का जिज्ञासु हूँ। जिसे उस सच्चे ज्ञान की अभिलाषा है उसे उन सब बातों से विरक्त हो जाना चाहिए, जो उसके चित्त को अपनी ओर खींचती हैं। उसके लिए काम, क्रोध, लोभ, अधिकार का और वासनाओं का त्याग करना परम आवश्यक है। मैं ने वैभव की असारता को समझ लिया है और अब मैं अमृत के धोखे विष-पान नहीं करूँगा। सम्राट ! आप मुझ पर करुणा करने का कष्ट न उठाइए। करुणा के पात्र वे हैं, जो संसार की चिन्ता में दिन-रात व्याकुल रहते हैं; जिसके हृदय में न शान्ति है और न मन में एकाग्रता। हे राजन् ! कहिए तो एक राजा और भिक्षुक की मृतक देह में क्या अन्तर है ?

सम्राट विम्बिसार ने बद्धाञ्जलि होकर प्रणाम किया और कहा—हे त्यागी ! आप धन्य हैं ! आपकी मनोकामना पूर्ण हो ! परन्तु बुद्ध होने पर एक बार मुझे अपना शिष्य स्वीकार कर कृतार्थ अवश्य करें !

मुनि सिद्धार्थ ने सम्राट की प्रार्थना को स्वीकार किया और चल दिए।

१०

"हे विद्वानो ! क्या आप ही प्रसिद्ध दार्शनिक और तत्ववेत्ता आराद और उदरक हैं ? मैं आपसे आत्मा के विषय की जिज्ञासा करने आया हूँ ?"

"हे मुनि ! हम वही हैं। तुम्हें जो संशय हो, कहो।"

"मैं यह जानना चाहता हूँ, कि आत्मा क्या है ?"

"आत्मा वह है, जो देखता, चखता, सूँघता और छूता है; फिर भी वह न तुम्हारा शरीर है, न आँख, कान, नाक और न मुख। आत्मा वह है, जो त्वचा द्वारा छूता है, जिह्वा से रस लेता है, आँख से देखता, और कान से सुनता है।"

"विद्वानो! आत्मा की मुक्ति क्या है?"

"जिस प्रकार पक्षी पींजरे से छूट कर स्वतन्त्रता प्राप्त करता है, उसी प्रकार आत्मा सब बन्धनों और उपाधियों से छूटने पर मुक्त हो जाती है।"

"परन्तु क्या उष्णता अग्नि से भिन्न है? मनुष्य रूप, रस, वासना, संस्कार, बुद्धि, चित्त आदि का संघात है; यही संघात तो 'मैं' है; वही 'मैं' तो आत्मा है! तब वह भिन्न सत्ता कैसे हुई? और जब तक वह "अहं' शेष है तब तक तुम्हारी वास्तविक मुक्ति कदापि नहीं हो सकती।"

"परन्तु मुनि! क्या तुम अपने चारों ओर कर्म-फल को नहीं देखते? वह कौन सी बात है, जिसने मनुष्यों के आचार, विचार, अधिकार, जाति और वैभव में भिन्नता उत्पन्न कर दी है? वह कर्म-फल ही तो है।"

"कर्मफल तो है ही, पर आत्मवाद का आधार क्या है? संसार में कोई काम, वस्तु, फल या विचार नहीं हो सकता, यदि उसके पूर्व उसका कारण विद्यमान न हो। किसान जो बोवेगा, फसल पर वही काटेगा। परन्तु 'अहं' की भिन्न सत्ता और उसका शरीरोत्तर गमन, इसका प्रत्यक्ष प्रमाण क्या है? क्या मेरी व्यक्ति-विषेता प्रकृति और मन—दोनों का—संघात नहीं है? क्या मेरे व्यक्ति-वैशिष्य में शारीरिक और मानसिक दोनों शक्तियाँ सम्मिलित नहीं है? यदि किसी मनुष्य के अन्दर से भूख-प्यास चलना-फिरना, रोना-हँसना आदि निकाल दिए जायँ तो फिर उसकी मनुष्यता

की क्या सार्थकता रह गई ? इन प्राकृतिक और दैहिक बातों के बिना मनुष्य यथार्थ में क्या है ? जिस प्रकार कल का 'मैं' आज के 'मैं' का पूर्वज है, और कल के 'मैं' ने आज के 'मैं' में जन्म लिया है, एवं आज का 'मैं' कल के 'मैं' में फिर जन्म लेगा, उसी प्रकार पूर्व जन्मों का अनादि प्रवाह चल रहा है।"

"हे मुनि ! तुम अभी मूर्ख हो।"

"हे विद्वानो ! तुम मनन करो।"

कुमारसिद्धार्थ वहाँ से चल दिए। उस बिल्व-वन में पाँच तपस्वी कठोर तप कर रहे थे। मुनि सिद्धार्थ ने भी तप करना शुरू किया। छः वर्ष के कठोर तप से उनका शरीर सूख कर लकड़ी के समान हो गया, वे मृतप्राय हो रहे थे, उन्होंने सोचा—खेद है कि इन उपवासों और व्रतों से मुझे कुछ भी शान्ति नहीं मिली। यह सब मिथ्या है। वे उठे, उन्होंने स्नान किया, परन्तु दुर्बलता के कारण गिर पड़े। गोप-कन्या नन्दा ने दया कर उन्हें खीर दी जिससे उनके शरीर में बल का सञ्चय हुआ। वे तपश्चर्या छोड़ कर धीरे धीरे स्वस्थ होने लगे। अन्ततः वे वहाँ से भी चल दिए।

बोधि-वृक्ष निकट आ गया। मुनि ने उसे देखा। पृथ्वी कम्पायमान होने लगी। जगत में प्रकाश छा गया। मार—जो विषयों का पोषक, और मृत्यु का प्रेरक है, तथा सत्य का शत्रु है—आया। उसकी तीनों लुभावनी पुत्रियाँ अपनी राक्षसी सेना के साथ थीं। सम्मुख आए मार ने भयानक गर्जना की। मुनि बोधि-वृक्ष के नीचे शान्त बैठे रहे। उसकी तीनों पुत्रियों ने उन पर बाण फेंके, पर प्रबल जितेन्द्रिय के हृदय में कोई तामसी इच्छा न उत्पन्न हुई। तब समस्त दुष्ट आत्माओं ने उन पर एक साथ आक्रमण किया, पर

नारकीय ज्वालाएँ सुगन्धित पवन के झोंकों में परिवर्तित हो गईं, वज्रपात ने कमल-पुष्प का रूप धारण कर लिया। मार पराजित होकर भागा। एक अलौकिक तेज दिशाओं में व्याप्त हो गया।

मुनि सिद्धार्थ ध्यान-मग्न थे। वे संसार की विपत्तियों, कष्टों और दुष्कर्मों के बुरे परिणामों को प्रत्यक्ष देख रहे थे। वे सोच रहे थे—संसार की यह कैसी विचित्र गति है! वे एकाएक बोल उठे—धर्म सत्य है, धर्म ही मनुष्यों को अज्ञान, पाप और दुःखों से बचाता है। जीवन-विकास की बारह कड़ियाँ हैं, जिन्हें द्वादश निदान कहते हैं। सत्य चतुष्टय ये हैं—(१) दुःख (२) दुःख का कारण (३) दुःखों की समाप्ति, (४) अष्टाङ्ग मार्ग (जिन पर चलने से दुःखों का नाश होगा)। मुनि सिद्धार्थ इस सिद्धान्त को प्राप्त करके बुद्ध हो गए। वे बोले—धन्य है वह, जिसने धर्म को समझ लिया? धन्य है वह, जो किसी को हानि नहीं पहुँचाता! धन्य है वह, जिसने पापों पर विजय प्राप्त की है! वही महापुरुष है—ज्ञानी है—बुद्ध है।

बुद्ध इन सिद्धान्तों की प्राप्ति से उदीयमान तेज-से दिप रहे थे। वे शान्त और गम्भीर मुद्रा से बैठे थे। दो व्यक्तियों ने चरणों में सिर रख दिया।

"हे मनुष्यो! तुम्हारा कल्याण हो?"

"हे प्रभु! मेरा नाम तपुस है और इसका मल्लिका; हम व्यापारी हैं। यह चावल की रोटी और शहद हमारे पास है; इसे ग्रहण कर कृतार्थ करें।"

"हे सज्जनो! मैंने तुम्हारा भोजन ग्रहण किया। बुद्ध पद प्राप्त होने पर यह मेरा प्रथम भोजन हुआ। हे धर्मात्माओं! तुम तथागत बुद्ध के प्रथम शिष्य बने तथागत बुद्ध का कथन है—जगत का कोई अन्याय, अत्याचार और पाप स्वार्थ से रहित नहीं। सारे दोषों का मूल स्वार्थी मन के अन्दर है। पाप न धरती

में है, न आकाश में; न हवा में, न पानी में ; न रात में; वह स्वार्थी मनुष्य के मन में है। सत्य ज्ञान तो तभी मिल सकता है जब स्वार्थ की निस्सारता और अस्थिरता का पूर्ण ज्ञान हो जाय। मनुष्य उच्च और आदर्श जीवन तभी प्राप्त कर सकता है, जब उसे यह निश्चय हो जाय, कि स्वार्थ-त्याग के बिना कोई मनुष्य आत्मिक जीवन के पवित्र सुख को अनुभव नहीं कर सकता। यथार्थ सुख स्वार्थ-परायणता और विषय-भोग में नहीं है ; कृत्रिमता और आडम्बर को दूर करने में है।"

इतना कह बुद्ध मौन हो गए। दोनों व्यापारियों ने चरणों में गिर कर कहा—हे प्रभु ! हम बुद्ध की शरण हैं, हम बुद्ध के धर्म को ग्रहण करते हैं।

बुद्ध ने नेत्र उठा कर देखा और दोनों हाथ ऊँचे करके कहा—कल्याण ! कल्याण !!

११

मगध में हलचल मच गई थी। सभी की जिह्वा पर एक ही बात थी—शाक्य मुनि पतियों को बहका कर पत्नियों से पृथक करता है। वह वंशों का नाश करता है।

बुद्ध अपने प्रमुख शिष्यों सहित राजगृह में पधारे थे। भिक्षु जब नगर में निकलते, तब लोग कहते—देखें, अब किसकी बारी आती है।

शारिपुत्र मौद्गलायन अश्वजित, आचार्य महाकश्यप और उनके भ्राता, सभी भगवान बुद्ध के शिष्य हो गए थे। जो प्रख्यात विद्वान और तत्वदर्शी था, राजगृह का वह महाधनपति यशस भी बुद्ध की शरण जा चुका था, और उसके महाधनवान चारों मित्र, जो काशी में रहते थे, उसके अनुयायी बन चुके थे।

मगध के सम्राट बुद्ध के दर्शन को पधारे। सहस्रावधि मनुष्य उनके साथ थे। लाखों की सम्पदा भेंट को लाए थे। राजा के साथ उसके मन्त्री और सेनानायक थे। उन्होंने देखा—जातिलों के आचार्य महाकश्यप के साथ भगवान बुद्ध बैठे हैं। सम्राट ने चकित होकर सोचा कि शाक्य मुनि ने क्या कश्यप को अपना आध्यात्मिक गुरु माना है या कश्यप गौतम का शिष्य हो गया है!

बुद्ध ने सम्राट के संशय को समझ कर कहा—"कश्यप! तुमने कौन-सा ज्ञान प्राप्त किया है, और कौन-सी बात है, जिसने तुमको अग्नि-पूजा और कष्टदायक तपश्चर्या छोड़ने के लिए बाध्य किया है?"

कश्यप ने कहा—"अग्नि की उपासना से दुःखों और प्रपञ्चों के चक्र में पड़े रहने के अतिरिक्त और कोई लाभ नहीं हुआ। अब मैंने इसे त्याग दिया है। तपस्याओं और पशु के बलिदानों के स्थान में मैं सर्वोच्च निर्वाण की प्राप्ति में लग गया हूँ।"

तब बुद्ध ने आँख उठा कर सम्राट की ओर देखा और कहा—"जो अपने 'अहं' रूप को जानता है, और समझता है, कि इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्यों को किस प्रकार करती हैं, वह स्वार्थ और अहङ्कार के फेर में नहीं पड़ता और अभय शान्ति उपलब्ध करता है। संसार को 'मैं' का ख़्याल है। मेरा शरीर, मेरा धन, मेरा नाम, मेरा रूप, मेरा शत्रु, उसने मुझे गाली दी, उसने मुझे धोखा दिया, उसने मुझे बदनाम किया इत्यादि सङ्कल्प-विकल्प ही समस्त झूठे भयों और दुष्ट-भावों के उत्पादक हैं। कोई कहते हैं कि यह 'मैं' मृत्यु के पश्चात स्थिर रहता है। कोई कहते हैं, उसका अन्त हो जाता है, परन्तु वे दोनों भूल पर हैं। इन्द्रियों का पदार्थों के सन्निकर्ष से ज्ञान उत्पन्न होता है। उससे स्मृति का विकास होता है, जैसे सूर्य की शक्ति से शीशे में अव्यक्त अग्नि व्यक्त हो

जाती है, उसी प्रकार इन्द्रियाँ और पदार्थों के मिलने से स्मृति आदि का क्रमशः विकास होता और चेतन शक्ति की भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के बदलने से उस सत्ता का प्रादुर्भाव होता है, जिसे 'अहं' कहते हैं। बीज से अङ्कुर फूटता है, परन्तु अङ्कुर से बीज नहीं फूटता। दोनों एक नहीं हैं, किन्तु एक दूसरे से भिन्न भी नहीं हैं। इस प्रकार 'अहं' एक भ्रम है। 'मैं' क्षणिक है। वह क्षण-क्षण में बदलता है। जो इस तत्व को समझेगा वह काम, क्रोध, लोभ, मोह को क्षणिक परिणाम समझ, उन्हें दबाने की कोशिश करेगा? स्वार्थ की प्रबल प्रवृत्ति को रोको और फिर तुम मन की उस निश्चय अवस्था को प्राप्त करोगे जो पूर्ण शान्ति, परम पुरुषार्थ, और सत्य ज्ञान दात्री है।"

"माता जिस प्रकार बच्चे के लिए प्रति क्षण आत्म-बलिदान करती है, उसी प्रकार सत्य-ज्ञाता विवेकी को शुद्ध हृदय से परहित की सदा कामना करनी चाहिए। यह भावना जितनी प्रौढ़ होगी, उतना ही निर्वाण पद निकट होगा। यही बौद्ध धर्म है।"

बुद्ध जब यह उपदेश देकर शान्त हुए तब सम्राट ने नत-मस्तक होकर कहा—"भगवन! जब मैं राजकुमार था, तब पाँच भावनाएँ मेरे में थीं; (१) मैं राजा होऊँ, वह पूरी हुई; (२) पवित्रात्मा बुद्ध मेरे ही शासन-काल में मेरे राज्य में पधारें, वह भी पूरी हुई; (३) मैं उनकी सेवा में उपस्थित होकर उनका सत्कार करूँ, यह भी पूरी हुई; (४) मैं भगवान का पवित्र उपदेश सुनूँ, यह भी पूरी हुई; (५) मैं भगवान के धर्म को समझ सकूँ, वह भी पूर्ण हुई। प्रभो! आपका सत्य महान है। आप उस बात को स्थापित करते हैं, जो अब तक अस्त-व्यस्त रही है। आपने उसे व्यक्त किया जो अब

तक अव्यक्त था। आपने उन्हें मार्ग बताया, जो अब तक भटके थे। आप अन्धकार में पड़े हुओं के लिए दीपक जलाते हैं। आज मैं बुद्ध की शरण लेता हूँ। सङ्घ की शरण लेता हूँ।"

बुद्ध ने कृपा-दृष्टि से सम्राट को देखा और समस्त उपस्थित मण्डल बुद्ध धर्म में दीक्षित हो गया।

१२

कपिलवस्तु में उल्लास था। पिता का आतिथ्य स्वीकार करने भगवान बुद्ध ७ वर्ष बाद लौट रहे हैं। महाराज शुद्धोदन अपने मन्त्रिगण सहित स्वागत को आए। वे अपने पुत्र के तेज और सौन्दर्य को दूर से देख गद्‌गद हो गए। उन्होंने मन ही मन कहा—निस्सन्देह यह मेरा पुत्र है। कुमार सिद्धार्थ का ऐसा ही रूप-रङ्ग था। परन्तु यह महामुनि अब सिद्धार्थ नहीं रहा। वह बुद्ध है, पवित्रात्मा है, सत्य का स्वामी और मनुष्यों का शिक्षक है।

वे रथ से उतर पड़े और आनन्दाश्रु बहाते हुए बोले—"आज ७ वर्ष बाद मैंने तुम्हें देखा है। क्या तुम जानते हो कि तुम्हें देखने की मुझे कितनी इच्छा थी?"

प्रणाम करके बुद्ध पिता के सम्मुख बैठ गए। राजा के जी में आया कि उनका नाम लेकर पुकारें! पर साहस न हुआ। वे मानो मन ही मन कह रहे थे—पुत्र सिद्धार्थ! आ और पिता के पास पुत्र की भाँति ही रह। अन्त में उन्होंने कहा—"मैं यह सारा राज-पाट तुम्हें सौंपना चाहता था; पर देखता हूँ, राज्य को तुम तुच्छ समझते हो।"

बुद्ध ने कहा—"पिता! आपका हृदय प्रेमपूर्ण है, पर आपका जितना प्रेम मुझ पर है, उतना ही यदि प्रजा पर भी हो तो आपको सिद्धार्थ से बढ़ कर पुत्र मिल सकते हैं। आप मेरे लिए मनसे पुत्र-भाव निकाल डालिए। यदि आप

अपने सम्मुख उस बुद्ध (ज्ञानी) को देखेंगे जो सत्य का शिक्षक और सदाचार का प्रचारक है तो आपको निर्वाण की शान्ति प्राप्त होगी"। राजा पुत्र की यह वाणी सुन आह्लादित हो गए। वे आँसू भर कर कहने लगे—"आश्चर्य-जनक परिवर्तन है! इस परिवर्तन से हृदय को दुःख और व्याकुलता नहीं होती। पहले मैं शोकपूर्ण था, मानो मेरा हृदय फट जायगा, पर अब मैं प्रसन्न हूँ। तुमने जगत के लिए राज्य-सुख त्यागा। अच्छा तुम संसार में अष्टाङ्ग मार्ग का प्रचार करो।"

महाराज राजभवन में चले गए और बुद्ध एक कुञ्ज में ठहरे।

प्रातःकाल भगवान बुद्ध भिक्षा-पात्र लेकर नगर में भिक्षा के लिए चले। नगर में हाहाकार मच गया। रथ और हाथियों पर सवार होकर जो पुरुष रत्न बिखेरता था, वह नङ्गे पैर घर-घर एक ग्रास अन्न माँगता है।

राजा ने कहा—"वत्स बुद्ध! ऐसा न करो। मैं तुम्हारे भोजन का प्रबन्ध कर दूँगा।"

"पर यह हमारी धर्म-परिपाटी है।"

"पर तुम उस राजवंश के हो जिसने कभी भिक्षा नहीं माँगी।"

"मैं उस बुद्ध-वंश में हूँ, जो सदा भिक्षा-वृत्ति पर सन्तोष करता आया है।"

राजा निरुत्तर हो उन्हें राजमहल में ले आए। राजमन्त्रियों और अन्तःपुर की स्त्रियों ने बुद्ध की अर्चना की। बुद्ध ने पूछा—"गोपा कहाँ है? क्यों नहीं आई?"

एक दासी ने बद्धाञ्जलि होकर कहा—"स्वामिन! वे कहती हैं, भगवान को स्वयं ही यहाँ आना चाहिए।"

बुद्ध तत्क्षण उठ कर चल दिए। चार प्रमुख शिष्य उनके साथ थे। गोपा—आनन्द और प्रेम की मधुर लतिका गोपा—अपने सप्त-वर्षीय पुत्र के साथ अपनी समस्त कटु-स्मृतियों को कस कर छाती में छिपाए, उस महा-वीतरागी, अतीत प्रिय पति को धरती पर दृष्टि दिए अपने कक्ष में आती देख रही थी। द्वार के निकट पहुँच कर बुद्ध ने अपने प्रधान शिष्य शारिपुत्र मौद्‌गलायन से कहा—"मैं तो मायापाश से मुक्त हुआ, पर यशोधरा अभी बद्ध है। उसने मुझे चिरकाल से नहीं देखा। वह वियोग से व्याकुल है। यदि मिलन-अभिलाषा अब भी पूर्ण न होगी, तो उसका हृदय फट जायगा। इसलिए मैं तुम्हें सावधान किए देता हूँ, कि यदि वह मुझे छूना चाहे तो रोकना मत।" शारिपुत्र मौद्‌गलायन ने विनम्र होकर कहा—"जैसी भगवान की आज्ञा।"

वह मलिन वस्त्र और धूल-धूसरित वेश, केश-विहीना यशोधरा, मूर्तिमयी वियोग और विषाद की छाया, चुपचाप खड़ी एकटक देख रही थी। वह इस बात को भूल गई, कि उसका पति अब जगद्‌गुरू और सत्य का अन्वेषक है। वह सम्मुख आते ही बुद्ध के पैर पकड़ फूट-फूट कर रोने लगी। जब वह प्रकृतिस्थ हुई, तब उसने श्वसुर को देखा और हट गई। राजा ने कहा—"यह उसका मनोवेग नहीं है। हृदयस्थ प्रकृत प्रेम के श्रोत का प्रवाह है। जब उसे ज्ञात हुआ, कि तुमने केश काट डाले हैं, तब उसने भी इसका अनुसरण किया। जब उसने सुना, कि तुमने सभी भोजन त्याग दिए, तब इसने सब कुछ छोड़ दिया। यह मृत्पात्रों में खाती और भूमि पर सोती है। उससे बड़े-बड़े राजकुमारों ने विवाह की प्रार्थना की, तब उसने कहा—मेरे स्वामी का मुझ पर पूर्ण अधिकार है और मैं अब भी उनके चरणों की दासी हूँ।"

बुद्ध ने करुण एवं गम्भीर स्वर में कहा—"हे कल्याण-बुद्धे ! तुम धन्य हो ! तुम बड़ी पुण्यात्मा हो । तुम्हारी पवित्रता सुशीलता और भक्ति ने मुझे लाभ पहुँचाया है और मैं सत्य ज्ञान को उपलब्ध कर चुका हूँ । तुम्हारा हार्दिक दुःख और शोक अवर्णनीय है। परन्तु तुमने जो आध्यात्मिक सम्पत्ति अपने श्रेष्ठ और शुद्धाचरण से प्राप्त की है, वह तुम्हारे समस्त दुःखों को आनन्द में परिवर्तित कर देगी।"

यशोधरा ने धैर्य धारण कर मन के वेग को रोका। अब वह समझ गई, कि यह महापुरुष मेरा पति नहीं, जगत का महान धर्मगुरु है। उसने दृढ़ता से कहा—"हे स्वामी ! पिता की सम्पत्ति पर पुत्र का अधिकार होता है। यह आपका पुत्र है। आपके पास चार खज़ाने हैं; उन्हें मैंने नहीं देखा; पर आप उन्हें पुत्र को प्रदान करें।" इतना कह कर उसने सप्तवर्षीय बालक को बुद्ध के चरणों में डाल दिया।

बुद्ध ने कहा—"तुम्हारा मातृत्व धन्य है। तुम्हारे पुत्र को मैं ऐसा द्रव्य न दूँगा, जो नाशवान हो और जो उसे शोक या चिन्ता में डाले। मैं उसे चारों सत्य का भेद समझाऊँगा, यदि उसमें उन्हें धारण की योग्यता हुई।"

बालक ने कहा—"हे पिता ! मैं योग्य बनूँगा।"

"वत्स ! तुम्हारा कल्याण हो ! तुम मेरे साथ आओ।"

बालक को अग्रसर कर बुद्ध लौट गए। गोपा अपने उस एकमात्र हृदय-धन को भी गँवा कर ठगी-सी खड़ी रह गई।

एशिया के महासाम्राज्य उस बुद्ध के सत्य-कर्म के सम्मुख झुके और वह महान धर्मात्मा पृथ्वी पर सदा के लिए अमर हो गया।

पतिता

मेरा नाम आनन्दी है। जब मेरी आयु ११ वर्ष की थी, तब मैं अपनी मौसी के साथ दिल्ली आई। मैंने कभी दिल्ली देखी न थी, सुनी थी। बहुत तारीफ़ सुनी थी—बिजली की रोशनी, ट्राम, पंखे, मोटर—सब कुछ मेरे लिये स्वप्न-सा था। अब तक मैं देहात में रही, पहाड़ में खेली और बड़ी हुई। मेरे माँ-बाप ज़मींदार थे, नाम ज़बान पर लाना नहीं चाहती, मैं कलङ्कित हुई, उन्हें क्यों बट्टा लगाऊँ? मैं उनकी इकलौती बेटी थी, गोदों में पली और प्यार में नहाई, मेरे बराबर सुखी कौन था? जब मैं सुनहरी धूप में तितली की तरह उछलती-कूदती सामने की हरी-भरी पर्वत-श्रेणियों पर दौड़-धूप करती थी, मेरी पड़ोसिनें गीत गातीं घास का गट्ठर पीठ पर लादे, मेरे सामने से निकल

जाती। झरने का मोती के समान उज्ज्वल और बर्फ़ के समान ठण्डा पानी, इठला-इठला कर पीती, उसमें पत्थर मार कर उसे उछालती, कभी पत्ते की नाव बना कर बहाती!

ओह! मैं कितना हँसती थी? हँसते-हँसते आँसू निकल आते थे। आज तो रोने पर भी नहीं निकलते, मालूम होता है कलेजे का सारा रस सूख गया है। लड़कियों को मैं ख़ूब मारती, पर पीछे उन्हें चुमकार-पुचकार कर राज़ी भी कर लेती। मुझमें अकड़ ख़ूब थी, पर मैं भोली भी एक ही थी, जो कोई मुझसे प्यार से बोलता, मैं उसकी चाकर, जो ज़रा टेढ़ा हुआ और बस, फिर मैं भी टेढ़ी!

जीवन क्या होता है, मैंने कभी नहीं जाना; मैं बड़ी हो जाऊँगी, यह मैंने नहीं सोचा; मुझ पर दुनिया की कोई ज़िम्मेदारी पड़ेगी, इसका ध्यान भी न था। भविष्य की आने वाली सारी आँधियों और तूफ़ानों के भय से दूर मैंने हिमालय की पवित्र और सुखमयी गोद में अपने हीरे-मोती-से ग्यारह साल व्यतीत किए।

२

दिल्ली देख कर मैं सचमुच घबरा गई थी। और मौसी के घर में घुसते, तो भय लगता था। वह घर था? देदीप्यमान इन्द्रभवन था। वह सजावट देख कर मेरी आँखें बन्द होने लगीं। बढ़िया रङ्ग-बिरङ्गे क़ालीन, दूध के समान उज्ज्वल चाँदनी, बड़े-बड़े मसनद, मख़मली गद्दे, मसहरियाँ, तस्वीर, सिङ्गारदान, आइने; और न जाने क्या-क्या? मेरे पद-स्पर्श से छू लेने से कहीं कोई वस्तु मैली न हो जाय, बिगड़ न जाय—इस भय से मैं सिकुड़ कर एक कोने में खड़ी हो गई। मैं मैली-कुचैली गाँव की अल्हड़

बची इस घर में कहाँ रहूँगी ? रह-रह कर भाग जाने की इच्छा होती थी।

मौसी ने मेरी द्विविधा को भाँप लिया, उसने पास आकर दुलार से कहा—जा बेटी! ऊपर हीरा है और भी कई जनी हैं, तू भी वहीं जाकर बैठ।

मैं ऊपर चल दी। क्या देखा ? कह ही दूँ ? रूप वहाँ बिखरा पड़ा था। मानो किसी ने चाँद को ज़ोर से ज़मीन पर दे मारा हो और उसके टुकड़े बिखरे पड़े हों। सब १०-१५ थीं। सभी एक से एक बढ़ कर। सभी अलबेली, मस्तानी थीं, और चुहलबाज़ी में लगी थीं। किसी की कंघी-चोटी हो रही थी, किसी का उबटन; कोई धोती चुन रही थी, कोई गजरा गूँथ रही थी। सभी नवेलियाँ थीं, यौवन उनके अङ्गों से फूट रहा था। यौवन और सौन्दर्य के ऊपर एक और उन्मादिनी वस्तु थी, जिसे तब न समझा था, बहुत दिन बाद, जब मैं भी उनमें मिल गई, समझा—वह थी वेश्यापन की धृष्टता और उसने उन्हें आफ़त बना रक्खा था।

वे लड़कियाँ न थीं, स्त्रियाँ भी न थीं, वे थीं आग के छोटे-छोटे अङ्गारे, पड़े दहक रहे थे, छूते ही ज्वाला उत्पन्न कर दें। इन सबके बीच में हीरा थी। उसका भी कुछ वर्णन तो करना ही पड़ेगा, वैसा रूप तब से आज तक, यद्यपि मैंने जीवन भर रूप के सौदे किए—देखा ही नहीं, सुना भी नहीं। इटली के कारीगर की बनाई सङ्गमर्मर की प्रतिमा की भाँति, हंस की सी सुराहीदार और सफ़ेद गर्दन उठाए वह बैठी बाल सुखा रही थी। एक धानी दुपट्टा उसके वक्षस्थल पर अस्त-व्यस्त पड़ा था, पर उस अनिन्द्य वक्षस्थल को शृङ्गार करने के लिये और किसी परिधान की आवश्यकता ही

न थी। प्रभातकालीन नवविकसित कमल-पुष्प के समान उसकी बड़ी-बड़ी आँखें और फूले हुए लाल-लाल होठ! हल्के पारदर्शी रङ्ग से प्रतिबिम्बित-से गाल, उसकी मुख-मुद्रा को लोकोत्तर बना रहे थे। उसके दाँत किस कारीगर ने बनाये थे, यह मैं मूर्ख क्या बताऊँ! पर उनकी चमक से चौंध लगती थी। हीरा ने अनायास ही मुझे देखा, सभी ने देखा, मैं सहम कर ठिठक गई! उसने मुस्कुरा कर पास बुलाया, गोद में बैठा कर पुचकारा, प्यार किया, मेरे देहाती वस्त्रों को देखा और हँस दी। उसने प्यार से मेरे गालों पर चुटकी ली और मेरे शृङ्गार में लग गई। उबटन किया, चोटी में तेल दिया, कपड़े बदले और न जाने क्या-क्या किया। इसके बाद मेज़ पर उचका कर मुझे रख दिया, और सहेलियों से बोली—"देखो री, हमारी छोटी रानी कितनी सुन्दर है।" उसने मुझे चूमा, फिर तो मुझ पर इतने चुम्मे पड़े कि मैं घबरा गई। उन चुम्मों में, उस प्यार में, उस शृङ्गार में मैं भूल गई अपना बचपन, वे पवित्र खेल-कूद, वे पर्वत-श्रेणी, उपत्यकाएँ, माता-पिता, सहेली—सभी को। मेरे मन में एक रङ्गीन भाव की रेखा उठी और धीरे-धीरे मैं मदमाती हो चली!

३

परन्तु, उस भीषण ऐश्वर्य और ज्वलन्त रूप की जड़ में जो पाप था, उसे मैं कैसे समझती? पाप कहते किसे हैं, यही मैं कैसे जानती? जीवन के सुख और ऐश्वर्य के पीछे एक धर्म-नीति छिपी रहती है, यह मुझे उस घर में बताता कौन! फिर भी मेरी आत्मा ही ने मुझे बताया, वही आत्मा अन्त तक मेरे कर्मों का नियन्ता रहा!

मैं उस घर में सब कुछ देखती थी। मैं कह चुकी हूँ, कि मुझ-सी

दस-पन्द्रह थीं। पर मैं सब से छोटी थी, नई आई थी, सबके पृथक्-पृथक् सजे हुए कमरे थे। सब के पास बढ़िया गहने-कपड़े, इत्र और न जाने क्या-क्या था। सबकी खातिर भी खूब होती थी, चोचले भी चलते, पर मैं मौसी के पास सोती और रहती थी। सबके उतरे गजरे पहनना और बची हुई मिठाई खाना, मेरा काम था। धीरे-धीरे मेरे मन में ईर्षा होने लगी। मैंने एक दिन मौसी से कह भी दिया, रूठ भी गई, आखिर मैं क्या आसमान से गिरी हूँ, मुझे भी एक कमरा पलङ्ग और वैसे ही सब सामान चाहिएँ, जो औरों के पास हैं।

मौसी हँस पड़ी। उसने मुझे गोद में लिया, चूमा और कहा—"धीरज रख बेटी! वह समय भी आ रहा है, जब तू इन सब से चढ़-बढ़ कर रहेगी।" उस समय की मैं बड़ी बेचैनी से बाट जोहने लगी। साथ ही करने लगी अध्ययन उन सबका, जिन पर मेरी ईर्षा थी।

मेरी ईर्षा की प्रधान पात्री थी हीरा! वही तो सब में एक थी, घर-घर नगर में और दूर-दूर उसकी चर्चा थी, उसका रूप था? दुपहरी थी, उसकी वह दन्त-पंक्ति, मोती-सा रङ्ग, कटीली आँखें, मन्द हास्य, हंस की-सी गर्दन, साँचे में ढला बदन, कितने सेठ-साहूकार, राजा-रईस, नवाब-शाहज़ादों को अधीर बनाए था—वे उसके पास आते, क्या-क्या आदर-भाव करते, दासियाँ हुक्म की बन्दी रहतीं! सुनहरे काम का छपरखट और उसका हरा रङ्गीन कमरा, क्या मैंने लाखों बार भी डाह की नज़र से न देखा होगा?

एक दिन अचानक मौसी ने कहा—"आनन्दी, ले अपना कमरा पसन्द कर, कौन-सा लेगी, मैं अब तुझे भी अलग कमरा दूँगी, उसे तेरी मर्ज़ी का सजाऊँगी। कपड़े-लत्ते, साड़ी, जो तेरी पसन्द का हो, तू बाज़ार से जाकर ले

आ। ले यह १ हज़ार रुपए सिर्फ़ कपड़े और सिङ्गार-पटार के लिए हैं। ज़ेवर मैं तुझे अलग दूँगी।" इतना कह कर उसने नोटों का एक बण्डल मेरी गोद में डाल दिया और कहा—"शाम को हीरा के साथ जाकर ज़रूरी सामान ख़रीद ला। ले! मैं अपना ही कमरा तेरे लिए ख़ाली किए देती हूँ, मैं बुढ़िया-बावली किसी कोठरी में पड़ रहूँगी।"

मैंने आकाश छूआ। कब शाम हो और मैं बाज़ार चलूँ। निदान एक ही सप्ताह में मेरा कमरा घर-भर में इन्द्रभवन था। मैं रात-दिन उसकी सजावट में लगी रही, खाना-पीना भी छोड़ दिया, साथ वालियाँ दिल्लगी करती थीं, पर मैं समझती न थी, कभी-कभी उनकी बातों से भय-सा लगता था, उनका क्रूर-हास्य शङ्का उत्पन्न करता था—मानों इस साज-शृङ्गार में एक रहस्य है, पर मैं उमङ्ग में न थी!

देखते-देखते मेरा रङ्ग बदल गया। जितने छैले घर में आते थे, मुझ पर टूटे, पर मौसी का बड़ा भय था, क्या मजाल जो ज़रा कोई बढ़ कर बातें करता! साथ वालियों पर तब मुझे डाह थी, पर अब वे मुझ पर जलती थीं, भेद तो अभी खुला न था, पर मुझे इसमें मज़ा आता था ज़रूर।

उस दिन से छठे दिन की बात है। मैं सो रही थी, दिन ढल चुका था मौसी ने बुला कर कहा—"बेटी नहा-धोकर नई साड़ी पहन ले, बालों का अङ्गरेज़ी जूड़ा बाँध ले, पैरिस की ज़रीकट साड़ी पहन ले, और ज़रा सलीके का ध्यान रखना। ख़बरदार, नादानी न करना।" मैं कुछ समझी, कुछ नहीं—चली आई। मन में उथल-पुथल मच गई, नहीं कह सकती भय से या आनन्द से।

रात सिर पर आ गई और मेरा सिङ्गार ख़तम ही न होता था। १० बजे

एक अल्पवयस्क सुन्दर कुमार ने मेरे कमरे में प्रवेश किया, मैंने इन्हें कभी न देखा था। एकान्त में मेरे पास किसी पुरुष का आना प्रथम बात थी, पर बहुत-सी बातें तो मैं देख-भाल कर ही समझ गई थी। फिर भी मैं डर गई मैंने सहम कर उनसे कहा—"मौसी उधर हैं, आप वहाँ जाइए।"

उन्होंने हँस कर कहा—"जल्दी क्या है, ज़रा देर आप से भी बातें कर लूँ?" अब मैं क्या कहती? चुप बैठ गई?

उन्होंने कहा—"क्या आप नाराज़ हो गईं?"

"जी नहीं।"

"फिर चुप्पी क्यों?"

"आप कुछ दर्याफ़्त करें, तो जवाब दूँ।"

बस बातों का सिलसिला चल गया, और क्या-क्या हुआ वह सब कहने से फ़ायदा? सब का अभिप्राय यही है, कि अन्त में मैं उस युवक के हाथ बिकी, उसने मुझे सब कुछ दिया और मैंने उसे भी! मैं वेश्या थी भी नहीं और उसकी वृत्ति को समझती भी न थी! मेरा जीवन था, आयु थी, समय था और उसका प्रभाव था, मैं क्या करती? मैंने अपना तन, मन, धन उसे दिया, और उसने? मैंने जो आज तक न पाया था, वह दिया। उस दान के सम्मुख अब तक के सभी ठाट तुच्छ थे। मैं नारी-जीवन का रहस्य समझी, पर यहीं तक होता तो मेरे बराबर सुखी कौन था? पर मेरी तक़दीर में वेश्या-जीवन का रहस्य समझना लिखा था!!

एक महीना स्वप्न की तरह बीत गया। ज्यों-ज्यों महीना बीतता था, वे चिन्तित और उदास होते थे। मैं पूछती, पर वे बताते नहीं, टाल जाते!

एक दिन मैंने उन्हें घेर लिया। उन्होंने कह दिया—"सिर्फ़ ३ दिन और मुझे तुम पर अधिकार है आनन्दो ? इसके बाद तुम मेरे लिए ग़ैर हो जाओगी।"

"यह क्या। बात है ?"

"मैं तुम्हारे लिए अगले महीने की तनख़्वाह नहीं जुटा सकता।"

"तनख़्वाह कैसी ?"

"३ हज़ार रुपए महीने पर मैंने तुम्हें तुम्हारी माँ से लिया था।"

"आह, क्या मैं गाय-भैंस की तरह बेची गई हूँ!"

"ऐसा होता तो फिर बात क्या थी ? मैं तुम्हें ऐसी जगह ले जाता, जहाँ जहाँ किसी की दृष्टि न जाती, पर तुम किराए पर उठाई गई हो, मैंने एक महीने का किराया दिया, अब जो देगा, वह मेरे स्थान पर होगा।"

मैं तड़प उठी, "यह कैसे सम्भव है ? मैं तुम्हें प्यार करती हूँ, क्या तुम नहीं करते ?"

"जान से बढ़ कर "

"फिर हमारे बीच में कौन है ?"

"रुपया"

"मैं उस पर लात मारती हूँ।"

"पर तुम्हारी मौसी तो उस पर मरती हैं।"

"मैं उससे कहूँगी।"

"बेसूद है।"

"क्या तुमने कहा था ?"

"मैं १ हज़ार देने को तैयार हूँ।"

"यह क्या थोड़े हैं ?"

"वे कहती हैं—एक हज़ार माहवारी आनन्दी की जूतियों का खर्च है।"

"पर मैं तो अपना शरीर और जान तुम्हें दे चुकी।"

"इसका तुम्हें अधिकार नहीं।"

मैं रोने लगी, वे चले गए।

मैं रात भर रोती रही; मेरी आँखें फूल गईं; और छाती फटने लगी। सुबह होते ही मौसी ने कहा—"बेटी, आज तुझे एक मुजरे पर जाना है, सब सामान तैयार करके लैस हो जाना।"

जो कहना चाहती थी, न कह सकी। सोचा लौट कर कहूँगी।

४

मेरा नाम हीरा है, बस इतना ही समझ लीजिए। मैं और कुछ नहीं बता सकती। समझ लीजिए मैं धरती फोड़ कर पैदा हुई और धरती में समा जाने की इच्छा से जी रही हूँ। हज़ारों मनुष्यों ने मेरे शरीर को देखा, बलात्कार किया और होनी-अनहोनी सब हुई। इनमें राजा-महाराजाओं से लेकर, घृणास्पद कलङ्की और रोगी भी थे—सभी ने एक ठीकरे में खाया। लोग कहते हैं, कि मैंने रूप पाया और यह भी कहते हैं, कि उसे खूब बेचा। पर मुझे सब कुछ बेच-खरीद कर मिला क्या? इस अभागिन के मन की बात कौन सुनेगा? कौन इस पर आँसू बहाएगा; जगत में ऐसा मेरा सगा है कौन?

फूल के कीड़ों का नाम बहुतों ने सुना होगा, पर उस ज़हरीले कीड़े ने खाया मुझे! हाय, दुनियाँ कैसी प्यारी थी। कैसा साज-शृङ्गार, वस्त्र, सुगन्ध, मौज-बहार, हास्य, उन सबको अब याद करती हूँ—वे सब कहाँ चली गईं, स्वप्न की माया की तरह!!

स्त्री क्या वस्तु है, यह मुझे आज मालूम हुआ जब मैंने स्त्रीत्व खो दिया। धर्म मेरा साक्षी है। मैंने रूप को बेचा नहीं, मैंने उसका मोल न कभी जाना, न किया, अभागिनी सीधी-सादी बालिका अपने रूप को कितना देखती—देखने वाले देखते हैं, यही कैसे समझती ? यही तो मरने की बात हो गई। मैं जब तक बच्ची रही—तब तक की तो बात ही जाने दीजिए। पर दिल्ली आने पर ? न माँ थी न बाप था, भाई था—वह भी चला गया। पर जो थी, वह माँ से भी ज़्यादा सगी, स्वयं हाथों से नहलाती, उबटन लगाती, सुगन्ध लगाती, गजरों से सजाती और मोटर में बैठा कर सैर कराती! तब कौन मेरे बराबर सुखी था—मुझे कुछ काम न था, उस्ताद जी आते उनकी सफ़ेद दाढ़ी भद्दी सी, मोटी ऐनक और मीठी-मीठी बोली, कैसी प्यारी थी। वे गाना सिखाते, मैं विनोद से उनके गले की नक़ल करती। वह इतनी ठीक उतरती कि रास्ते चलते खड़े हो जाते। मैं इतराती थी, उत्तम से उत्तम भोजन, वस्त्र बिना माँगे हाज़िर थे। मैं बड़ी हुई, तीसरे पहर से ही उबटन-शृङ्गार, केश-विन्यास और नई साड़ियों की पसन्द और पहनने का जो उपक्रम चलता तो दिए जल जाते, इत्र से भभकते हुए उस कमरे में नर्म क़ालीन पर मैं इठला कर बैठती। बड़े-बड़े सेठों के जवान आते मेरी स्वर लहरी पर लोट जाते, रुपयों की बौछार करते। जब आधी रात बीतने पर झोली भर रुपए ले मैं नई माँ को देती तो वह छाती से लगा लेती। बारम्बार बेटी कहती, मैं ज़रा भी थकान न मानती, पड़ कर सोती तो प्रभात था।

हाय! मैं समझती थी—यह सब मेरा आदर है, यह गायन-कला मेरा गुण है जिस पर सैकड़ों गुणज्ञ रीझ रहे हैं। पर यह भेद तो पीछे खुला, वह मेरा नहीं, मेरे शरीर का, रूप का आदर था। वह गायन तो एक बहाना,

एक छल था, एक तीर था, जिससे शिकार मारे जाते थे। मेरी अज्ञानावस्था में कितने शिकार मारे गए, यह मैं अब क्या बताऊँ।

उस दिन कोई त्योहार था, शायद तीज थी, मैं नहा कर बैठी थी। मेरी एक सहेली ने मुझे बुला भेजा था। मैं जाने की तैयारी में थी, माँ ने बुलाया कहा—"बेटी वह जो नई बनारसी साड़ी आई है, पहन लो आज तेरी तक़दीर का सितारा बुलन्द हुआ महाराज.........ने तुझे नौकर रख लिया है, तुझे वहाँ जाना है, अभी मोटर आ रही है। मैंने चाहा था कि तुझे रानी बना दूँगी वह इच्छा पूरी हुई, अब देर न कर।"

मैं ख़ाक-पत्थर कुछ भी न समझी, रानी बनने की बात को कुछ समझी, रानी बनने में मुझे क्या उज्र था, पर नौकरी का क्या मतलब? मैंने पूछा—"नौकर रखने से क्या मतलब? मैं किसी की नौकरी न करूँगी! वाह! अब मैं झाड़ू लगाऊँगी, मैं किसी की नौकरी न करूँगी।"

बुढ़िया हँस पड़ी, हँसते-हँसते लोट गई, उसने मुझे गोद में छिपा कर कहा—"मेरी प्यारी बेटी, कैसी नादान है। धीरे-धीरे सब समझेगी, झाड़ू तू लगावेगी? वहाँ २० दासी तेरी ख़िदमत करेंगी।"

मैं समझ ही न सकी, पर मुझे आनन्द न आया। मैं भय और चिन्ता में पड़ गई, वहाँ मेरा है कौन? मुझे कौन प्यार करेगा, कौन क्या करेगा, मैं बेचैन हो गई। मैं मूर्खा, इस वृद्धा को ही अपना सब से बड़ा हितू समझती थी। जहाँ गई वहाँ फाटक पर पहुँचते ही मेरे होश उड़ गए। ऐसी बड़ी कोठी, ऐसा सुन्दर बाग़ीचा, जन्म में न देखा था। गाड़ी पहुँचते ही सङ्गीनधारी सिपाही ने गाड़ी रोक कर पूछा—"गाड़ी में कौन है।"

मौसी ने कुछ कान में कह दिया, वह रास्ता छोड़ कर खड़ा हो गया।

गाड़ी भड़भड़ाती चली। फव्वारे उछल रहे थे, रोसें ऐसी सुघड़ाई से कटी थीं कि वाह। कटोरे के बराबर गुलाब खिल रहे थे। सुन्दर साफ़ सुर्ख़ सड़कें और सामने वह महासुन्दर धवल प्रसाद। वहाँ पहुँचते ही दो सन्तरियों ने हमें उतारा, तमाम मकान संगमरमर से मढ़ा था, मक्खी के भी पैर रपटें। मैं डरती-डरती पैर रखती, दीवारों और तस्वीरों को देखती अचल खड़े सन्तरियों को घूरती चली जा रही थी। चलने तक की आहट न होती थी, सोच रही थी हे ईश्वर इस महल में रहने वाला कौन भाग्य-वान है।

एक सजे हुए कमरे में हमें बैठा कर, सन्तरी चला गया। उसमें मख़-मल का हाथ भर मोटा गद्दा पड़ा था, और साटन के पर्दे दरवाज़े पर थे। गद्देदार कुर्सियाँ कौच और एक से एक बढ़ कर सजावट और तस्वीरें क्या-क्या बयान करूँ? मैं पागल सी बैठी देख रही थी; हृदय धक-धक कर रहा था। बोलना चाहा पर मौसी ने होठ पर उँगली रख कर चुप रहने का सङ्केत कर दिया।

थोड़े देर में एक पहरेदार ने धीरे से पर्दा उठा कर, हमें अपने पीछे-पीछे आने का सङ्केत किया। कई बड़े-बड़े दालान, कमरे पार करती हुई, हम अन्त में एक निहायत ख़ुशरङ्ग सजे एक बड़े कमरे में पहुँचीं। देखा एक ३० साला उम्र के अत्यन्त रुआबदार रूप और तेज की खान एक पुरुष बैठे चुपचाप धुआँ फेंक रहे हैं। मौसी ने ज़मीन तक झुक कर सलाम किया, और मैंने भी। हाथ का सिगार एक ओर फेंक कर, महाराज उठ खड़े हुए। उन्होंने बड़ी बेतकल्लुफ़ी से मौसी का हाथ पकड़ कर बैठाया, फिर मुस्करा कर मेरा मिज़ाज पूछा।

मैं तो सकते की हालत में थी। मौसी ने फटकार कर कहा—बेवक़ूफ़ सरकार मिज़ाज पूछते हैं और तू चुप है।"

वे हँस दिए और बोले—"हीरा यही है न?"

"यही हुज़ूर की कनीज़ है!"

"सच, पर देखना धोखा तो नहीं देती?"

"अय हय हुज़ूर, मेरी ज़बान टूट जाय?"

"अच्छा, मिस हीरा, क्या तुम सिगरेट पीती हो?"

"जी नहीं सरकार?"

"अच्छा तब कुछ खाओ-पियो"—इतना कह कर उन्होंने घण्टी बजा दी। नौकर दस्तबस्ता आ हाज़िर हुआ। उसे कुछ इशारा करके, उन्होंने मौसी का हाथ पकड़ कर कहा—"जब तक यह कुछ खाए-पिए हम लोग काम की बातें कर लें।"

वे दोनों दूसरे कमरे में चले गए, और नौकरों ने फल-बिस्कुट, मेवा मेरे सामने ला रक्खा। पर मैंने छुआ भी नहीं। मैं भयभीत हो गई थी, मैं समझ गई यहाँ फँसी। हाय, हृदय के एक कोने में नवाङ्कुरित प्रेम विकल हो उठा, पर करती क्या? मैंने निश्चय किया—मैं अवश्य मौसी के साथ जाऊँगी? हठात् महाराज ने कमरे में प्रवेश करके कहा—"अरे तुमने तो कुछ खाया ही नहीं।"

"जी मेरी तबियत नहीं है, क्या मौसी अन्दर हैं?"

"वे गईं।"

"और मैं?"

"तुम्हें यहीं आराम करना है।"—वे मुस्करा कर बोले—"क्या तुम्हें डर लगता है?"

"जी नहीं।"

"यह जगह पसन्द नहीं ?"

"जगह के क्या कहने हैं।"

"मैं पसन्द नहीं ?"

"सरकार क्या फ़र्माते हैं, मैं शर्मा गई।"

एक आदमी शराब, प्यालियाँ कुछ और खाने की चीज़ें चुन गया। महाराज ने प्याला भर कर कहा—"मिस हीरा, पहरेज़ तो नहीं करतीं ? करोगी तो भी पीना तो पड़ेगा ?"

"हुज़ूर मैं नहीं पीती।"

"मगर मेरा हुक्म है ?"

"मैं मुआफ़ी चाहती हूँ।"

"क्या हुक्मउदूली करती हो ?"

"मेरी इतनी मजाल।"

"बेवक़ूफ़ औरत पी ?"—क्षण भर में उनकी आँखें लाल हो गईं और उनकी त्योरियाँ चढ़ गईं।

"मैं न पी सकूँगी ?"

खूँटी से चाबुक उठा कर उस निर्दयी ने खाल उड़ाना शुरू कर दिया, मेरे चिल्लाने से कमरा गूँज उठा। मैं तड़प कर धरती में लोटने लगी। पर वहाँ बचाने वाला कौन था ?

वे चाबुक फेंक कर बैठ गए। मैं ज्योंही उठी, उन्होंने प्याला भर कर कहा—"पियो।"

"मैं गटगट पी गई।"

मेरे हाथ से प्याला लेकर उन्होंने मेरे पास आकर कहा—"हीरा, मेरी दोस्त! आइन्दा कभी हुक्मउदूली की हिम्मत न करना। अरे, क्या तुम्हारी साड़ी भी ख़राब हो गई।" इतना कह उन्होंने घण्टी बजाई, एक लड़का आ हाज़िर हुआ। उसे हुक्म दिया—"जाओ ड्योढ़ियों से उम्दा साड़ी ले आओ।"

साड़ी आई। उसकी क़ीमत २ हज़ार से कम न होगी। वैसी साड़ी मैंने कभी न देखी थी। मैं अवाक् रह गई। ऐसा बेढब आदमी तो देखा न सुना। मैं साड़ी बदल चुपचाप उसके हुक्म की इन्तज़ारी करने लगी मेरा ग़रूर और सारी चञ्चलता जाने कहाँ चली गई।

उन्होंने निकट आकर प्यार के स्वर में कहा—"जाओ उस कमरे में सो रहो मैं भी ज़रा सोऊँगा। किसी चीज़ की ज़रूरत हो तो घण्टी देना, नौकर हुक्म बजा लावेगा।"

हाय, क्या मैं सोई? वह पुरुष सो गया और मैं उसके पैर पकड़े बैठी रही। रात बीतने लगी, निस्तब्धता छा गई। हाँ, मैं पैर पकड़े बैठी थी, इस पुरुष के, जो इतना कठोर और इतना उदार, ऐसा मस्त और ऐसा ज़िद्दी है। और तस्वीर देख रही हूँ किसी और की, जिसे मैंने कुछ दिन पूर्व शरीर अर्पण किया था। मेरा हृदय और प्रेम आवारागर्द बेघर-बार पुरुष की तरह भटक रहा था, और वेश्यावृत्ति का जटिल रहस्य अब समझ में आया।

कई घन्टे व्यतीत हो गए। वे एकाएक उठ बैठे। उन्होंने कहा—"बेवक़ूफ़ लड़की? क्या तू सचमुच वेश्या नहीं है? तेरे पास हृदय है? तू प्रेम करना जानती है।

मेरे जवाब से प्रथम ही उन्होंने मुझे उठा कर हृदय से लगा लिया। हाय, यह पापिष्ठ शरीर यहाँ से भी अर्पण करना पड़ा। पर मैं लज्जा से आपके आपको भी नहीं देख सकती थी।

कह ही दूँ, बिना कहे तो चलेगा नहीं; वैसा सुन्दर आदमी नहीं देखा था। रङ्ग गुलाब के समान, दाँत जैसे मोती की लड़ी, हास्य जैसे चाँदनी की बहार—मैं देखती रह गई, यही महाराज थे। उन्होंने पास बुलाया, प्यार से बग़ल में बैठाया, क्या-क्या किया; क्या-क्या कहा, वह सब बड़ी कठिनाई से भुलाया है, अब याद करूँ?

मैंने समझा था मैं नौकर हूँ, पर मैं थी रानी! नौकर थे राजा साहेब! वे कितना प्यार करते थे, कितना लाड करते थे—मैं क्या होश में थी, जो समझ सकती। पुरुष स्त्री जाति को कब क्या देता है; पुरुष स्त्री-जाति को किस तरह सुख देता है, यह कोई वह स्त्री ही जान सकती है, जिसने वैसा सुन्दर, उदार, दाता, दयालु पुरुष पाया हो। मैं कृतार्थ हो गई, मैं धन्य हुई, मुझे अब कुछ न चाहिए था। मेरे पास रूप था, यौवन था, शरीर था, मन था, आत्मा थी, प्रेम था, हृदय था—सभी मैंने उन्हें दे दिया, और उन्होंने जो देना चाहा रुपया-पैसा, वस्त्र, रत्न—मैंने तुच्छ समझा। मैंने एक बार तो निर्लज्ज होकर कह दिया था—"यह सब क्यों करते हो, तुम्हीं जब मुझे प्राप्त हो, फिर और कुछ मुझे क्या चाहिए।" वे हँसते थे। मेरे वे दिन हवा की तरह उड़ गए, मुझ मूर्ख ने यह समझा ही नहीं कि यह सब कुछ मेरे लिए नहीं, मेरे रूप के लिए है। और मैं स्त्री नहीं, वेश्या हूँ? इसके वेश्यापन और रूप ही ने तो मुझे चौपट किया!!

५

यह विधाता की भूल है कि वह वेश्या है, अगर महारानी रूप और गुण में इससे शतांश भी होतीं तो कदाचित जगत की जूठी पत्तल चाटने की ज़िल्लत में न पड़ता। लाखों मनुष्यों के सामने मैं राजा और महाराज हूँ, पर इस औरत के सामने आज एक कुत्ता, जो अपनी नीच-स्वाद वृत्तियों की तृप्ति के लिए सदा उन्मत्त रहता हो। वह जिस दिन आई तभी से मैंने उसे समझा। एक अफ़सोस तो यह है कि वह वेश्या है, दूसरा अफ़सोस यह कि वह यह बात अभी तक नहीं जानती। नारी-हृदय का नैसर्गिक प्रेम उसके पास अछूता था, वह उसने राई-रत्ती मुझे दिया, पर इससे फ़ायदा? वह मुझे वही समझती, जो लाखों-करोड़ों स्त्रियाँ पुरुष प्राप्त करके समझती रही हैं, पर मैं तो यह जानता हूँ कि वह वेश्या है। उसकी माँ ने मासिक वेतन लेकर उस काल के लिए उसके शरीर पर मुझे अधिकार करने दिया है, जब तक मैं वेतन देता रहूँ। वह आत्मज्ञान कर चुकी, यह तो सत्य है पर इससे होता क्या है? इस अधिकार और पद्धति-शून्य असामाजिक आत्मदान का मैं क्या करूँ? क्या मैं खुल्लमखुल्ला उसे पत्नी कहने का साहस करूँ? सारे अख़बार हाय-तोबा मचा कर धरती-आसमान उठा लेंगे? सरकार की आँखें नीली-पीली अलग हो जावेंगी? और सरदार, अफ़सर, परिजन दम निकाल देंगे। वह रानी बनने योग्य है; उसके रानी बनने से उसकी नहीं, महल की शोभा है। परन्तु इस बात को तो देखिए कि यह व्यभिचार और रूप का क्रय-विक्रय तो सब अन्धे और बहरों की तरह देख सुन रहे हैं, पर इस पाप को नीति और नियम के रूप में संसार नहीं देखना चाहता। फिर मैं क्यों इज़्ज़त लूँ? मैं राजा हूँ, युवा हूँ, सुन्दर हूँ, धनी

हूँ, मैं ऐसे-ऐसे सौन्दर्य नित्य ख़रीदने में समर्थ हूँ। मैं अपना यह स्वार्थ-अधिकार क्यों त्यागूँ? कठोरता हाँ, यह कठोरता और निष्ठुरता तो है, परन्तु राजा बन कर एक मनुष्य को कितना कठोर बनना पड़ता है। राज्य-व्यवस्था क़ायम करने के लिए कठोरता गुण है, यदि मैं आत्म-सुख और शरीर-भोग के लिए भी ज़रा निष्ठुर बनूँ तो कुछ हर्ज है? मैं उसे ठग नहीं रहा, मुआविज़ा दे रहा हूँ, इतना और उसे मिलेगा कहाँ? वह वेश्या है, जब तक उसमें रस है, मैं भरपूर मोल देकर लूँगा, पीऊँगा, बखेरूँगा, जब जी में आवेगा फेंक-फाँक दूँगा। अजी! यह स्त्री-जाति ही तो है? सर्दी की धूप की तरह यह स्त्री-यौवन ढलता है। पुरुष होकर, सुयोग पाकर मैं क्यों सुप्राप्त यौवनों को छोड़ूँ? यह धन, राजसत्ता फिर किस काम आवेगी? अन्ततः हमारा राजापन किस योग्य होगा? पूर्वकाल के राजागण युद्ध करते थे; जीवन, मृत्यु सदा उनके सम्मुख थी; देश के चुने हुए विद्वान उनके मन्त्री सदा उनके पास रहते थे। अब यह सब काम तो प्रबल प्रतापी हमारी दयालु सरकार कर रही है, हमें छुट्टी है! इस जीवन भर के अवकाश में यदि हम जी भर कर यौवन और भोग को, जो धन से प्राप्त हो सकता है, न भोगें तो हमारे बराबर अहमक़ कौन?

वह वेश्या है, वेश्या रहे, यह बात उसे समझ रखनी चाहिए। वह स्त्री नहीं बनी रह सकती, पुरुष से स्त्री को जो प्रतिदान वास्तव में मिलना चाहिए, वह उसे नहीं मिलेगा। जब तक वह यौवन के उभार पर है, वह मेरी है, मेरा सारा राज्य उसके पैरों में है। इसके बाद? इसके बाद भी चिन्ता क्या है? वह इतना सञ्चित कर लेगी कि जन्म भर को काफ़ी होगा!

६

नख-शिख से शृङ्गार किए वेश्या के सामने आँख के अन्धे और गाँठ के पूरे बेवकूफ़ और बेग़ैरत नौजवान कुत्ते दुम हिला-हिला कर जो प्रेम और आदर प्रकट करते हैं वही क्या वेश्या का सम्मान है ? वेश्या की असलियत तो उसके 'वेश्या' शब्द में ही है। वह रज़ील, अछूत और भले घर की बहू-बेटियों के देखने की वस्तु भी तो नहीं। वे शरीफ़ज़ादे रईस और राजा, जो समय पर जूतियाँ उठाते और जूतियाँ खाते हैं—यह तो सहन ही नहीं कर सकते, कि कभी सामना होने पर भी अपनी घरवालियों से हमारा परिचय तक तो करा दें। अपनी रज़ील हैसियत हम समझती हैं, हमारे हीरे-मोती, महल-पलँग, मसहरी-मोटर, धन—कोई भी हमारी इस रज़ील हैसियत से हमारी रक्षा नहीं कर सकता। हाय ! वेश्या के हृदय को छोड़ कर, और कौन स्त्री-हृदय इस भयानक अपमान की धधकती आग को हँसकर सह सकता है।

उस दिन मेंह बरस रहा था, भयानक अँधेरा था, राजमहल स्टेशन से दूर न था, परन्तु महाराज शिकार खेलने वहाँ से १८ मील के फ़ासले पर गए थे। उनके अङ्गरेज़ दोस्त आए थे, वहीं उनकी दावत और जशन का नाच-रङ्ग था, दर्जन भर वेश्याएँ उसमें बुलाई गई थीं, मैं अभागिनी भी उनमें एक थी, मेरे नाच और गाने की ख्याति ने ही मुझे इस विपत्ति में डाला था, पर मैं करती भी क्या। वेश्या पर उसकी कुटनी माँ का असाध्य अधिकार होता है, मेरा शरीर अच्छा न था, मैं दो साइयाँ बजा कर आई थी, थकी थी, सर्दी-ज़ुकाम भी था, पर मुझे आना ही पड़ा। चार सौ रुपए रोज़ की फ़ीस छोड़ी भी कैसे जाती ? सारी नवाबी तो उसी के पीछे थी। अँधेरी रात और १० मील का सफ़र ! १०-१२ हम बदनसीब औरतें और

हमारे मिरासी नौकर। साथ के लिए ४ प्यादे सिपाही और सामान लादने की एक बेगार में पकड़ी हुई बैलगाड़ी और दो लद्दू टट्टू। बस, यह हमारे स्वागत का प्रबन्ध उपस्थित था। क्या ये कमीने राजा अपनी रानियों के लिए भी ऐसा ही स्वागत करने की हिम्मत कर सकते हैं? पर रानियों से हमारी निस्बत ही क्या?

सिपाहियों ने कहा—"बेगार में और कुछ मिला ही नहीं, सामान गाड़ी और टट्टू पर तथा हमें पैदल चलना होगा।" मैं तो धम से बैठ गई। इस अँधेरी रात में, बरसात के समय १० मील पैदल चलने से मैंने मरना ठीक समझा, मैंने साफ़ इनकार कर दिया। सिपाहियों ने फ़बतियाँ उड़ाईं। अन्त को एक टट्टू पहिले मुझे दे दिया गया। मैंने उसे ही ग़नीमत समझा।

हम भाग्यहीनों की इस ठाट की सवारी चली, जिन्हें वहाँ पहुँचते ही अपनी चमक-दमक, रूप और नख़रों से उन भेड़िए रईसों और उनके कमीने मेहमानों को पागल बनाना था। मैं चुपचाप टट्टू पर कम्बल ओढ़े बैठी थी, कमर टूटी जाती थी और मैं गिरी जाती थी। पानी का छींटा बीच-बीच में गिर जाता था, पर मैं जानती थी—वहाँ पहुँच कर मुझे बहुत मिहनत करनी है, आराम इस नसीब में कहाँ?

तीन घण्टे सफ़र करके हम वहाँ पहुँचे। पहुँचते ही पता लगा, महाराज और पार्टी बड़ी प्रतीक्षा कर रहे हैं, हमें तत्काल ही पेश्वाज़ पहन कर महफ़िल में पहुँचना चाहिए। मैंने अधमरी सी होकर साथ की वेश्या से कहा—"अब इस समय तो मुझसे एक पग भी न उठाया जायगा।" उसने कहा—"बेवक़ूफ़ हुई है, जल्दी कर, ऐसा नहीं होता है।" उसने जल्दी-जल्दी दो-तीन पैग शराब पिलाई।

ओह ! मुझे सजना पड़ा, मेरा अङ्ग-अङ्ग टूट रहा था, मैं मरी जाती थी, मुझे ज्वर चढ़ रहा था, पर मेरे पास मिनट-मिनट पर सन्देश आ रहे थे। हीरा प्रथम ही से महाराज के पास थी, उसने कहला कर भेजा—"आनन्दी जल्दी कर, सभी लोग तेरा नाम रट रहे हैं। मेरा शृङ्गार हुआ, जड़ाऊ गहने, ज़री की पेश्वाज़, मोतियों के दस्तबन्द और जड़ाऊ पेटी कस कर, इत्र और सेण्ट से तर-बतर हो, पाउडर से लैस हो, दो पैग चढ़ा कर मैं छमा-छम करती महफ़िल में पहुँची। मैं क्या पहुँची, बिजली गिरी—लोग तड़फ गए। हाय-हाय से महफ़िल गूंज गई, महाराज पागल हो रहे थे और दोस्त लोग उछल रहे थे। फूलों के गुलदस्ते मुझ पर बरस रहे थे, वाह-वा का तार बँधा था। क्षण-क्षण पर हरी, लाल, नीली बिजली की रौशनी पड़ कर मुझे अमूर्ति मूर्ति बना रही थी, पर मेरा सिर दर्द से फटा जाता था, और जी मिचला रहा था, पर मैं मुस्करा कर छमाछम नाच रही थी। कहरवे की ठुमकी लेकर मैंने विहाग का एक टप्पा छेड़ा, साज़िन्दे उसे ले उड़े। महफ़िल में सकते की हालत हो रही थी, तालियों की गड़गड़ाहट की हद न थी, नोट और गिन्नियों का मेंह बरस गया, पर मैं मानों मूर्च्छित होने लगी, मुझे कै आने लगी थी और मैं अपने को अब क़ाबू न कर सकती थी। मैंने रौशनी वाले को आँख से एक सङ्केत किया। एक बार झुक कर महफ़िल को सलाम किया और भागी। महफ़िल में तालियाँ गड़गड़ा रही थीं, 'वन्स मोर' का शोर आसमान को चीरे डालता था। उधर मैं एक ज़ोर की कै करके बेहोश हो गई थी।

७

मैं कब तक उस दशा में पड़ी रही, नहीं कह सकती। किसी ने

झकझोर कर जगाया, आँख खोल कर देखा, हीरा है। मैं उसे देखते ही उससे लिपट गई! ध्यान से देखते ही मुझे मालूम हुआ, हीरा का वह रूप-रङ्ग उड़ गया है। वह पीली पड़ गई है और उसकी उन सुन्दर आँखों के चारों ओर नीले दाग़ पड़ गए हैं, गले की हड्डियाँ निकल आई हैं। उसे मैं देखती ही रह गई, वह मुझे इस प्रकार अपनी ओर देखते देख कर हँस पड़ी। हाय, वह हास्य भी कितना रूखा था! कौन हीरा के उस हास्य से सुखी होता? पर मेरे मुँह से बात न निकली। मैं नीची दृष्टि किए कुछ सोचने लगी।

हीरा ने कहा—"उठ-उठ आनन्दी! जल्दी कर, तुझे महाराज ने याद फ़र्माया है।"

उसके होंठ काँप गए, स्वर भी विकृत हो गया। मैं भी डर गई। मैंने कहा—"यह किसी तरह सम्भव नहीं हो सकता। क्या मैं इस समय महा-राजा के पास जाने के योग्य हूँ?"

"इस बात से क्या बहस है? तुझे चलना तो पड़ेगा ही।"

"मैं हरगिज़ न जाऊँगी।"

उसने प्यार से मेरे सिर पर हाथ फेरा पुचकारा और कहा—"बेवक़ूफ़ी न कर, यह रियासत है, अपना घर नहीं, महाराज की हुक्मउदूली की सज़ा तुझे मालूम नहीं।"

"क्या मार डालेंगे?"

"यह तो कुछ सज़ा ही न थी?"

"तब?"—मैंने शङ्कित स्वर से पूछा।

"ईश्वर न करे, कि तुझे फ़ज़ीहत उठानी पड़े। मेरी प्रार्थना यही है कि उनकी इच्छा में दख़ल न देना, इसी में ख़ैर है।"

इतना कह कर उसने मुझे उठाया। पर मैं उठ सकती ही न थी। किसी तरह उसने उठाया, अपनी एक बढ़िया साड़ी मुझे पहना दी, बालों का शृङ्गार कर दिया और कुछ अदब-क़ायदे की बातें समझा कर ड्योढ़ियों तक पहुँचा आई। मैंने देखा, उसने मुँह फेर कर आँसू पोंछ लिए।

मेरा शरीर वास्तव में काबू में न था, मैं सम्हल ही न सकी, बदहवास की तरह महाराज के सामने गिर गई। वहाँ क्या हो रहा था, वह सब मैं देख न सकी। मेरे होश-हवास दुरुस्त न थे, पर वहाँ सभी लुच्चे-लुङ्गाड़े, नीच, शराबी इकट्ठे थे। वे नर राक्षस और पिशाच थे। वे शराब पी-पीकर पशु हो गए थे। उन्होंने लज्जा बेच खाई थी। मुझ पर जैसी बीती, वह मैं वेश्या हो कर भी वर्णन नहीं कर सकती। जगत का कोई भी खूँखार पशु अबला स्त्री पर इतना अत्याचार न कर सकेगा। ज्वर से जलती हुई, थकी हुई, मुझ बदहवास ग़रीब असहाय स्त्री के साथ उन कुत्तों ने क्या-क्या करने और न करने योग्य न किया? सारा संसार यह कल्पना भी नहीं कर सकता, कि मुझ पर जो बीता और मैंने जो देखा, वह सम्भव भी हो सकता है, पर मेरे साथ तो वह वह हुआ जब तक मैं होश में रही और मेरे शरीर पर बल रहा, मैंने उन भेड़ियों को रोका। प्रतिकार किया, परन्तु मैं शीघ्र ही बदहवास हो गई और मैं उसी अवस्था में डोली पर लाद कर दिन निकलने से पूर्व ही दिल्ली को रवाना कर दी गई।

=

सेकिण्ड क्लास के ज़नाने डब्बे में मैं अकेली थी, मैंने सब खिड़कियाँ खुलवा दी थीं। सुबह की ठण्डी-ठण्डी हवा से मेरी तबीयत हलकी हुई, पर रात जो मुझ पर अत्याचार हुआ था वह असाधारण था; पर मैं जानती हूँ

जगत के मर्द इससे क्षुभित न होंगे। वेश्या के बाहरी स्वरूप को सभी देखते हैं, वह भीतरी रूप तो हम स्वयं ही देखती हैं। मैं ज़रा उठ कर देखने लगी, रेल की पटरी के बराबर ही बराबर सड़क थी, उस पर एक मोटर तेज़ी से दौड़ी चली आ रही थी। मोटर गाड़ी से दौड़ लगा रही थी। मुझे कौतुहल हुआ, मैं एकटक उसे देखने लगी। मैंने देखा, एक स्त्री उसमें बैठी बड़ी बेचैनी से गाड़ी को देख रही है। स्टेशन आया, गाड़ी खड़ी हुई और वह स्त्री घबराई हुई स्टेशन में घुस आई। एक कर्मचारी उसे मेरे डब्बे में बैठा गया, डब्बे में बैठते ही वह हाँफने लगी और दोनों हाथों से मुँह ढँक कर बैठ गई। गाड़ी के चलते ही मैंने उसके पास जाकर कहा—"आपको कुछ तकलीफ़ है क्या?" उसने चौंक कर देखा और मुझे देख कर ज़ोर से मेरा हाथ पकड़ कर कहा—"कुछ नहीं, ईश्वर का धन्यवाद है कि मेरी इज़्ज़त बच गई, तुम कहाँ जा रही हो।"

मैंने कहा —"दिल्ली।"

"मैं भी वहीं जा रही हूँ। तुम्हारा घर किस मुहल्ले में है और तुम्हारे पति क्या काम करते हैं?"

मैं क्या जवाब देती, मैं चुपचाप खड़ी रही। कुछ सम्हल कर मैंने कहा—"आपको कुछ मदद चाहिए, वह मैं कर सकूँगी। आप कहिए।"

"मैं तुम्हारे यहाँ कुछ घण्टे ठहरना चाहती हूँ और अपने पति को तार-द्वारा सूचना देना चाहती हूँ। क्या तुम मेरे लिए इतना कष्ट करोगी?"

"ज़रूर, परन्तु........." मैं फिर चुप हो गई।

"परन्तु क्या?"—उसने घबरा कर कहा।

"मैं तवायफ़ हूँ, शायद आपको मेरे घर चलना पसन्द न हो।" वह स्त्री इस तरह चमकी, जैसे बिच्छू ने डङ्क मारा हो। उसने मेरा हाथ छोड़ दिया, मैं अपनी जगह आ बैठी। कुछ देर सन्नाटा रहा, आत्म-ग्लानि के मारे मैं मर रही थी।

उस स्त्री ने पूछा—"कहाँ से आ रही हो?"

"महाराज.........की महफ़िल से।"

उसने घृणा और क्रोध से मेरी ओर देखा, उसने होंठ काट कर कहा—"उस हरामज़ादे को मैं मच्छर की तरह मसल डालूँगी, उसने मुझे भी तुम जैसी ही रण्डी समझा होगा।"

मेरे कलेजे में तीर लगा।

मैंने धीरज धरके कहा—"मैं उससे घृणा करती हूँ, रात उसने मुझ पर बड़ा ज़ुल्म किया है, हम अभागिनी स्त्रियों की तो सर्वत्र एक ही दशा है। मैं जो हूँ वही रहूँगी, यह तो क़िस्मत है। आपकी कोई भी सेवा मैं ख़ुशी से करूँगी, यदि आप चाहें।"

उसने मेरी तरफ़ देखा, और कहा—"मेरे स्वामी उस स्टेट में इञ्जीनियर हैं। हम लोग पारसी हैं, पर्दा नहीं करतीं। उस पापी ने मुझे और मेरे पति को एकाध बार चाय-पानी के लिए बुलाया था। वे कल से ही कहीं बाहर भेज दिए गए और आज सुबह मुझे बुला भेजा कि साहब आए हैं, यहाँ बैठे हैं। मैं सीधे स्वभाव चली गई, पर वहाँ धोखा था। मेरी इज़्ज़त बचनी थी, मैं ग़ुसलख़ाने की राह भाग कर मोटर में भागी हूँ। मैं सीधी वायसराय के पास जाना चाहती हूँ, मैं दिखा दूँगी कि किसी महिला की आबरू उतारने की कोशिश करना

किसी गुण्डे के लिए कैसा भारी है, फिर चाहे वह गुण्डा महाराजा ही क्यों न हो ?"

इतना कह कर वह लाल-लाल आँखों से मुझे घूरने लगी, मैं अपराधिनी की भाँति थर-थर काँपने लगी। क्या यह आश्चर्य की बात थी ? एक ऐसी वीर महिला के सामने, जो अपनी इज्जत बचाने को जान पर खेल गई है, मेरी जैसी जन्म-अभागिनी जो उसी इज्ज़त को बेच कर पेट ही नहीं भरतीं, शान से रहना भी चाहती हैं—क्या खड़ी रह सकती थी ? मैं खिड़की में मुँह डाल कर रोने लगी।

वह उठ कर आई, कहा—"रोती क्यों हो ? क्या कोई कड़ी बात मेरे मुख से निकल गई। ऐसा हो तो माफ़ करना, मैं आपे में नहीं हूँ।"

मैंने उसका आँचल उठाकर आँखों में लगाया, उसे चूमा और फिर मैं भरपेट रोई। मैंने अपना पाप स्वीकार किया। मैंने मुँह फाड़ कर कह दिया। ईश्वर ने जीवन में मुझे सच्ची स्त्री-रत्न के दर्शन करा दिए। ओह, हम लाखों बेबस नारियाँ इस पवित्र जीवन से वञ्चित हैं, कोई भी माई का लाल इसका उपाय नहीं सोचता !!

उसने मुझे छाती से लगाया, प्यार किया। वह पवित्र वीराङ्गना मुझ पतिता वेश्या, अधम अभागिनी को बेटी की तरह दुलार करती दिल्ली तक आई। किसी तरह मेरी कोई सहायता स्वीकार न की। बहुत कहने पर कहा—"मेरे पास रुपए नहीं हैं। तुम्हारे पास हों तो १००) दे दो। ये कड़े रख लो, ६००) के हैं।" मैंने रुपए दे दिए। कड़े लेती न थी, पर वह बिना दिए कब रहती। वह मेरी आँखों से ओझल हो गई।

९

कृमि-कीट से भी अधम और घृणास्पद वेश्या होकर भी जो मैंने रानी का गौरवस्पद पद छीनना चाहा, उस धृष्टता का जो दण्ड मिलना उचित था, वह मुझे मिला।

मैं जिस रूप पर इतराती थी और जिसकी सर्वत्र प्रशंसा थी, महाराज भी जिसे देख कर थकते न थे, वह रूप अब निस्तेज हो गया। महाराज पर उसका नशा नहीं होता, वे और नवीनाओं की खोज में लगे और मुझे अनुचरों के सुपुर्द कर दिया। हाय री लाञ्छन, वह सब बड़ी-बड़ी आशाएं मृग-मरीचिका निकल गई। जिन्हें कल मैं तुच्छ समझ कर पीकदान उठवाती थी, वे महाराज के सङ्केत से मेरे शरीर और आत्मा के अधिकारी हो गए। जैसे पवित्र पाकशाला में विविध स्वादिष्ट खाद्य-पदार्थों से भरा हुआ थाल—महाराज से छक कर जीम चुकने पर जूठन भङ्गी को मिलती है। मेरी दशा भी उसी पत्तल के समान थी। महाराज के आदेश से उन्हीं के सम्मुख उनके विनोदार्थ मुझे उनके नीच पशु पार्श्वदों से जघन्य कुकर्म बिना उज्र करना और महाराज के लिए आई हुई नवीनाओं के बीच कुटनी का काम करना!!

क्या किसी स्त्री का हृदय बिना फटे रह जाय? परन्तु मेरा हृदय फट कर भी न फटा, मैंने वह सब किया जो मुझे आदेश दिया गया। उस दिन महफ़िल में आनन्दी के रूप को देख कर महाराज और उनके कामुक कुत्ते उस पर लट्टू हो गए। और उस ग़रीब असहाय बालिका को उनके पास लाने का कार्य करना पड़ा मुझे? इच्छा हुई कि अभी विष खा लूँ; फिर सोचा, क्या मेरे मर जाने पर आज कोई रोवेगा? इस रस-रङ्ग में ज़रा भी विघ्न पड़ेगा? आनन्दी को भी क्या कोई बचा सकेगा?

यह तो सम्भव नहीं है। मैं उसे चुमकार-पुचकार कर ले गई। वही हुआ जो भय था, वह उसी दिन से शय्या पर पड़ी है, उसके शरीर का बूँद बूँद रक्त निकल गया, पर रक्त-प्रवाह बन्द होता ही नहीं। डॉक्टर कहते हैं कि वह बचेगी नहीं, उसे खाँसी और ज्वर भी हो गया है, और वह सूख कर काँटा हो गई है। मैं उसे देखने गई थी। क्या उसका हाल वर्णन करूँ? वह अब उठ-बैठ भी नहीं सकती, अभी उसकी आयु की बालिकाएँ कुमारी हैं और वह सभी कुछ भोग चुकी, सभी कुछ पा चुकी, साथ ही परलोक के सभी अधिकार खो चुकी। आज नहीं तो कल वह चली जायगी, उस सर्व-शक्तिमान् पिता के पास, वह दयालु ईश्वर क्या अब भी उसे और दण्ड देगा! उसने पाप किया, पाप अपना जीवन बनाया, पाप में वह जी और मरी, पर पाप को उसने पाप समझा कब? नारी-जीवन पाकर, नारी-शरीर पाकर, नारी के सभी गुण पाकर, वह बेचारी नारी-गरिमा से बिलकुल वञ्चित रही!!

हाँ, मैं इस पर विचार करूँगी कि यह वेश्यावृत्ति क्या वस्तु है। और इसका दायित्व किस पर है, इसके नाश का क्या कोई उपाय नहीं है। उन पुरुषों को धिक्कार है, जो स्त्रियों के रक्षक होकर भी स्त्री-जाति के इस कलङ्क को नाश करने का ज़रा भी उद्योग नहीं करते। आह! आनन्दी, तेरी जैसी कितनी प्यार की पुतलियाँ इसी तरह कुचली गईं। ये कमीने धनी, धन के बदले हमें प्रलोभनों में फँसाते हैं और हमारा यह लोक और परलोक नष्ट करते हैं। और खेद तो यह है कि इसका ज्ञान हमें तब होता है, जब हमारे बचने के सभी मार्ग बन्द हो जाते हैं। मैं क्या कर सकती थी, मैं उसके लिए अच्छी तरह रोकर चली आई।

१०

मुझे मरने में बड़ा सुख है। रेल वाली उस महिला का हाथ मेरे मस्तक पर है। वह मुझे मृत्यु के बाद मार्ग बताएगी। अब जितनी जल्द यह घृणित शरीर छूटे, अच्छा है। मैंने वे पलँग, साड़ी, शाल, आभूषण—सब त्याग दिए। मैं महादरिद्र की तरह मर रही हूँ, पर मुझे गर्व है कि इस शरीर को छोड़ अब कोई अपवित्र वस्तु मेरे पास नहीं। और जिस स्वेच्छा से मैंने वे सब सामान त्यागे हैं, उसी तरह मैं इस शरीर को त्यागने को उत्सुक हूँ। इसमें मुझे ज़रा भी दुःख नहीं, पर खेद तो यह है कि अब स्नेहशीला हीरा के दर्शन न होंगे। ऐसी प्रेम और त्याग की अप्रतिम मूर्ति, सौन्दर्य की राशि पृथ्वी में कितनी उत्पन्न होती हैं? सुना है कि वह पागल हो गई है। और उस दिन आत्म-घात की इच्छा से छत से कूद पड़ी थी। आख़िर कहाँ तक सहन करती? जिसे उसने तन, मन, शरीर दिया, उसीने उसे यहाँ तक गिराया। मैं मरती हूँ, पर पुरुष-जाति पर श्राप देती हूँ, कि इस पुरुष-जाति का नाश हो, इसका वंश नष्ट हो, इसकी मिट्टी ख़्वार हो, जो असहाय अबलाओं की पवित्रता और जीवन को अपनी वासनाओं पर क़ुर्बान करते हैं!! यह पुरुष-जाति सदा—रोग, शोक, दुख, दरिद्र, पाप, यन्त्रणा में अनन्त काल तक पड़ी रहे!!!



आचार्य उपगुप्त

सन्ध्या हो चुकी थी, सूर्य अस्त हो गया था, पर पश्चिम दिशा में अभी लाल आभा बाकी थी। पूर्व-दक्षिण कोण से जो प्रधान राजमार्ग मथुरा को जाता है, उस पर तीन यात्री धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। यात्री बहुत दूर से आ रहे थे। और वे अत्यन्त क्लान्त और थकित थे। उनमें एक वृद्ध था, दो युवक। उन दोनों में भी एक अति किशोरवयस्क सुकुमार बालक था, जिसकी आयु कठिनता से १४वर्ष की होगी। मध्यवर्ती युवक ने वृद्ध को सम्बोधन करके पूछा—"लल्ल! मथुरा तो आ गई, आशा है, अब विश्राम और आश्रय मिलेगा। परन्तु लल्ल! क्या तुम्हें आशा है कि श्रेष्ठिवर हमें आश्रय देंगे? वे हमें पहचान सकेंगे, और हमारा भेद गुप्त रख सकेंगे?"

"अवश्य ही ऐसा होगा, श्रेष्ठि धनगुप्त महाराज के परम मित्र, अनुग्रहीत और सेवक हैं।"

किशोर वयस्क बालक ने अतिशय क्लिन्त होकर कहा—"महानायक! अब और कितना चलना पड़ेगा? मुझसे तो एक पग भी अब चलना कठिन है। देखो मेरे पैर क्षत-विक्षत हो गए हैं।"

लल्ल ने क्षण भर रुक कर, पीछे फिर कर बालक को देखा, उसके ओष्ठ कम्पित हुए, और नेत्रों में एक कण अश्रुविन्दु आकर गिर गया। पर उसने किञ्चित हँस कर कहा—"अब तो आगए, थोड़ा धैर्य और।"

"अब और नहीं" कह कर बालक वहीं सड़क पर बैठ गया। दूसरे युवक ने प्यार से उसका हाथ पकड़ कर कहा—"यहाँ मार्ग में देर करने से से क्या लाभ, सूर्य छिप गया है, कहीं द्वार बन्द हो गए तो बाहर ही रात काटनी होगी और वन्य-पशु फिर लल्ल को सोने न देंगे।"

बालक फिर चला। लल्ल आगे बढ़ा। नगर के दक्षिण द्वार पर नगर-रक्षक रात्रि के लिए नवीन प्रहरियों की गिनती कर रहा था। तीनों यात्रियों ने चुपचाप द्वार में प्रवेश किया। किसी ने इन तीन यात्रियों की ओर ध्यान नहीं दिया। लल्ल ने विनीत भाव से युवक से कहा—"यदि आज्ञा हो तो रात किसी अतिथिशाला में काट ली जाय, फिर प्रातःकाल श्रेष्ठिवर का घर ढूँढ़ लिया जायगा। अब इस समय कहाँ भटका जायगा।" इतना कह कर उसने एक दृष्टि किशोर बालक पर फेंकी और युवक की आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़ा रहा। युवक ने कहा—"यही उचित है लल्ल! चलो अतिथिशाला में ही रात्रि व्यतीत करें।"

तीनों यात्री नगर के जन-पथ पर आगे बढ़े।

२

"श्रेष्ठिवर धनगुप्त का घर क्या यही है ?"

"यही है श्रीमान् ! आपका कहाँ से पधारना हुआ है ? आइए, भीतर आइए, घरको पवित्र कीजिए।"

लल्ल से जब एक परम सुन्दर युवक ने अति नम्रता-पूर्वक ये शब्द कहे, तब लल्ल आँखें फाड़-फाड़ कर उस युवक और सामने के एक साधारण घर को देखने लगे।

"अवश्य ही भ्रम हुआ है महोदय ! क्या आप महाश्रेष्ठि धनगुप्त को जानते हैं ?"

"श्रीमान् ! यह दास उनका पुत्र है।"

"आप ? श्रेष्ठि धनगुप्त के पुत्र ? और यह उनका घर ? आपका शुभनाम ?"

"सेवक का नाम 'उपगुप्त' है।"

"उपगुप्त, उपगुप्त ! ओह ! सचमुच आप × × × परन्तु श्रेष्ठिवर कहाँ हैं ?"

"पूज्य पिता जी का स्वर्गवास हुए ८ वर्ष हो गए ?"

"स्वर्गवास ?" लल्ल ने मुँह फैला दिया।

"श्रीमान् अवश्य ही पितृ-चरणों के बन्धु हैं। मेरा प्रणाम स्वीकार कीजिए।"

"उपगुप्त श्रेष्ठिवर !" इतना कह कर लल्ल ने युवक को दौड़ कर भुजा-पाश में बाँध लिया। कुछ ठहर कर लल्ल बोले—"समझा ! पिता के बाद लक्ष्मी ने भी उसके पुत्र को त्याग दिया ! वाह रे कराल काल ! जिसके

नौ-व्योपार से समुद्र पटा रहता था, और यवन, चीन तक जिसकी हुण्डी चलती थी, उसका यह पुत्र नङ्गे पाँव खड़ा राजमार्ग पर अतिथि का सत्कार कर रहा है, और जहाँ द्वार पर सेना और हाथियों की पंक्ति रहती थी वहाँ यह घर है !" यह कह लल्ल रोने लगे। एक बार उन्होंने फिर युवक को छाती से लगा लिया।

उपगुप्त ने धैर्य से पूछा—"आर्य ! परिचय देकर कृतार्थ करें। यह तो मैं समझ गया, आर्य पितृ-तुल्य पूज्य हैं, आज मेरा जन्म इन चरणों की सेवा से कृतार्थ होगा।"

"श्रेष्ठिवर उपगुप्त ! ईश्वर को धन्यवाद है कि श्रेष्ठिवर धनगुप्त का विनय, सौजन्य और अतिथि-सत्कार आप में अवशिष्ट है, जो श्रेष्ठिवर की सब सम्पत्तियों में अमूल्य थी, परन्तु अब परिचय की आवश्यकता नहीं, ईश्वर आपका कल्याण करें !"

इतना कह कर लल्ल चलने को तैयार हुए। उपगुप्त ने कातर स्वर से कहा—"आर्य ! क्या दरिद्रता के कारण दास को आप त्याग रहे हैं ? यह न होगा। श्रीमान् यदि मेरा आतिथ्य न स्वीकार करेंगे तो मैं प्राण त्याग दूँगा। आचार्य, मैं कभी झूठ नहीं बोलता !

लल्ल क्षण भर स्तब्ध खड़े रहे। फिर उन्होंने कहा—"श्रेष्ठिवर, मेरे साथ और भी दो व्यक्ति हैं, देखो वे सम्मुख खड़े हैं" × × × "आह ! आपने कहा नहीं × × ×" यह कह कर उपगुप्त उधर दौड़े, लल्ल ने रोक कर कहा—"श्रेष्ठिवर, ठहरिए, निस्सन्देह हम लोग आपके पिता का आश्रय प्राप्त करने यहाँ आए थे—पर अब नहीं श्रेष्ठिराज, हम लोग आपको विपत्ति और चिन्ता में नहीं डालेंगे। ईश्वर आपका कल्याण करें।"

"तब आर्य ! मैं निश्चय प्राण-त्याग करूँगा।"

"नहीं महोदय आपका इस अवस्था में आतिथ्य स्वीकार न करने के कारण हैं। आप हमारे कारण विपत्ति में पड़ सकते हैं।"

"परन्तु महोदय ! मैं प्राण देकर भी हर्षित हूँगा। आर्य ! आज तक मैं अपने दारिद्रय के लिए लज्जित नहीं हुआ—क्या अब श्रीमान् मुझे लज्जित करेंगे ?"

"नहीं, नहीं, श्रेष्ठिराज, बात कुछ और ही है। अच्छा, तब मैं स्वामी से आज्ञा ले लूँ।"

"मैं स्वयं ही उनके चरणों में प्रार्थना करूँगा।" इतना कह कर, उपगुप्त ने दूर खड़े दोनों युवकों के निकट जा, उनकी चरण-रज मस्तक पर लगाई।

लल्ल ने संक्षेप में सब कुछ कह कर घर में चलने का अनुरोध किया।

आसन देकर, सब के बैठने पर उपगुप्त ने कहा—"आर्य ! अब अपना और इन पूज्यों का परिचय देकर कृतार्थ करें।"

"श्रेष्ठिवर ! ये कलिङ्गराज-महिषीपट्ट महारानी चन्द्रलेखा और ये महा-राजकुमारी शीला हैं। मगध के प्रतापी सम्राट् चण्डाशोक ने कलिङ्ग का महाराज्य नष्ट कर डाला, एक लाख कलिङ्ग योद्धा रणभूमि में काम आए हैं—महाराज कुमार हरिद्वार में स्वामी चिदानन्द के आश्रम में विद्याध्ययन कर रहे हैं। मैं महानायक भट्टारक पादीप लल्ल हूँ। राजपरिवार घोर विपत्ति में पड़ गया, तब इन महिलाओं को लेकर मैं आपके पिता के आश्रय की इच्छा से चल पड़ा। धनगुप्त श्रेष्ठिराज को छोड़ और कौन इन राज-अतिथियों को आश्रय दे सकता है ? चण्डाशोक ने सर्वत्र चर छोड़े हैं—जो कोई राज-

परिवार और कुमार जितेन्द्र को पकड़ा देगा उसे दस सहस्र स्वर्ण-मुद्रा दी जावेंगी। और जो कोई उस परिवार को आश्रय देगा उसे प्राण-दण्ड होगा। श्रेष्ठिराज, इसीलिए हम लोग आपकी इस दुरवस्था में आपको विपत्ति में नहीं डालना चाहते थे।"

उपगुप्त ने सब सुन कर कहा—"राजमाता और राजपुत्री और आपके चरणों से यह घर पवित्र हुआ, अब आपकी सेवा से शरीर को धन्य करूँगा।"

'परन्तु, लल्ल ने कहा—"आप अपनी पत्नी तक से यह परिचय गुप्त रक्खेंगे और इनका पुरुष-परिचय ही देंगे।"

श्रेष्ठिवर ने स्वीकार किया।

३

अतिथियों के विश्राम की व्यवस्था करके उपगुप्त ने अपनी पत्नी से जाकर कहा—"कुन्द! मेरे स्वर्गीय पिता के मित्र हमारे अतिथि हुए हैं, उनका आतिथ्य हमें जैसे बने, करना होगा।"

कुन्द ने कुण्ठित होकर कहा—"परन्तु स्वामिन्! घर में तो कुछ भी सामग्री नहीं है—अतिथि खायँगे क्या?"

उपगुप्त चुपचाप पत्नी के मुँह की ओर देखने लगे। उन्होंने कहा—"कुन्द! क्या किसी भी तरह तुम व्यवस्था नहीं कर सकतीं? क्या और कोई आभूषण हैं?"

"नहीं"

"तब कोई अनावश्यक पात्र बन्धक रख दिया जाय।"

"यही होगा और उपाय क्या है?"

उपगुप्त ने विकल होकर कहा—"परन्तु कुन्द, तुम्हीं इसकी व्यवस्था कर देना, जिसमें हमारा नाम न प्रकट हो।"

कुन्द ने कुछ कहने को मुख खोला ही था कि द्वार से कुछ मनुष्यों ने श्रेष्ठि को पुकारा। श्रेष्ठि ने बाहर आकर देखा, ८-१० राजकर्मचारी हैं और साथ में है ऋणदाता महाजन। उसने कर्कश स्वर में कहा—"श्रेष्ठि उपगुप्त! हमारा चुकता-पावना अभी चुकाओ अथवा बन्दीगृह में जाओ।"

श्रेष्ठिवर ने घबराकर विनयपूर्वक कहा—"मित्र! आप तो जानते ही हैं, मैं इस समय कितने कष्ट में हूँ; फिर आज अभी मेरे घर में पूज्य अतिथि आए हैं। श्रेष्ठिवर, कुछ और धैर्य धारण करो, वरना बड़ा अनर्थ हो जायगा।"

ऋणदाता ने अवज्ञा से हँस कर कहा—"मैं ऐसा मूर्ख नहीं, रक़म भी छोटी नहीं, अब और धैर्य किस आशा पर? दस सहस्र अभी दो, अन्यथा ये कर्मचारी तुम्हें बन्दी कर लेंगे।"

उपगुप्त ने विवश होकर कहा—"तब मुझे कुछ क्षण का तो अवकाश दीजिए, मैं अपने अतिथियों और पत्नी की कुछ व्यवस्था कर दूँ।"

प्रधान राजकर्मचारी ने आगे बढ़ कर कहा—"महोदय! इसके लिए हम लोग बाध्य नहीं। क्या आप कृपापूर्वक अभी वह धन देते हैं?

"नहीं, धन अभी नहीं है।"

"तब सैनिको, इन्हें बाँध लो।"

क्षण भर में सैनिकों ने श्रेष्ठि को बाँध लिया। विवाद सुन कर लल्ल और राजकुमारी बाहर आ गए थे। कुन्द भी सब व्यापार देख रही थी। सभी विमूढ़वत् खड़े रहे, वे लोग श्रेष्ठिवर को बाँध कर ले चले। कुन्द पछाड़ खाकर धरती पर गिर पड़ी।

राजकुमारी शीला ने दौड़कर उसे उठाया और फिर लल्ल को बुलाकर धीरे से कहा—"महानायक ! इस विपन्नावस्था में हमें श्रेष्ठि और उनकी पत्नी की पूर्ण शुश्रूषा करनी होगी।" कुन्द को शैया पर सुलाकर राजकुमारी लल्ल से कुछ परामर्श करने लगी। कुमारी की बात सुन कर लल्ल ने चौंक कर कहा—"यह तो अत्यन्त भयानक है।"

"चाहे जो कुछ भी हो।"

"नहीं; कुमारी ! ऐसा न होने पाएगा।"

"यही होगा महानायक।"

"कुमारी, सोच लो, राजमाता इसे कदापि न स्वीकार करेंगी।"

"हम लोगों का कर्त्तव्य है कि उन्हें सहमत करें।"

"पर यह भारी दुस्साहस है।"

"मैंने उसे करने का निश्चय कर लिया है। श्रेष्ठिवर को छुड़ाने का और उपाय नहीं, जब वे उन्हें बाँध रहे थे, उसी समय मेरे मन में यह विचार आया था।"

महानायक गम्भीर दुःख और विचार में मग्न हो गए।

४

घटना का विवरण सुनकर महारानी ने कहा—"श्रेष्ठिवर को इस कष्ट से प्राण देकर भी मुक्त करना होगा महानायक !"

राजकुमारी ने उतावली से कहा—"माता, वह मैं करूँगी ?"

"तू क्या करेगी ?" रानी ने बालिका को दृष्टि गाड़ कर देखा।

"भैया से मेरी आकृति बिलकुल मिलती है, क्यों महानायक ?"

"तब ?"

"और पुरुष-वेश में मैं, भैया ही मालूम होती हूँ—यह तुम बारम्बार कह चुकी हो।"

"हाँ, पर इससे क्या ?"

"भैया को जीवित या मृत पकड़ाने वाले का पुरस्कार दस सहस्त्र है, इतना ही तो श्रेष्ठिवर को चाहिए ? मैं अपने को भैया की जगह पकड़ाए देती हूँ—उन रुपयों से श्रेष्ठिवर मुक्त हो जायँगे।" इतना कह कर शीला खिल-खिलाकर हँस पड़ी।

रानी पर वज्र गिर पड़ा, वह घबराकर बोलीं—"वाह,यह कैसी बात ?"

"क्यों ?"—कुमारी ने गम्भीर होकर कहा।

"यह तेरा पागलपन है।"

"नहीं माँ, मैंने सब बातें विचार ली हैं।"

"क्या विचार ली हैं ?"

"इस काम से दो बातें होंगी—एक तो श्रेष्ठि मुक्त होंगे, दूसरे भैया की खोज-जाँच बन्द हो जायगी और वे सुरक्षित रह सकेंगे ?"

"परन्तु ये वर्बर सैनिक तेरा कैसी निर्दयता से घात करेंगे ? चक्रवर्ती तक जीवत भी पहुँच गई तो वह शत्रु क्या तुझे छोड़ेगा ?"

न जाने क्यों चक्रवर्ती का नाम सुन कर शीला का मुख लाल हो आया। उसने कहा—"माता ! चक्रवर्ती की आज्ञा जीवित पकड़ने ही की है। जीवित पकड़ कर वे वध नहीं करेंगे, चक्रवर्ती के सम्मुख ले जायँगे। वहाँ पहुँच कर मैं चक्रवर्ती से समझ लूँगी।"

"न, शीला ! मैं तुझे इतना साहस न करने दूँगी। चलो, हम लोग अन्यत्र चलें।"

शीला ने आँखों में आँसू भर कर कहा—"तब कलिङ्गराजपट्ट महिषी इतनी स्वार्थी हो गईं कि जिसकी उदारता और आश्रय प्राप्त किया, उसे विपन्नावस्था में छोड़ जायँगी ?

लल्ल अब तक चुप थे। वे बोले—"माता ! शीला ही की बात रहे। विशिष्ट अवसरों पर विशिष्ट पुरुष अपना प्रताप और त्याग प्रकट करते हैं। शीला का त्याग उसके वंश के उपयुक्त है। जो हो, श्रेष्ठिवर को छुड़ाना ही उचित है।"

"तब क्या और कुछ उपाय नहीं ?"

"नहीं"

राजमाता गम्भीर चिन्ता में मग्न हुईं। शीला ने कहा—"माता ! मैं कलिङ्ग की राजकुमारी हूँ, शस्त्रविद्या और अश्वारोहण में कुशल हूँ, पिता जी ने मुझे कुछ शिक्षा भी दी है, इस प्रकार मैं एक बार सम्राट् के सम्मुख जाकर स्वयं उसके इस पातक और अत्याचार के सम्बन्ध में पूछना चाहती हूँ। इससे अवश्य हमारा कुछ कल्याण होगा।"

अन्त में रानी ने सिर हिलाया। शीला ने कहा—"तब महानायक, तुम कुन्द से कह दो कि तुम्हारे घर में कलिङ्ग का राजकुमार छिपा हुआ है, उसे पकड़ा कर श्रेष्ठि को छुड़ा दो।"

लल्ल ने कहा—"यह कर्त्तव्य मुझे पालन करना होगा। राजकुमारी ! तुम स्वयं ही यह साहस करो।"

कुमारी ने कहा—नहीं, तुम्हीं उससे कहो, जिससे उस पर भेद प्रकट न होने पाए।

लल्ल का प्रस्ताव सुनकर कुन्द भय, आश्चर्य और दुःख से विमूढ़ हो

गई। उसने कहा—"क्या कलिङ्ग का राजकुमार ?"

"जी हाँ, यह युवक वही कलिङ्ग-राजकुमार है, जिसके सिर का मूल्य दस सहस्र है। इतने ही में तो श्रेष्ठिवर छूट जायँगे।"

"और मैं उन्हें पकड़ा दूँ—अतिथि को, जो मेरे पति के पूज्य नहीं, उनके स्वर्गीय पिता के पूज्य हैं? वृद्ध महोदय, आपसे ऐसे नीच प्रस्ताव की आशा न थी। आप कदाचित् अपने ही स्वामी से विश्वासघात कर रहे हैं।"

"नहीं, श्रेष्ठिवधु! राजकुमार स्वयं यह इच्छा कर रहे हैं।"

"राजकुमार स्वयं इच्छा कर रहे हैं?"—कुन्द ने विमूढ़ होकर पूछा।

'जी हाँ, उन्हीं का प्रस्ताव तो मैं लाया हूँ।"

"तो कुमार की उदारता और त्याग धन्य हैं।" उनके चरणों में मेरा प्रणाम कहिए। परन्तु यह अधर्म मुझसे न होगा। हे ईश्वर! पवित्र अतिथि से विश्वासघात करने की आप सम्मति दे रहे हैं!"

"विश्वासघात कैसे?"

"नहीं, नहीं, कदापि नहीं।"

शील ने निकट आकर कहा—"देवी! मेरी यह तुच्छ भेंट आपको स्वीकार करनी ही पड़ेगी। आप पतिप्राणा, साध्वी और धर्मात्मा हैं, आपका सौभाग्य अचल रहे। श्रेष्ठिवर महान् पुरुष हैं, मुझे प्रसन्नता होगी कि मेरा शरीर मेरे मित्र के काम आया।"

कुन्द ने रोते-रोते कहा—राजकुमार! ऐसी अधर्म की बात मुख से न निकालिए।

"अधर्म नहीं, देवी! मुझे तो स्वयं सम्राट् के निकट जाना ही है।"

"परन्तु मैं यह कुकृत्य न करूँगी ?"

"तब श्रेष्ठिवर मुक्त किस प्रकार होंगे ?"

"जैसी प्रभु की इच्छा होगी, वही होगा।"

"प्रभु की इच्छा ही से यह सुयोग हाथ लगा है ?"

"नहीं, नहीं, कदापि नहीं !"

"तब मुझे स्वयं यह कार्य करना होगा ?"

"नहीं; राजकुमार ! मुझे अधम न बनाइए !"

"देवी ! और कोई उपाय ही नहीं है, फिर यों मुक्त होने पर श्रेष्ठिवर कुछ न कुछ उपाय मुझे मुक्त करने का कर ही लेंगे, और यह तो मैं स्वयं कर रहा हूँ। सोचिए तो श्रेष्ठिवर को वहाँ कितना कष्ट और वेदना होगी !"

कुन्द व्यथित और खिन्न-सी कुमार की ओर देखती रही।

कुमारी ने कहा—"लल्ल ! तब तुम यह सन्देश राजद्वार पर ले जाओ और नगराध्यक्ष को बुला लाओ।"

लल्ल ने प्रस्थान किया। कुन्द ने बहुत बाधा दी ! कुछ ही क्षण में सैनिकों सहित नगराध्यक्ष ने आकर कुमारी को बाँध लिया और १० तोड़े वहीं गिन कर उसे ले चले ! कुन्द और महारानी दोनों पछाड़ खाकर गिर पड़ीं।

३

"किस महोदय ने इतनी कृपा की कुन्द ! धन्य है वह प्रभु। परन्तु हाँ, अतिथियों का ठीक सत्कार तो हुआ ? ओह ! तुम्हारा मुख इतना सफ़ेद क्यों हो रहा है कुन्द ! तुम इतनी दुःखी क्यों हुई ? अरे ! रोने लगीं ?"

कुन्द चुपचाप पति के चरणों में गिरकर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी। उपगुप्त ने कहा—"कुन्द ! अब इतना दुःख क्यों, तुम उस कृपालु मित्र का नाम तो बताओ। मैं तनिक उसे धन्यवाद दे आऊँ। कुन्द ने रोते-रोते सब घटना बयान कर दी।"

मानों सहस्र बिच्छुओं ने दंश किया। उन्होंने तड़प कर कहा—"क्या कहा ? कुमार को पकड़ा कर यह धन प्राप्त किया ?"

कुन्द निरुत्तर रही।

"कुन्द ! कुन्द ! यह पातक तुमने किया ? मेरा जन्म, जीवन, यश, धर्म—सभी नष्ट किया। कुन्द ! तुम ऐसी थीं ? यह तो आशा न थी। हाय ! बड़ा अनर्थ—बड़ा अधर्म हुआ !" इतना कह कर श्रेष्ठिवर विकल हो इधर से उधर टहलने लगे।

लल्ल ने धीरे-धीरे प्रवेश करके कहा—"श्रेष्ठिवर ! कुमार ने स्वेच्छा से यह काम किया है, कुन्द का इसमें तनिक भी अपराध नहीं। ये तो अन्त तक सहमत न हुई थीं।

उपगुप्त ने रोते-रोते कहा—"महानायक ! अब क्या होगा ? मैं कैसे इस पातक से उऋण होऊँगा ? कैसे मैं अब प्राण देकर कुमार को लाऊँ ? और आप जैसे विवेकी वृद्ध के रहते कैसे यह कुकर्म होने पाया ? कुन्द ! स्त्रियों से इसीलिए ज्ञानी पुरुष घृणा करते हैं, स्त्रियाँ इतनी तुच्छ हैं, इतनी स्वार्थी हैं ? हा—हा ! कुन्द ! तुम सब स्त्रियों में अधम रहीं—तुमने अपने स्वार्थ के—पति के स्नेह के लिए पवित्र अतिथि को × × × कहते-कहते श्रेष्ठिवर धरती पर गिर गए।"

धीरे-धीरे रानी ने घर में प्रवेश कर कहा—"श्रेष्ठिवर ! क्या आपको यह

विश्वास नहीं होता कि हम तीनों में से किसी को इस घटना का दुःख नहीं ? फिर कुमार की तो यह इच्छा ही थी। वह वैसे भी सम्राट् की सेवा में जाता। इसके सिवा कुन्द किसी तरह अपमान की पात्री नहीं। जैसे आप धर्मात्मा, विनयी और महान् हैं, वैसी ही आपकी पत्नी भी हैं। श्रेष्ठिवर! शोक त्याग कर अब यह उपाय सोचना चाहिए कि हमारा कर्तव्य क्या है ?

उपगुप्त उठ बैठे। उन्होंने कहा—"सोचिए! मैं किस प्रकार कुमार को ला सकता हूँ ?"

तीनों व्यक्तियों में सलाह हुई। अन्त में यही निर्णय हुआ कि उन सैनिकों के साथ, जो कुमार को ले जा रहे हैं, हम लोग भी राजधानी को चलें। वहाँ जैसा कुछ होगा, देखा जायगा। यह निर्णय करके उपगुप्त ने कुन्द की ओर देख कर स्निग्ध स्वर में कहा—"कुन्द, आओ! इन पूज्य अतिथियों के सम्मुख हम-तुम भी कुछ परामर्श कर लें। यह तो तुमने देखा ही कि यह धन कितने अपमान और अधर्म की जड़ है। आओ, हम मन, वचन, कर्म से इस धन का त्याग करें, मैंने श्रेष्ठि पद त्यागा, मैं दरिद्रराज हुआ! आज से धनमात्र मेरे लिए लोष्ठवत् हुआ और तुम्हारे लिए भी, कुन्द!"

कुन्द ने चुपचाप स्वीकृति दी।

"अच्छा, अब आज से हम लोग न धन छुएँगे, न धन से हमारा सम्बन्ध रहेगा। अब दूसरी बात सुनो! यह घनिष्ठ सम्बन्ध भी—जैसा कि हमारे-तुम्हारे बीच में है—दुःख और पाप का मूल है। देखो, इसी घटना ने कितने दुःख और पाप का प्रदर्शन कराया! आओ, हम लोग इस सम्बन्ध का भी विच्छेद करें! कुन्द, आज से हम लोग पति-पत्नी नहीं! तुम्हारा

कल्याण हो, तुम जगत में विचरण करो, जगत की सेवा करो। मैं कुमार को छुड़ा कर तब यह करूँगा।" इतना कह कर उपगुप्त उठे! कुन्द वज्राहत की तरह धरती पर गिर गई। उपगुप्त ने उधर देखा भी नहीं। वे अति गम्भीर मुद्रा में घर से बाहर हुए।

६

ग्रीष्म की ज्वलन्त लू और उत्ताप को तनिक भी परवा न करके सैनिक ने पर्वत की उपत्यका में घोड़ा छोड़ दिया था। आगे-आगे एक हरिण प्राण लेकर भाग रहा था। युवक सैनिक के धनुष पर बाण चढ़ा था। उसे उसने कान तक खींच कर मारा। बाण हरिण के पैरों में लगा वह प्राण-सङ्कट को समझ कर गर्म-गर्म रुधिर-विन्दु टपकाता आहत होकर उपत्यका के एक पार्श्व में भाग कर छिप गया। हरिण को सम्मुख न देख कर सैनिक घोड़े से उतर पड़ा—वह रक्त-विन्दु के चिन्ह देखता-देखता आगे बढ़ा।

सम्मुख एक अश्वत्थ के वृक्ष के नीचे शीतल छाया में एक वृद्ध भिक्षु बैठा था : उसकी गोद में वही हरिण था—वह यत्न से उसके पैर से तीर निकाल कर उसके घाव पर पट्टी बाँध रहा था।

युवक ने वहाँ पहुँच कर क्रोध से कहा—"तू कौन है, पाखण्डी?"

"तुम्हारा कल्याण हो!"—वृद्ध भिक्षु ने सिर उठा कर कहा।

"पर तू है कौन?"

"मैं भिक्षु हूँ!"

"भिक्षु, तेरा यह साहस कि मेरे आखेट को हाथ लगा सके? इसे अभी छोड़ दे!"

"क्यों?"

"यह मेरा आखेट है।"

"यह तेरा किस लिए है ?"

"मैंने इसे मारा है ?"

"मारने वाला किसी का स्वामी नहीं हुआ करता, शत्रु होता है; और शत्रु का कोई अधिकार नहीं होता। स्वामी होता है बनाने वाला, उसी का अधिकार भी होता है।"

"तू बड़ा धृष्ट प्रतीत होता है।"

"साधु के लिए विनय और धृष्टता क्या है ?"

"तब इसे छोड़ दे—यह मेरा शिकार है।"

"नहीं, यह मेरा आश्रित दीन पशु है।"

"इसे मैंने मारा है।"

"इसकी मैंने रक्षा की है।"

सैनिक का क्रोध और तेज मानो व्यर्थ जा रहा था। ऐसे धृष्ट प्रश्नोत्तर का उसे अभ्यास न था। परन्तु वृद्ध साधु का प्रभाव उस पर पड़ रहा था। उसने कहा – "तू इसका क्या करेगा ?"

"मैं इसे नीरोग करके छोड़ दूँगा, यह फिर आनन्द से विचरण करेगा।"

"तू अवश्य इसका मांस खायगा। तू धूर्त है, मेरा आखेट हड़पना चाहता है।"

"युवक सैनिक, शान्त हो, हिंसक से रक्षक बड़ा है। जो व्यक्ति एक कीड़ा भी नहीं बना सकता, वह इतने बड़े पशु को कैसे मारता है ? इसका उसे अधिकार क्या है ? हम लोग भक्षक नहीं, रक्षक हैं। निकट ही हमारा

विहार है, वहाँ बहुत से बौद्ध भिक्षु हैं, जो प्राणियों की सेवा-सुश्रषा करते हैं। रोगी जीव-जन्तु की चिकित्सा की जाती है औ प्रेम और दया हमारा धर्म है।"

युवक चुपचाप खड़ा रहा। उसने कहा—"मैं तेरा वह विहार देखूँगा ?"

वृद्ध ने चलने का आयोजन करके कहा—"मेरे साथ आओ" उसके पास और भी कई रोगी और घायल पशु थे। उन सबको उसने उठाया। सैनिक ने कहा, "इतना भार तुम नहीं उठा सकते, लाओ यह हरिण मैं ले चलूँ।"

युवक का स्पर्श पाते ही हरिण छटपटाने लगा।

भिक्षु ने कहा—"उसे मत छुओ। उसे तुमसे घृणा है।" भिक्षु ने उसे गोद में ले लिया। वह शिशु की तरह उसकी गोद में सो गया।

दोनों चले। युवक का गर्व भङ्ग हुआ। वह सोचता जा रहा था—मैं समझता था, पृथ्वी भर के राजमुकुट मेरे चरणों में गिरते हैं, और सभी मेरी प्रतिष्ठा करते और मुझसे भय खाते हैं। पर यह तुच्छ पशु भी मुझसे घृणा करता है ? इस वृद्ध भिक्षु में ऐसा क्या गुण है, जो यह मूक प्राणी भी इस पर विश्वास करता, प्रेम करता और आत्म-समर्पण करता है ? हाय ! मैं इतना अधम हूँ। एक बार उसने रक्त और धूल से भरे अपने वस्त्रों को देखा। एक गम्भीर श्वास ली और नीचा सिर किए साधु के पीछे-पीछे चल पड़ा।

७

वन प्रदेश के एक घने कुञ्ज में वह विहार था। वहाँ पूर्ण शान्ति और आनन्द का राज्य था। उत्तप्त सूर्य की किरणें उस दुर्भेद्य वृक्ष-राशि को पार कर नहीं सकती थीं। उस सघन छाया में बहुत सी पर्ण-कुटियाँ बनी थीं, जहाँ भिन्न-भिन्न आयु के वीतराग बौद्ध साधु ज्ञानचर्चा में मग्न थे। रोगी

और घायल पशु और मनुष्यों की चिकित्सा हो रही थी। सहस्रों पशु-पक्षी निर्भय किलोलें कर रहे थे। वृद्ध के पहुँचते ही दो साधुओं ने दौड़कर वृद्ध का बोझ ले लिया और वे उनके उपचार में लगे। युवक सैनिक विमूढ़-सा खड़ा यह सब देख रहा था। ऐसी शान्ति और आनन्द उसने अपने जीवन में नहीं देखा था। एक नई भावना उसके हृदय में उदय हो रही थी—वह कुछ सोच रहा था। एक नवीन तेज उसके नेत्रों में दीप्त हो रहा था।

एक प्रचण्ड जयघोष हुआ—'महामोगलीपुत्र तिष्य की जय!' युवक ने दृष्टि उठा कर देखा—सम्मुख एक तेज-मूर्ति चली आ रही है। प्रशान्त मुखमण्डल, गम्भीर गति, महान् व्यक्तित्व। युवक ने सोचा, यह क्या? यही महाप्राण भगवान् मोगलीपुत्र तिष्य हैं, जिनके विषय में सुना गया है कि उनके दर्शन होना दुर्लभ है। और जिसे एक बार उनके दर्शन हो जाते हैं, वह धन्य समझा जाता है। युवक एकटक उस महान् शरीर को देखता रहा।

भगवान् तिष्य ने युवक के निकट आकर कहा—"चक्रवर्ती सम्राट की जय हो!"

एक अतर्क्य शक्ति के प्रभाव से सम्राट ने साधुवर के चरणों में सिर झुका दिया। भिक्षु-मण्डल अवाक् रह गया। भगवान् तिष्य ने कहा—"सम्राट! इस वृद्ध भिक्षु ने अज्ञान में यदि कुछ अनाचार किया हो तो क्षमा करें—चक्रवर्ती से इसका परिचय नहीं!"

सम्राट ने कहा—"प्रभो! आज मैं कृतकृत्य हुआ। साम्राज्य के प्रचण्ड सम्मान और परिच्छद में मुझे ऐसी शान्ति नहीं मिली, जो आज मैं इस तपोवन में प्राप्त कर रहा हूँ। भगवान् के दुर्लभ दर्शन पाकर मैं और

कृतार्थ हुआ। प्रभो! कलिङ्ग के युद्ध में मैंने एक लक्ष प्राणियों का वध किया है। अब देखता हूँ, वध करने से रक्षा करना श्रेष्ठ है। मैं समझता था कि पृथ्वी के महाराजा भी मेरा सम्मान करते हैं। परन्तु आज अधम प्राणी को घृणा करते देखकर मेरे मन में प्रबल आत्म-ग्लानि उदय हुई है। प्रभो! रक्षा करें। यह किङ्कर आपकी शरण है।"

"सम्राट!" भगवान् तिष्य ने कहा—"आपकी धर्म में अभिरुचि हुई, यह बहुत शुभ हुआ। भगवान् बुद्ध ने भी इसी प्रकार अकस्मात ज्ञान प्राप्त किया था। शक्ति और अधिकार द्वारा अधीनों को वश में करने की अपेक्षा प्रेम और दया से प्राणि-मात्र का जीतना श्रेयस्कर है। शरीर को अधीन करने की अपेक्षा आत्मा को वशीभूत कर लेना सच्ची विजय है। आप पृथ्वी के चक्रवर्त्ती सम्राट हैं; परन्तु जब आप पृथ्वी की आत्माओं को वशीभूत कर लेंगे, तो आपकी अक्षय विजय होगी। आप अमर होंगे।"

सम्राट ने नत मस्तक होकर कहा—"भगवन्! मुझे सत्ज्ञान प्रदान कीजिए। मैं प्रेम और दया द्वारा प्राणियों की आत्मा को विजय करूँगा। क्षमा मेरा शस्त्र, दया मेरी नीति, और त्याग मेरा शासन होगा।

'तथास्तु' तब सम्राट् आपका नाम 'चण्डाशोक' के स्थान पर 'देवानां प्रिय' प्रसिद्ध होगा। आपका कल्याण हो, आप आज से देवताओं को प्रिय हुए। कहो—

"बुद्धं सरणं गच्छामि!

"धम्मं सरणं गच्छामि!

"संघं सरणं गच्छामि!"

सम्राट् ने पृथ्वी पर घुटने टेक कर उपरोक्त पंक्तियों को दुहराया।

मोगलीपुत्र तिष्य ने पवित्र अभिसिञ्चन करके कहा—"सम्राट् देवानां प्रिय अशोक की जय हो! आओ सम्राट्, अब मैं आपको आपके आचार्य का परिचय कराऊँगा, जिनसे गुरुवत् आपको व्यवहार करना होगा; जो परम वीतराग, महान् धर्मात्मा और एकनिष्ठ महापुरुष हैं, जिनके आत्मा में महान् बुद्ध का निवास है। वे सदैव आपके साथ रहकर आपको कल्याण का मार्ग बतावेंगे और आपको सुमति की शिक्षा देंगे। उनके वचन का अनुसरण करके आप पृथ्वी पर और स्वर्ग में अक्षय कीर्ति प्राप्त करेंगे।"

आचार्य तिष्य इतना कह कर पीछे को मुड़े। एक घने कुञ्ज में छोटी सी कुटिया के द्वार जाकर पुकारा—"आचार्य उपगुप्त! सम्राट् आपकी सेवा में समुपस्थित हैं?"

आचार्य उपगुप्त—वही श्रेष्ठिराज उपगुप्त—पीत परिधान किए, मुण्डित सिर, विनम्र-मुख कुटी सेबाहर आए। सम्राट् अशोक ने पृथ्वी पर गिर कर उनको प्रणाम किया और कहा—"आचार्य! मुझे सन्मार्ग बताइए।"

आचार्य उपगुप्त की मुद्रा भङ्ग न हुई, न उन्होंने दृष्टि उठाई! उनके नेत्रों में अश्रुधारा प्रवाहित हुई। आचार्य तिष्य ने कहा—"आचार्य! सम्राट् आपके तत्वावधान में पृथ्वी पर धर्म-विस्तार करेंगे—आप ही सम्राट् को सन्मार्ग बताने योग्य हैं, आप सम्राट् का प्रणाम ग्रहण कीजिए।"

आचार्य उपगुप्त ने अवरुद्ध कण्ठ से कहा—"देवानां प्रिय सम्राट् की जय हो। परन्तु आचार्य! सम्राट् का भार मुझ पर न डालें, सम्राट्! आचार्य तिष्य के रहते और कौन सम्राट् को सन्मार्ग बतावेगा?"

भगवान् तिष्य ने कहा—"आचार्य! आत्मा पर सदैव ही अज्ञान का आवरण रहता है और उस आवरण को भेद करने के लिए एक रहस्यविद् की

आवश्यकता है। आप ही वह रहस्यविद् हैं। आचार्य! अपने शिष्य का कल्याण चिन्तन कीजिए—मेरा कार्य समाप्त हुआ। "यह कह कर मोगलीपुत्र तिष्य अन्तर्धान हुए। सम्राट् और उपगुप्त क्षण भर विमूढ़ रहे। अब आचार्य उपगुप्त ने नेत्र उठा कर कहा—"चक्रवर्ती, भीतर कुटी में पधार कर कृतार्थ करें।"

दोनों महान आत्माएँ कुटी में प्रविष्ट हुईं।

८

आचार्य उपगुप्त ने कहा—"हे सम्राट्! यह दुःख उत्तम सत्य है। जन्म दुःख है, नाश दुःख है, रोग दुःख है, मृत्यु दुःख है, जिन वस्तुओं से हम घृणा करते हैं, उनका उपस्थित होना दुःख है। जिन वस्तुओं की हम अभिलाषा करते हैं, उनका न मिलना दुःख है। सारांश यह कि जीवन की पाँचों कामनाओं में लगे रहना दुःख है। दुःख के कारण का उत्तम सत्य यह है। लालसा पुनर्जन्म का कारण है, जिसमें सुख और लालच होते हैं। दुःख के दूर होने का उत्तम सत्य यह है। वह लालसा के पूर्ण निरोध से समाप्त होता है। यह निरोध किसी कामना की अनुपस्थिति से, लालसा को छोड़ देने से, लालसा के बिना कार्य चलाने से, उसकी मुक्ति पाने से, और कामना का नाश होने से होता है। सम्राट्! क्या आप इस गूढ़ तत्त्व को समझे?"

"नहीं भगवन्!"

सम्राट्! जीवन दुःख है, जीवन और उसके सुखों की लालसा दुःखों का कारण है। उस लालसा के मर जाने से दुःख का अन्त होता है और पवित्र जीवन से यह लालसा मर जाती है। पवित्र जीवन आठ विषयों में विभाजित किया गया है :—

"(१) सत्य विश्वास, (२) सत्य कामना, (३) सत्य वाक्य, (४) सत्य व्यवहार (५) जीवन-निर्वाह के सत्य उपाय, (६) सत्य उद्योग, (७) सत्य विचार, (८) सत्य ध्यान।"

"ये आठ विधियाँ आठ ग्रन्थों के समान हैं। शुद्ध विचार और शुद्ध विश्वासों को सीखना और उनका सत्कार करना चाहिए, उच्च उद्देश्य और कामनाएँ हृदय के नेत्र के सामने सदा उपस्थित रहनी चाहिए। प्रत्येक वाक्य में सत्यता, सुशीलता होनी चाहिए, और व्यवहार में सत्यता और पूर्ण शुद्धता। जीवन का उपाय इस प्रकार ढूँढ कर ग्रहण करना चाहिए, जिससे किसी जीवित या चैतन्य प्राणी को कोई कष्ट न हो। भलाई करने में तथा दया, सुशीलता और परोपकार के कार्यों में जीवन के अन्त तक निरन्तर उद्योग करना चाहिए। मन और बुद्धि से चेतन और कार्य-तत्पर होना चाहिए। शान्त और धीर विचार से जीवन को सुख प्राप्त होता है। यह कामना, मनःक्षोभ और जीवन की लालसा को जीतने का मार्ग है।

"सम्राट! यह तथागत बुद्ध की शिक्षाओं का सार है। आपने समझा?"

"हाँ, आचार्य! परन्तु संसार में सुखी कौन है?"

"जिसने अपनी यात्रा समाप्त कर ली है, और शोक को छोड़ दिया है, जिसने अपने को सब ओर से स्वतन्त्र कर लिया है, जिसने सब बन्धनों को तोड़ डाला है, उसके लिए कोई दुःख नहीं। वह सुखी है।"

"आचार्य! मैं सुखी नहीं हूँ। मैं सुखी होने की चेष्टा करूँगा। मुझे साधारण उपदेश प्रदान करें—मुझे कर्तव्य-पथ बतावें।"

आचार्य ने कहा—"सम्राट्! सन्मार्गी को किसी जीव को नहीं मारना-मरवाना चाहिए और यदि दूसरे लोग उसे मारें तो उसे सराहना नहीं

चाहिए। सब जन्तुओं को, चाहे वे बलवान् हों या बलहीन—उन सबके मारने का विरोध करना चाहिए।

उसे किसी की वस्तु भी नहीं लेनी चाहिए, जिसे कि वह जानता है कि वह दूसरे की है और जो उसे दी नहीं गई है। ऐसी वस्तु उसे दूसरों को भी न लेने देना चाहिए, और जो लें उन्हें न सराहना चाहिए। उसे सब प्रकार की चोरी का त्याग करना चाहिए।

उसे व्यभिचार का त्याग जलते हुए कोयले के समान करना चाहिए। यदि वह इन्द्रियों का निग्रह न कर सके, तो उसे पर-स्त्री से व्यभिचार तो न करना चाहिए।

उसे झूठ न बोलना चाहिए, न दूसरों से बुलवाना चाहिए। जो झूठ बोले उन्हें न सराहना चाहिए। उसे सब प्रकार असत्य का त्याग करना चाहिए।

उसे कोई मादक द्रव्य न सेवन करना चाहिए—न दूसरों को पिलाना चाहिए, न पीने वालों को सराहना चाहिए।

सम्राट्! ये पाँच शील हैं, इनका सद्धर्मी को अवश्य पालन करना चाहिए।"

"भगवन् मैं आज से इनका पालन करूँगा।"

"सम्राट्! भगवान् बुद्ध कहते हैं—

"घृणा कभी घृणा से नहीं जीती जाती। घृणा प्रीति से बन्द होती है। यही इसका स्वभाव है।

"जो हमसे घृणा करते हों, उनके बीच हमें घृणा-रहित हो प्रीतिपूर्वक रहना चाहिए।

"क्रोध को प्रीति से जीतना चाहिए। बुराई को भलाई से विजय करना चाहिए। लालच को उदारता से और झूठ को सत्य से जीतना चाहिए।

"उस मनुष्य के उत्तम और फलहीन शब्द, जो उनके अनुसार कार्य नहीं करता, उस सुन्दर फूल की नाईं हैं, जो रङ्ग में सुन्दर, परन्तु गन्ध-रहित है।

"भलाई करने वाला जब संसार छोड़ कर परलोक को जाता है, तो उसे वहाँ उसके भले कर्म उसके सम्बन्धी और मित्रों की नाईं उसका स्वागत करते हैं।

"वह मनुष्य बड़ा नहीं है, जिसके सिर के बाल पक गए हैं, जिसकी अवस्था बड़ी हो गई है—वह तो वृथा ही वृद्ध कहलाता है। वह मनुष्य, जिसमें सत्य, पुण्य, प्रीति, आत्मनिरोध और संयम है—वह, जो अपवित्रता से रहित और बुद्धिमान् है—वही बड़ा है।"

आचार्य उपगुप्त ने इतना कह कर ऊपर नेत्र उठाए! फिर दोनों हाथ उठाकर कहा—"सम्राट् का कल्याण हो! देवानां प्रिय! प्रियदर्शी सम्राट् की धर्म-विजय हो। हे सम्राट इस महान धर्म की दीक्षा आपने ली, अब आप देश-देशान्तरों में धर्म-विस्तार कीजिए।"

सम्राट् ने नत-मस्तक होकर 'जो आज्ञा' कहा, और विदा हुए।

६

सन्ध्या का समय था। सम्राट् वाटिका में धीरे-धीरे गम्भीर मुख-मुद्रा किए टहल रहे थे। समस्त भारत के चक्रवर्ती सम्राट् के सम्मुख ऐसी गहन समस्या न आई थी। उनका चिन्तनीय विषय था कलिङ्गराज का दुर्धर्ष अपघात। वे सोच रहे थे, मैंने एक हरे-भरे सुखी राज्य का अकारण विध्वंस

किया। कलिङ्गराज न जाने कहाँ कैसे मारे गए। उनके युवराज भी, पता नहीं कहाँ हैं। और उनका परिवार न जाने किस दुर्दशा में है। कैसे मैं इस पातक से उऋण होऊँगा।

सम्राट् के ज्ञान-चक्षु खुल गए थे और उन्हें महान दया-धर्म का तत्व प्रगट हो गया था। वे सोच रहे थे कि किस प्रकार इस दुष्कर्म का प्रतिशोध किया जाय।

हठात् एक दण्डधर ने निकट आकर अभिवादन करके कहा—"प्रभो! कलिङ्ग राजकुमार को लेकर महानायक आए हैं।"

अशोक ने उत्फुल होकर कहा—"उन्हें अभी यहाँ ले आओ" क्षण-भर ही में कलिङ्ग राजकुमार को लेकर महानायक ने सम्राट् का अभिवादन करके राजकुमार से कहा—"कुमार! सम्राट् का अभिवादन करो!"

कुमार ने हँस कर कहा—"महानायक, आपकी आज्ञा की आवश्यकता नहीं, आपके सौजन्य के लिए, जो आपने मार्ग भर में मुझ पर किया, मैं आभारी हूँ। अब मैं सम्राट् के प्रति कैसा व्यवहार करना चाहिए, स्वयं सोच-समझ लूँगा। आप सम्राट् की आज्ञा लेकर जा सकते हैं।"

महानायक ने विमूढ़ होकर राजकुमार के इस प्रगल्भ भाषण को सुना। वह खड़ा रह गया। सम्राट् भी चकित हुए। उन्होंने दृष्टि गाड़ कर राज-कुमार की मुख-मुद्रा देखी।

कुमार ने एक कटाक्षपात करके मुख नीचा कर लिया और कहा—"सम्राट्, महानायक को आज्ञा प्रदान करें तो मैं सम्राट् का अभि-वादन करूँ।"

सम्राट ने महानायक को जाने का सङ्केत किया और कुमार के निकट

आकर कहा—"कलिङ्ग-राजकुमार ! अभिवादन की आवश्यकता नहीं। मैंने तुम्हारे राज्य और परिवार के साथ बड़ा अन्याय और अत्याचार किया। मैंने तुम्हें इसलिए बुलाया है कि अब तुम्हारे पूज्य पिता का पता लगाना कठिन है राजकुमार ! तुम चाहो तो मुझे उस अपराध का दण्ड दो। परन्तु मैं चाहता हूँ कि तुम मुझे शत्रु न समझो, प्रिय राजकुमार ! क्या तुम मेरा अनुरोध रक्खोगे ? छद्मवेशी राजकुमार कण्टकित होकर दो क़दम पीछे हट गए। उन्होंने धरती पर घुटने टेक कर सम्राट् का अभिवादन किया और कहा—"चक्रवर्ती की जय हो ! राजा राजाओं से युद्ध करते हैं—जय-विजय एक पक्ष की होती ही है। सम्राट् को विजित राज्य के बन्दी राजपुत्र के प्रति इतनी शिष्टाचार की आवश्यकता नहीं।"

"नहीं राजकुमार ! अकारण ही मैंने उस समृद्धि-शाली राज्य को भ्रष्ट किया और अब अकारण ही कुमार ! तुम्हारे प्रति मेरे हृदय में अपूर्व प्रेम उमड़ रहा है—यह क्या बात है ? अच्छा अपना हाथ तो मुझे दो प्रिय—परम प्रिय कुमार ?"

कुमार ने पीछे हट कर कहा—"नहीं श्रीमान् ! यह सेवक इस सम्मान के योग्य नहीं। श्रीमान् को भी शत्रु-पुत्र का इतना सत्कार करना उचित नहीं।"

"शत्रु-पुत्र नहीं, कुमार ! मैंने निश्चय किया है कि मैं तुम्हारे पिता का राज्य तुम्हें युद्ध-क्षति सहित लौटा दूँगा, इसके सिवा और भी जो माँगो, मैं दूँगा।"

"सम्राट् क्या सत्य ही प्रतिज्ञाबद्ध होते हैं ?"

"हाँ, हाँ, प्रिय कुमार ! मैं वचन देता हूँ।"

"सम्राट् मुझे मेरी माँगी वस्तु देंगे ?"

"अवश्य। चाहे वह सिंहासन ही क्यों न हो !"

"सिंहासन ही तक बस ?" छद्मी कुमार ने कटाक्ष-पात किया।

"प्राण भी, शरीर भी !" प्यारे कुमार ! तुम्हारी चितवन कितनी प्यारी है। लाओ अपना हाथ तो दो।"

"तब आपके प्राण और शरीर मेरे हुए ? श्रीमान् फिर विचार लें। यह तुच्छ हाथ उपस्थित है।"

सम्राट् उसे पकड़ने को लपके। आचार्य उपगुप्त ने उच्च स्वर से पुकार कर कहा—"चक्रवर्ती ! तनिक धैर्य !" चक्रवर्ती ने देखा—आचार्य दो व्यक्तियों के साथ आ रहे हैं। दोनों व्यक्ति दूर खड़े रह गए। आचार्य आगे बढ़े। सम्राट् ने आगे बढ़ कर आचार्य के चरणों में प्रणाम करके कहा—"आचार्य ! कलिङ्ग-राजकुमार जितेन्द्र उपस्थित हैं। मैंने इन्हें इनका राज्य और युद्ध-क्षति तो दी ही है, अपना शरीर और प्राण भी दिया—ये इसके स्वामी हैं। कुमार ! आचार्य को प्रणाम करो।"

छद्मवेशी कुमार आगे बढ़ कर आँखें फाड़-फाड़ कर आचार्य उपगुप्त की ओर देखने लगे ! आचार्य ने आगे बढ़ कर कुमार के मस्तक पर हाथ धर कर कहा—कल्याण ! कल्याण !

छद्मवेशी राजकुमार के ओंठ फड़क कर रह गए ! उसके मुख से अस्पष्ट स्वर में निकला—"श्रेष्ठि...व...र" आचार्य ने सम्राट के निकट पहुँच कर मधुर मुस्कान के साथ कहा—चक्रवर्ती ने बड़ी ही बुद्धिमत्ता से अपना प्राण और शरीर सुपात्र को दिया। हाँ, अब आप उस पवित्र हाथ का ग्रहण करिए ! इतना कह कर आचार्य ने सम्राट् का हाथ पकड़ लिया।

सम्राट् चकित हुए। कुमार का मुख लाल हो गया। वे दो क़दम पीछे हट गए। आचार्य ने कहा—"कलिङ्ग महाराजकुमारी शीला! तुमने स्वयं ही यह क्रय-विक्रय किया है, अब सङ्कोच क्यों?"

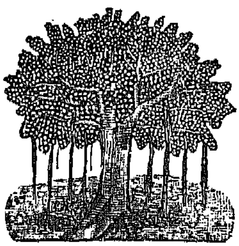
सम्राट् के मुख से निकल गया—"क्या कहा? कलिङ्ग महाराजकुमारी शीलादेवी! आचार्य, आप क्या कहते हैं?"

आचार्य ने उधर ध्यान न देकर कहा—"महाराज-कुमारी, अब अपना छद्मवेश त्याग दीजिए और तनिक निकट आइए!" इतना कह कर उन्होंने कुमारी का हाथ सम्राट के हाथों में पकड़ा दिया।

दोनों का हृदय-स्पन्दन क्षण भर को रुक गया। कुछ शान्त होने पर सम्राट् ने कहा—"आचार्य! कुकर्म का यह सुफल क्यों?"

आचार्य ने कहा—"सम्राट्! यह सुकर्म का फल है। देखिए, वह कलिङ्गराज और महाराज कुमार खड़े हैं, उनका स्वागत करें।"

सम्राट् दौड़ कर कलिङ्गराज के पैरों में झुके।



जीवन्मृत

पन्द्रह वर्ष का लम्बा काल एक भयानक दुःस्वप्न की तरह व्यतीत हो गया। एक-एक क्षण, एक-एक श्वास, जीवन की एक-एक घड़ी, हज़ारों बिच्छुओं की दंश-वेदना में तड़प-तड़प कर व्यतीत हुई है। वह कल्पना और मानवीय विचारधारा से परे का दुःख न कहना, स्मरण न करना ही अच्छा है। मानो मैंने एक महान पवित्र व्रत लिया था, जो एक प्रकृत योद्धा को सजने योग्य था, जिसके लिए चरम कोटि के त्याग, साहस, सहिष्णुता, वीरता और प्रतिभा एवं ओज की अवश्यकता थी, अपनी शक्ति और व्यक्तित्व पर बिना ही विचार किए मैं रणपोत पर सैनिक-गर्व से उद्ग्रीव होकर चढ़ गया। सहस्रावधि नर-नारियों ने हर्ष और आशा में भर कर उल्लास प्रगट किया, साधुवाद दिए, पर मानो प्रशान्त महासागर में एक

साधारण चक्कर खाकर ही वह दृढ़ पोत जलमग्न हो गया और देखते ही देखते उसका अस्तित्व विलीन हो गया। रह गया अकेला मैं, साधन, शक्ति और अवलम्ब से रहित, एक मात्र तख्ते के एक टुकड़े के सहारे तैरता हुआ। अन्ध निशा में, एक सुदूर तारे के क्षीण प्रकाश में, उस दुर्धर्ष महाजल रशि पर, जीवन के मोह के कच्चे धागे के आसरे भटकता रहा। १५ वर्ष तक अन्तर्हित जीव जन्तुओं का आक्रमण, हड्डियों में कम्प उत्पन्न करने वाला शीत, नस-नस से प्राणों को खींच लेने वाली पर्वत-समान जलराशि की उत्तुङ्ग तरी के थपेड़े, उस असहाय अवस्था में सहन करता रहा। १५ वर्ष तक! और कितना भयानक, कितना रोमाञ्चकारी, कितना अद्भुत, यह जीवन का मोह रहा! ये प्राण कितने बहमूल्य प्रमाणित हुए क्या पृथ्वी पर और कोई मनुष्य भी इस तरह जिया होगा?

२

प्रकृति की एकान्त स्थली पर मैंने अपना शैशव और यौवन का प्रारम्भ व्यतीत किया। वहाँ एक ही रङ्ग था—त्याग, जब शान्ति, तप और निर्वासना। जब तक शैशव पर विधान का शासन रहा, मेरे बाहरी पीतवसन और अन्तस्तल का भी एक रङ्ग रहा, पर यौवन के विकास ने बाहर-भीतर में भेद डाल दिया। हाँ, संसर्ग तो कुछ न था—जो था साधारण—परन्तु नैसर्गिक वासनाओं ने प्रस्फुटित होते-होते उस त्याग, तप, निर्वासना—सबसे विद्रोह करना शुरू किया! मैं ब्रह्मचारी था। उस तपस्थली पर मेरे जैसे बहुत थे, पर हमारे गुरू और उपजीवी ब्रह्मचारी न थे! हम नैसर्गिक रह ही न सके, हमारी सादगी में भी एक शान थी, हमारे ब्रह्मचर्य में भी एक फ़ैशन

था, हमारे त्याग-तप में भी प्रदर्शन था। जगत के सर्व-साधारण कैसे जीवन के पथ पर बढ़ते हैं, नहीं जानता, पर हम सभी में हास्य-उल्लास, गोपनीय वासनाएँ तथा तमोमय भावनाएँ थीं। उस आश्रम में मैं ही सर्वोपरि और सर्वश्रेष्ठ हूँ—मुझे सर्वश्रेष्ठ होना ही चाहिए—मैं शीघ्र ही समझ गया। कैसे? यह नहीं बताऊँगा। मैं आचार्य का पुत्र था। राजपुत्र तो जन्म ही से सर्वश्रेष्ठ होते हैं। इसमें अनुचित क्या? मैं प्रथम, सर्वश्रेष्ठ पुरुष होकर उस दुर्घर्ष आश्रम से बाहर आ गया। संसार कैसा सुन्दर था! मैं देखते ही मोहित हो गया। यह मेरे ऊपर श्रद्धा, आशा और प्रेम बिखेर रहा था। मैंने जाना भी न था, कि मैं जीवन में इतना आदर पाऊँगा। वह आशातीत आदर पाकर मैं गर्व से नाच उठा। मैंने अच्छी तरह अपनी मानसिक दुर्बलताएँ अपने पीले उत्तरीय में लपेट कर छिपा लीं, और मैं असाधारण पुरुष की तरह खुले संसार में पैर के धमाके से हलचल मचाता हुआ आगे बढ़ चला।

स्त्री को सदैव दूर से देखा और अनुमान से समझा था। आश्रम में स्त्री मात्र दुष्प्राप्य थी। फिर मैं तो मातृहीन बालक ठहरा! परन्तु सदैव ही मैंने स्त्री जाति के सम्बन्ध में विचारा। फिर भी वह क्या वस्तु है, कुछ समझा नहीं।

पर, विशाल जगत में आते ही स्त्री भी मिली। अद्भुत वस्तु थी। इसे देख, फिर और किसी को देखने की इच्छा ही न होती थी। मैं जगत को भूल गया। स्त्री-शरीर, स्त्री-हृदय, स्त्री-भवाना, यह मेरा खाने और बिखेरने का अब विषय था, परन्तु जीवन का एक नूतन अनिर्वचनीय आनन्द तो अभी मिलना शेष ही था। वह मुझे शिशु कुमार के अवतरण होते ही मिला। आह! जगत के पर्दों के भीतर क्या-क्या छिपा है, और उसे

भाग्यवान किस तरह अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं, यह मैं क्या कभी विचार भी सकता था ?

वाह रे मेरा सुखी जीवन और मेरा नवीन संसार ! मैं सोता था हँसी कर, जागता भी था हँस कर ! शिशु कुमार और उसकी माता, ये दोनों ही मेरे हास्य के साधन थे। शीतकाल के प्रभात की सुनहरी धूप की तरह वह मेरा हास्य मुझे कैसा सजता था ! आज १५ वर्ष से मैं उस अतीत हास्य की कल्पना करके भी एक सुख पाता हूँ।

देश मेरा प्राण और देश-सेवा मेरा व्रत था ! वह बात कुछ मेरे मन के भीतर नहीं उपजी, प्रत्युत मुझे बचपन से सिखाई गई थी। उस आश्रम की उन अति गरिष्ट पुस्तकों के अलावा—जिनसे सदैव भयभीत रहने पर भी मेरा पिण्ड नहीं छूट सका था—यही एक प्रधान विषय था जिसे आश्रम के गुरू से शिष्य तक भिन्न-भिन्न शब्दों और शैलियों में सोचते विचारते थे।

देश ही मातृ-भूमि है, वह मातृ-भूमि माता—जन्मदात्री माता—से भी अधिक पूजनीय है। वही मातृ-भूमि विदेशी अत्याचारियों द्वारा दलित है ! उसका उद्धार करना हमारे जीवन का एक व्रत है। बस, यही हमारे देश-प्रेम की रूप-रेखा थी। मातृ-भूमि का उद्धार कैसे किया जाय, यह मैंने न कभी सोचा, न समझा, न किसी ने मुझे बताया ही। मैं मातृ-भूमि का उद्धार करूँगा। यह मैं चिल्ला कर कहता। पर किस तरह, यह नहीं जानता था। और इसी लिए मैं अब तक समय-समय पर चिल्ल-पुकार करने के सिवा और कुछ कार्य इस विषय में कर भी नहीं सका। मैंने समझा, यही यथेष्ट है। इसे करने में धन भी मिला और यश भी। रोज़गार-धन्धे को ढूँढ़ने की दिक़्क़त भी न उठानी पड़ी, यही चिल्ल-पुकार करना मेरा व्यवसाय हो

गया। मैं अब जिह्वा और लेखनी, दोनों से यही चिल्लाया करता। निदान, देश पर मरने वालों की फेहरिस्त में मेरा नाम दूर ही चमकने लगा। मेरी स्त्री हँसती थी। वह मुझे जीवित रखना चाहती थी, मारना नहीं। मैं कह दिया करता—"यह तो कहने की बातें हैं। मरने का ऐसा कौन सा प्रसङ्ग है ?" बस, यही उसके हास्य का विषय था। शिशु कुमार की बात कैसे भूली जाय ? हँसने में चार चाँद तो वही लगाता था।

पर मैंने जो कुछ समझा वह मेरी जड़ता थी। देश का अस्तित्व एक कठोर और वास्तविक अस्तित्व था। उसकी परिस्थिति ऐसी थी कि करोड़ों नर-नारी मनुष्यत्व से गिर कर पशु की तरह जी रहे थे। संसार की महा-जातियाँ जहाँ परस्पर स्पर्द्धा करती हुई जीवन-पथ पर बढ़ रही थीं, वहाँ मेरा देश और मेरे देश के करोड़ों नर-नारी केवल यह समस्या हल करने में असमर्थ थे कि कैसे अपने खण्डित, तिरस्कृत, अवशिष्ट, जीवन को खतम किया जाय ? देश-भक्त मित्र मेरे पास धीरे-धीरे जुटने लगे। उन्होंने देश की सुलगती हुई आग का मुझे दिग्दर्शन कराया। मैंने भूख और अपमान की आग में जलते और छटपटाते देश के स्त्री-बच्चों को देखा। वहाँ करोड़ों विधवाएँ, करोड़ों मँगते, करोड़ों भूखे-नंगे, करोड़ों कुपढ़ मूर्ख और करोड़ों ही अकाल में काल-ग्रास बनते हुए अबोध शिशु थे। मेरा कलेजा थर्रा गया। मैं सोचने लगा, जो बात केवल मैं कहानी-कल्पना समझता था, वह सच्ची है, और यदि मुझमें सच्ची ग़ैरत थी तो मुझे सचमुच मरना ही चाहिए था। मैं भयभीत हो गया। मैं कह चुका था कि मैं मरने से पीछे हटने वाला नहीं हूँ। अब क्या करता ? मैं बिलकुल पशु तो नहीं, बेग़ैरत भी नहीं, परन्तु मैं मरने को तैयार नहीं था। फिर भी मैं ज़बान लौटा न सका, मेरी

वाग्धारा और लेखनी वैसी ही चलती रही। वास्तविकता का ज्यों-ज्यों दिग्दर्शन मुझे हुआ, वह उतनी ही अधिक मर्म-स्पर्शिनी हो गई। बोलना और लिखना मैंने सीखा था, फिर वह मेरा स्वाभाविक गुण था। शीघ्र ही मेरी सोलहों कलाएँ पूर्ण हो गईं। मैं देश में सितारे की भाँति चमकने लगा। मेरा सम्मान चरमकोटि पर पहुँचा पर मेरा हास्य, मेरा सुख सदा के लिए गया। मैं सदा ही शङ्कित, थकित और चिन्तित रहता, मानो मृत्यु परछाईं की तरह सदा मेरे पीछे रहती थी। मैं उससे बहुत ही डरता था। अब मृत्यु ही मेरे हृदय और मस्तिष्क के विचारने का विषय रह गई, परन्तु क्या कहूँ? इस दुःख में भी एक वस्तु थी, जो प्राणों से चिपट रही थी—वही स्त्री और शिशु कुमार!

राजा साहब को मैंने कभी नहीं समझा, पर उनसे कभी डरा भी नहीं। उनके नेत्र अद्भुत थे, और देखने का ढङ्ग और भी अद्भुत—छोटा सा मुख, बड़ी-बड़ी मूँछें, उस पर भारी सा अम्मामा, और काले चश्मे से ढकी हुई वे अद्भुत रहस्यमयी आँखें। सभी कहते थे, राजा साहब से हम डरते हैं, पर मैं कभी न डरा। वे आते ही सदैव पहले मुझे प्यार करते, तब पिता जी से बात करते थे। वे पिता जी के अनन्य भक्त थे, पिता जी से दीक्षा लेने के पूर्व से ही। उनके संन्यस्त होने के बाद तो वे उनके शिष्य ही हो गए थे। बहुधा उनमें एकान्त में बातचीत होती, घण्टों और कभी-कभी दिनों तक। वे खाना-पीना-सोना भी भूल जाते। तब भी मैं उनके विषय को न समझ सका था और अब इतना बड़ा होने पर भी नहीं समझ सका। एक ही बात प्रगट थी कि वे बड़े भारी देश-भक्त हैं। मैं भी देश-भक्त था। बस, यही हमारा उनका नाता था। वह धीरे-धीरे बढ़ा। पहले वह जैसे मुझे

प्यार करते थे, वैसे अब वह शिशु कुमार को प्यार करने लगे। यह बात मुझे और मेरी पत्नी को बहुत भाती थी। पर वे कभी-कभी शिशु कुमार को छाती से लगा कर मेरी ओर ऐसी मर्म-भेदनी दृष्टि से ताकते थे, कि मैं घबरा जाता था। तभी तो मैं कहता था कि वह दृष्टि बड़ी अद्भुत थी। उस समय मैं उसे समझा नहीं, समझा तब, जब मैं स्त्री, पुत्र, प्राण, जीवन, सब कुछ उन्हें देकर महापथ पर महा यात्रा के लिए अग्रसर हुआ। आज वे आँखें १५ वर्ष से प्रति क्षण घूर रही हैं। उनसे एक क्षण भी बचना मेरे लिए अशक्य है।

राजा साहब ने मुझसे जिस लिए परिचय बढ़ाया था उसका मुख्य कारण धीरे-धीरे उन्होंने खोला। मैं ज्यों-ज्यों सुनता था, भयभीत होता, पर यत्न से भय को छिपा कर उत्साह प्रदर्शित करता फिर भी मालूम होता, मानो वे सब समझ रहे हैं। वे थोड़ी-थोड़ी बातें करते और चले जाते। एक दिन हठात मुझे बुला कर उन्होंने कहा—"क्या तुम अपने पिता के सच्चे पुत्र और साहसी देश-सेवक हो? मैं ना कहता किस तरह? मैंने सिंह-गर्जन की तरह हुङ्कार भरी। राजा साहब ने मुख्य उद्देश्य बता दिया। मैं सन्न होगया। वे मृत्यु को जेब में लिये फिरते थे, अपने लिए भी और मेरे लिये भी। उस महावीर के सम्मुख कायर बनना मेरे लिये शक्य न रहा। मैं हाँ करता गया। स्वामी जी के सम्मुख भी हाँ की। स्त्री ने हाहा-कार किया, परन्तु एक अपूर्व गर्व-भावना मन में आ गई थी। मैं पीछे न हटा। मैंने अपना जीवन राजा साहब के हाथों सौंप दिया। फिर तो मैं इस तरह उड़ा जैसे आँधी से उड़ाया हुआ और डाल से टूटा हुआ सूखा पत्ता।

३

मैंने अपनी आत्मा से अधिक उस पर विश्वास किया था। उसके पिता मेरे गुरु और परम श्रद्धास्पद थे। वे अपने जीवन के प्रारम्भ से ही देश के एक अप्रतिभ सेवक रहे, उनकी सन्तान कैसे देश और जाति का मित्र न होगी? मैं इसके विपरीत सोच ही न सका। इस प्रसङ्ग से प्रथम कई वर्ष से मैं उससे परिचित था। पत्र-व्यवहार और मुलाक़ात सभी में वह एक उत्कट देश-भक्त वीर युवक ध्वनित होता रहा। जब मैंने उससे अपना गम्भीर अभिप्राय निवेदन किया तो वह एकटक मेरे मुख को देखता रह गया। उसके होठ और कण्ठ सूख गए। बड़ी चेष्टा करके उसने कहा—श्रीमान, आपने राज्य और रियासत को धूल के समान त्याग दिया; राज्य, भोग और ऐश्वर्य से दूर हो गए; दिन-रात देश और जाति की ध्वनि आपके रोम-रोम से निकलती है। अब आप क्या सचमुच प्राणों की बाज़ी भी लगा देने को तैयार हैं?

मैं तो तैयार ही था। बिना एक क्षण रुके मैंने कहा—"हाँ, हाँ, अब प्राणों को छोड़ कर मेरे पास और रह ही क्या गया है? यह भी जिसकी धरोहर हैं, उसे जितनी जल्दी सौंप दिए जाएँ उतना ही अच्छा। इस शरीर को इन प्राणों का भार अब सह्य नहीं है। यह ग़ुलामी, यह काला जीवन, हमारा—हम समस्त भारतवासियों का—कैसा है, समझते हो? जैसे, एक भेड़ के बच्चे का उस बाड़े के भीतर, जिसके फाटक पर शिकारी कुत्तों का पहरा लग रहा है। इस पहरे के भीतर राजा रहा तो क्या, प्रजा रही तो, क्या, जीवित रहा तो क्या और मर गया तो क्या? बोलो तुम क्या कहते हो?"

उसकी आँखों से झर-झर आँसू टपक गए। उसने गद्गद कण्ठ से कहा—"श्रीमान, मैं भी कैसा अपदार्थ हूँ। मैं अपनी स्त्री-बच्चे को त्यागने में कष्ट पा रहा हूँ, परन्तु आप—ओह! आपके सम्मुख मैं लज्जित होने का कारण न पैदा होने दूँगा। मैं सोचूँगा, कल इसी समय मैं आपको वचन दूँगा। सिर्फ़ कल भर आप और रहने दीजिए।"

"कुछ हर्ज नहीं, पर समझ लेना, मृत्यु की पद-पद पर आशङ्का है। भय और विपत्ति के बादलों में जाना होगा—ज़रा भी विचिलित हुए, ज़रा स्त्री-बच्चों के मुख का स्मरण आया, ज़रा भी मन में भीरुता आई, देश तो अतल पाताल में गया समझना, साथ ही पचासों वीर मित्रों की जान जायगी सब कुछ मिट्टी में मिल जायगा।"

"श्रीमान, क्या आप नहीं जानते, मैं किसका पुत्र हूँ?"

"जानता हूँ, पर तुम्हें स्वयं भी कुछ होना चाहिए।"

"तब श्रीमान का मुझ पर विश्वाश नहीं?"

"विश्वास? विश्वास अपनी आत्मा से भी अधिक है। मैं अपने विश्वास से बेफ़िक्र हूँ। मैं यह चाहता हूँ, कि तुम्हें स्वयं अपने ऊपर विश्वास हो।"

वह अधोमुख होकर सोचने लगा। मैंने मन में वेदना अनुभव की। लाखों युवकों में मैंने इसे चुना है, क्या मैं धोखा खाऊँगा?

मैंने उसे बिदा किया, वह चला गया।

दूसरे दिन ठीक समय पर मिलते ही उसने कहा—"श्रीमान, मैं तैयार हूँ।" उसने अपना हाथ बढ़ा दिया। मैं घोर सन्दिग्ध अवस्था में था। क्षण भर मैं उसे देखता रहा। क्या यह सच है? महान विचार-धाराओं

के कार्य-रूप में परिणत होने का समय क्या आ गया ? ओह प्यारे भारत-वर्ष !......ठहरो। मैंने खड़ा होकर उसका स्वागत किया। मैं कुछ बोल न सका। मेरे नेत्रों में आँसू थे। कुछ ठहर कर मैंने कहा—"प्यारे युवक मैं प्रतिज्ञा करता हूँ, प्राण रहते तुम्हारी रक्षा करूँगा। प्रत्येक खतरे को अपने सिर पर लूँगा। तुम्हें प्राणों से अधिक प्यार करूँगा, परन्तु फिर भी तुम्हें प्रतिज्ञा करनी है कि यदि कुअवसर उपस्थित हो तो अपने प्राणों को, शरीर को, अपदार्थ समझोगे। अभी तुम्हारे सम्मुख जो भयानक गम्भीर भेद प्रगट होंगे, उन्हें, तुम्हारे हृदय से बाहर, तब तक न आना चाहिए, जब तक कि तुम्हारे हृदय को चीर कर टुकड़े-टुकड़े न कर दिया जाय। तुम सदा यह समझ कर अपने जीवन को बलिदान करने के लिये तैयार रहना है, कि इससे सैकड़ों सच्चे वीरों के जीवन की रक्षा होगी। जो अब नहीं तो फिर कभी न कभी देश का उद्धार करेंगे।" युवक के नेत्रों में स्थिरता थी। उसने सहज-शान्त स्वर में कहा—"श्रीमान, हर तरह परीक्षा कर लें।"

मैंने कहा—"तुम्हारे पिता की भक्ति मेरे हृदय में धरोहर है। मैंने उनसे आदेश ले लिया है। तुम्हारी यही परीक्षा काफ़ी है। तुम केवल मुख से एक बार कह दो कि तुम भेदों को प्राणों से बढ़ कर समझोगे ?"

"समझूँगा।"

"विपत्ति आने पर तुम स्थिर रहोगे ?"

"उसी तरह जैसे पत्थर की मूर्त्ति रहती है।"

"यदि तुम्हें मृत्यु का आलिङ्गन करना पड़े ?"

"तो मैं उसे अपने पुत्र की तरह गले लगाऊँगा ?"

"यदि तुम्हें भेद लेने के लिए असह्य वेदनाएँ दी जायँ ?"

"मैं धर्म से शपथपूर्वक कहता हूँ कि मृत्यु पर्यन्त उन्हें सहन करूँगा।"

"यदि प्रलोभन दिए जायँ ?"

"वे मुझे बिचलित नहीं कर सकेंगे।"

युवक के होठ काँपे। नेत्रों की पुतलियाँ चलायमान हुईं। मैंने अधीर होकर कहा—"प्रलोभन ? क्या प्रलोभन तुम्हें चलायमान न कर सकेंगे ?"

"नहीं श्रीमान, अभी मैं बड़े से बड़े प्रलोभन को त्याग आया हूँ।"

मेरा सन्तोष न हुआ। मैं उठ कर टहलने लगा। मैं सोचने लगा—वेदना, यातना और मृत्यु ये एक ओर हैं, परन्तु प्रलोभन ? ओह, इसका अन्त नहीं ? यह युवक वेदना सहेगा, मृत्यु का आलिङ्गन भी करेगा। मैं विश्वास करता हूँ, पर प्रलोभन ? ओह, विश्वास नहीं होता। शायद उसे स्वयं भी विश्वास नहीं।

युवक ने मेरे पास आकर कहा—"श्रीमान क्या विश्वास नहीं करते ?"

"मेरे प्यारे मित्र, मैं तुम्हारे साथ अन्याय कर रहा हूँ। मुझे विश्वास करना चाहिए।" मैंने युवक को छाती से लगा लिया। मैंने कहा—"लो, अब हम-तुम एक एहु, एक महान कार्य की पूर्त्ति के लिए। यदि परमेश्वर को अभीष्ट हुआ तो हम मर कर भी अमर होंगे। हम दोनों करोड़ों मनुष्यों से अधिक शक्तिशाली हैं। हम पृथ्वी की महा बिजयिनी शक्ति के सम्मुख चल रहे हैं—मरेंगे या विजयी होंगे।" आवेग में ही ये शब्द मुख से निकल गए। उसके बाद मेरा बाहुपाश कब शिथिल हुआ, कब वह युवक खिसक कर मेरे पैरों में आ गिरा, मुझे स्मरण नहीं।

४

जगत में असाधारण होना भी कैसा दुर्भाग्य है ! पृथ्वी की असंख्य

आँखें उसी के छिद्रान्वेषण में लगी रहती हैं। वह यदि जगत के लिये मरता है, तो जगत की दृष्टि में यह उसका साधारण सा कर्तव्य है, किन्तु यदि वह एक क्षण भी अपने लिये जीता है तो मानों पाप का पर्वत उसके सिर पर लद जाता है। क्या यह दुर्भाग्य नहीं? अरे भाई, सभी कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी, नर-नारी, अपने ही लिये तो जीते हैं? अपने क्षण भर के सुख और जीवन के लिये अनगिनत प्राणियों को नष्ट कर डालते हैं। कोई भी तो उनसे कुछ नहीं कहता। फिर हम पर ही यह अग्नि-वर्षा क्यों? मैंने सब कुछ त्यागा। जीवन के कष्ट और आपत्तियों को क्या कहूँ, अब तो सबको पार कर गया। अब उनकी स्मृति से क्यों मन को सन्ताप दूँ? परन्तु शरीर और हृदय, ये जब तक जीवन-तत्व से संयुक्त हैं, तब तक तो प्रकृत संन्यस्त में सदैव कमी रहेगी ही। यह मेरा अब तक का अनुभव है।

मैं संन्यस्त हुआ सही, पर पिता का हृदय कहाँ रक्खा जाय? पुत्र तो आत्मा और रक्त मांस में से भाग देकर बना था, उसका मोह कहाँ तक त्यागूँ? कहाँ तक निर्मोही बनूँ? उसकी माँ तो उसे जन्म देकर ही मर गई थी। उसने अल्प जीवन में जो कुछ दिया, अब भी वह अतीत के सब सुखों के ऊपर नृत्य कर रहा है। उस मधुर स्मृति की एक अमिट रेखा यह पुत्र था। इसे मैंने हाथों-हाथ पाला और उसे—जैसा कि मैंने चाहा था—संसार के सामने, क्रान्ति के नव्य कुमार के रूप में पेश किया। लक्षावधि देशवासी उस पर नाज़ करते थे और मैं अपनी सफलता पर मुग्ध होता था—उसी तरह जैसे किसान अपने कड़े परिश्रम से सींचे हुए खेती को पका देख कर मुग्ध होता है।

फिर भी मैं राजा साहब के बचन को न टाल सका। उनके भयानक

साहस से मैं अवगत था। उनकी प्रत्येक गति-विधि से मैं परिचित था। पुत्र के अनिष्ट का भय पद-पद पर स्पष्ट था। किन्तु मुझे सहमत होना पड़ा। इसके अनेक कारण थे। देश के नाम पर बलिदान होने को मैं स्वयं उच्च स्वर से पुकार कर चुका था, पुत्र को भी यही शिक्षा दी थी। अब उसे उस मार्ग से रोक कर क्या राजा साहब और अन्य साथियों की दृष्टि में अपदार्थ बनता? लड़के में भी साहस और उत्साह था। पर उसके मर्मस्थल की दुर्बलता मैं जानता था। विलासता उसे गिरावेगी, मुझे भय था। उसने वस्तुस्थिति को समझा ही नहीं। जब उसने स्वयं नवजात पुत्र और पत्नी को त्याग कर उस भयानक यात्रा और कठोर कर्त्तव्य-पथ पर राजा साहब का अनुकरण करने का अपना इरादा प्रगट किया, तब मैं स्तब्ध रह गया। मैंने कहा—"पुत्र, राजा साहब का मैं चिर-सहयोगी हूँ। परन्तु केवल मुख से। तुम तो इतने उत्साह से यह बात कह रहे हो, कदाचित तुम अवश्यम्भावी विपद से अवगत नहीं। कार्य की गुरुता और कठिनाई तुम यथावत नहीं समझ रहे हो। यह तुमसे होने वाला कार्य नहीं, महादुस्साध्य है। यह लोह-पुरुषों का महकमा है। इसके लिए वे पुरुष चाहिएँ, जो लोहे का शरीर, लोहे की आत्मा और लोहे का हृदय रखते हों मेरे बेटे, मैं तुम्हें जानता हूँ। तुम वह नहीं हो। घर में बैठे-बैठे जो बने करो। देश और जाति के लिए यही यथेष्ट है।"

उसने एक न सुनी। वह मूर्ख मुझ पिता के सम्मुख भी कायर बनना न चाहता था। उसने अस्वाभाविक करारे स्वर में हठ प्रदर्शन किया और मुझे सहमति देनी पड़ी।

वही हुआ, जिसका भय था। पृथ्वी के उस छोर पर वे विपत्ति के अग्नि-

समुद्र में बड़े कौशल और सावधानी से घुस रहे थे। अरे, जब अग्नि-समुद्र में घुसना था, फिर कौशल क्या? वह फँस गया, राजा साहब बाल-बाल बच कर निकल भागे। मैं यहीं बैठा उनकी गति-विधि का निरीक्षण कर रहा था। महासमर की प्रचण्ड ज्वालाएँ यूरोप को भस्म कर रही थीं। उसकी चिनगारी कब मेरी कुटी को भस्म कर देगी, यह कहना शक्य न था। यूरोप के दैनिक पत्रों को देखने के अतिरिक्त मैं और कुछ कर ही न सकता था। मन ही न लगता था। उसके उस पत्र पर सरकारी गुप्त बिभाग के सर्वोच्च अधिकारी की एक टिप्पणी थीं। उससे मैं समझ गया, पुत्र की मृत्यु का मूल्य बहुत अधिक है। वह मूल्य मेरे पास था तो, पर मैंने बहुत चेष्टा की, कि प्राण देकर उस मूल्य को न दूँ। पर हाय! अवसर ही ऐसा आ गया, मेरे प्राणों का कुछ भी मूल्य इस सौदे में न रहा। उसने सब कुछ कह दिया था। उसके वक्तव्य की सत्यता के प्रमाण मात्र मेरे पास थे। मैं कई दिन उसके बच्चे को छाती से लगा कर तड़पता फिरा। अपने संन्यास-वेश की असत्यता मुझ पर खुल गई। ओह, मुझे वह काला काम करना पड़ा। मैंने पुत्र के प्राणों की पिता की तरह रक्षा की।

पर उसके बदले हुआ क्या? देश भर में तलाशियों और गिरफ़्तारियों की धूम मच गई। होनहार, अटपटे वीरों ने हँसते-हँसते फाँसी पाई। कुछ कालेपानी जाकर वहीं घुल गए। कुछ युग व्यतीत कर लौट आए। देशोद्धार का सुयोग अतल पाताल में चला गया। मेरे दुष्कर्म का यह भेद एक राजा साहब को ही मालूम था, पर वे भारत में आ न सकते थे। एक पत्र उन्होंने भेजा था! ओह, जाने दो, जब उसे भस्म कर दिया है, तब चर्चा क्यों? जिस बात के भूलने में सुख है, उसे हठ-पूर्वक स्मरण क्यों किया जाय?

५

महाजातियों का यह संघर्ष कैसा सुन्दर है ! यदि मैं भी इन्हीं जातियों में जन्म लेने का सौभाग्य प्राप्त करता तो क्या आज चूहे की तरह इधर से उधर प्राण बचाता फिरता ? महाशक्ति की सेनाओं की कमान इन्हीं हाथों में होती, पर जीवन में कभी वह क्षण आवेगा भी ? आवे या न आवे, मैं अन्त तक न थकूँगा। भोजन और सोना कई दिन से नसीब नहीं हुए। नाविक के वेश में, मछलियों की सड़ी गन्ध में छिपे-छिपे सिर भिन्ना गया, पर विपत्ति तो अभी सिर पर है। वह दूर पर रणपोतों के तोपों का गर्जन सुनाई पड़ रहा है। वह सर्चलाइट का श्वेत सर्प समुद्र पर लहरा रहा है। किन्तु प्रभात होते ही तो किनारे लगेंगे ? किनारे पर शत्रु हैं या मित्र, कौन जाने ? मित्र हुए तो इस बार जान बची, पर यदि शत्रु हुए तो आज ही प्राणान्त है। जीवन भी कैसी चीज़ है ? इस समय राजमहल याद आ रहे हैं। महारानी मानो करुण नेत्रों से झाँक रही हैं, परन्तु क्या इस महायुद्ध में मैं अपने वंशधरों की भाँति अपने देश के लिए जूझने में पीछे रहूँ! जूझने के ढङ्ग तो यथावसर निराले होते ही हैं, परन्तु जिन विदेशियों को मैं मित्र बना कर अपना और अपने देश का ऐसा गम्भीर दायित्व सौंप रहा हूँ, वह क्या सच्चे रहेंगे ? एक विदेशी से प्राण छुड़ाने को दूसरे का आश्रय लेना सुन्दर नीति तो नहीं, परन्तु दूसरी गति भी नहीं थी। फिर, अब लौटने का उपाय भी तो नहीं है। एक बार देश में आग फैल जाय, अमन, आराम और शान्ति की इच्छा नष्ट हो जाय, देश जूझ मरने की हौंस मन में उत्पन्न करे, फिर तो आज़ादी स्वयं ही आ जायगी। यह महासमर तो महाराज्यों के भाग्य का निबटारा करेगा, महाजातियों के भाग्य

का निबटारा तो कहीं अन्यत्र ही होगा। सुदूर पूर्व में शान्त समुद्र की लहरें रक्त से लाल होंगी, एशिया की प्रसुप्त आत्मा जाग्रत होकर हुङ्कार भरेगी, तब यूरोप का शान्त दर्प ध्वंस होगा। उसी दिन के लिए तो मेरा आयोजन है। ओह, अभी मुझे बहुत काम है, पहली यात्रा में ही यह विघ्न हुआ!

अभी मुझे बारम्बार चीन, जापान, रूस, अमेरिका और न जाने कहाँ-कहाँ जाना होगा। महाविध्वंस क्या योंही हो जायगा? परन्तु वह युवक तो फँस गया। बुरा हुआ। बचना सम्भव ही न था। महासाहस उसमें न था। चिन्तनीय बात तो यह है कि सब कुछ उसे ज्ञात है! आवश्यक क़ाग़ज़ भी बहुत से वहीं रह गए हैं। तब वह क्या प्राणों के लोभ से देश को चौपट करेगा? विश्वासघाती होगा? मरने में क्षण भर का ही तो दुःख है। वह अवश्य उसे सह लेगा, भेद न खोलेगा। फिर भी सचेत रहना आवश्यक है। मुझे अब नया कार्यक्रम बनाना उचित है। अपने मार्ग की गति भी बदलनी उचित है। ये नाविक विश्वसनीय हैं, परन्तु मैं कुछ और ही करूँगा।

ओह देश! मेरे प्यारे स्वदेश!! यह तन, मन, धन, सब तुझ पर न्यौछावर है। तेरी एक-एक रज-कण में मेरे जैसे लाख शरीर बनते-बिगड़ते हैं। फिर इस शरीर का क्या मोह? मेरे प्यारे स्वदेश! मैंने सब कुछ तुझे दिया है। अब प्राण भी दूँगा। इस धरोहर को पास रखने योग्य अब मेरे पास ठौर भी नहीं रह गया है। आह, क्या कभी मैं तुझे देख सकूँगा? वह नील-श्यामल रूप!! अरे, बचपन की क्या-क्या बातें याद आ रही हैं? परन्तु नहीं, मुझे इस समय कायर नहीं बनना चाहिए। मैं प्रण करता हूँ, देश की भूमि पर तभी पैर रक्खूँगा जब उसे पूर्ण स्वाधीन कर लूँगा।

६

प्राण बचे तो, पर बेमोल बिक गए थे। उन पर मेरा क़ाबू न था। अब स्वेच्छानुसार न कुछ कर सकता था, न सोच सकता था। उन बहुमूल्य गोपनीय बातों के बदले मुझे गुप्त विभाग में उच्च पद मिला था। मेरे प्राण जैसे मेरे लिए क़ीमती थे, वैसे ही उस गुप्त विभाग के लिए भी थे। मेरा जीवन रहस्यमय था। मेरे हृदय में कुछ रहस्य-भेद होगा, इस तत्व ने मेरे प्राणों को इस अधम शरीर में सुरक्षित रक्खा और इस कापुरुष ने यही ग़नीमत समझा। शिशु की फैली हुई बाँह और हँसता मुख मैं कुछ काल तक देखता रहा, उस जेल-यन्त्रणा और मृत्यु की कोठरी में भी और इस अफ़सरी की सुखद किन्तु भीषण कुर्सी पर भी। परन्तु पाप के पथ पर तो पाप की हाट लगी ही रहती है। फिर लिली की बात क्यों छिपाऊँ? न जाने क्यों वह मुझ अभागे पर मुग्ध हुई। उसका पति मेरा उच्च ऑफ़िसर था। हम लोगों ने विष द्वारा उस कण्टक को दूर कर दिया। अब लिली थी और मैं था। परन्तु मृतात्मा हमारे बीच में जीवित की अपेक्षा अधिक भयानक रूप में थी। एक बार फाँसी के फन्दे को हम दोनों ने अपने संयुक्त गर्दनों के इर्द-गिर्द देखा। हमने सोचा यहाँ से भाग चलें। तार दिया, जहाज़ का टिकट भी ले लिया, पर भाग न सके। जहाज़ पर ख़ूनी आसामी कह कर पकड़े गए। लिली का रोना देखने योग्य था। पर वह छूटती कैसे, हड्डियों तक घुस गई थी। हताश, दोनों मृत्यु का आलिङ्गन करने को तैयार हो गए। परन्तु ये कठिन प्राण तो इस शरीर में जम कर बैठे थे। उन्हीं शक्तियों ने प्राण बचा लिए। मैं लिली के मृतक पति के पद पर, उसी मृतक के नाम से बैठ गया। । लिली अब वास्तव में मेरी पत्नी

थी। अब मानो मैं मर गया हूँ। मैं नहीं हूँ, जिसे मैंने लिली के लिए मारा, मानो वह मैं हूँ। शिशु का वह हास्य और पत्नी के वे नेत्र अब भी कभी-कभी स्वप्न की तरह स्मरण हो आते हैं, पर पूर्व-जन्म की इन बातों में अब क्या रक्खा है? लिली से मैं अब भी प्यार की आशा करता था। छिः! कैसी विडम्बना है! पति के हत्यारे को प्यार करना क्या साधारण है? फिर यदि प्रेम की सुखद गोद में हत्या जैसा पाप घुस जाय तब वह जिन्हें सुखद प्रतीत हो, वे निश्चय ही राक्षस होंगे। हृदय की उन वेदनाओं को क्या कहा जाय, जिन्होंने शरीर को नष्ट कर दिया है? और वह अभागा भी कैसा दुखी जीव है, जो उसके साथ रहने को विवश किया गया है, जो उससे घृणा करती है? हमारे रस की प्रत्येक बूँद में विष है, पर उसे रस कह कर पीना हम दोनों के ही लिए अनिवार्य है। हाय रे प्रारब्ध!

७

मैं अभागिनी अबला स्त्री क्या करती? मरना सुखकर था, परन्तु शिशु कुमार के मन्द हास्य ने उसे दुरूह कर दिया। क्या कोई भी माँ अपने फूल-से बच्चे को इस तरह हँसते छोड़ कर मर सकती है? अब तो मैं पहले माँ थी, पीछे पत्नी। इसीलिए गोद के शिशु को धरती में पटक कर परोक्ष पति के नाम पर मरना मेरे लिए सम्भव ही न रहा। मैं सुख-दुःख के बीच झूलती रही। मैं मृत्यु और जीवन की ड्योढ़ियों में पड़ी ठोकर खाती रही। मुझ दुखिया के कष्ट, मूक मनोवेदना का अनुमान तो करिए! मेरी बात पूछने वाला कौन था? मेरे मन को सहारा किसका था? मैं पति के सहवास-काल की प्रत्येक घटना, प्रत्येक बात, अपनी आँखों से प्रति क्षण देखती, सोते समय और जागते समय भी। मैं कभी हँसती और

कभी रो देती। कभी सोते-सोते या बैठे ही बैठे चमक उठती। मुझे ऐसा प्रतीत होता था। मानो वे आ गए। उन्होंने अभी-अभी शिशु कुमार को आवाज़ दी है। कण्ठ-स्वर को मैं प्रत्यक्ष सुन पाती। मैं द्वार की ओर दौड़ती, परन्तु तत्काल ही समझ जाती, ओह! कुछ नहीं; यह सब मनोविकार था। मैं नहीं कह सकती कि सोने के समय जागती थी या जागने के समय सोती थी। प्राय: मैं जड़वत बैठी रहती। उस समय मैं किसी की कोई बात ही न सुन पाती थी। मैं उस समय देखती थी—वे उन्हें पकड़ कर फाँसी पर चढ़ा रहे हैं, उनके शरीर में तलवारें घुसेड़ रहे हैं। शरीर रक्त से भर रहा है। मैं एकाएक चीत्कार कर उठती, और फिर धरती पर धड़ाम से गिर कर बेहोश हो जाती थी।

शिशु कुमार को देख कर ही मैं सचेत रह सकती थी। मुझे तब वास्तव में हँसना ही पड़ता था। वह उनके सिखाए ढङ्ग पर मेरे गले में बाहें डाल कर जब ज़रा-ज़रा तोतली वाणी से सितार की झनकार के स्वर में कहता—"माता जी, रूठो मत" तब मैं मानों किसी गूढ़ जगत से एकाएक भूतल पर आती। होठों पर मुस्कान न आती, पर नेत्रों में आँसू आ जाते थे। उन्हें शिशु कुमार से छिपाने के लिए मैं उसे ज़ोर से छाती से लगा लेती थी।

उस दिन स्वामी जी एकाएक मेरे सम्मुख आ खड़े हुए। उनके होठ काँप रहे थे और पैर लड़खड़ा रहे थे। उनके मुख पर हवाइयाँ उड़ रही थीं। वे कुछ कहना चाहते थे, पर बोली न निकलती थी। मैं घबरा कर उठ खड़ी हुई। मैंने कभी उन्हें इतना विचलित न देखा था। मैंने कहा—"बात क्या है पिता जी?" "वह जीवित है, वह आ रहा है"—वे अधिक न

बोल सके। आँसुओं की धारा उनके नेत्रों से बहने लगी। उन्होंने मुँह फेर कर अच्छी तरह रुदन किया।

मेरे शरीर में रक्त की गति रुक गई। मेरी हड्डी-हड्डी काँपने लगी। मैंने खड़े रहने की बड़ी चेष्टा की, पर न रह सकी। मेरा सिर घूम रहा था, छाती फटी पड़ती थी। मैं बैठ गई, या गिर गई, स्मरण नहीं।

स्वामी जी ने घूम कर कहा—"बेटी, आज ७ वीं तारीख़ है। १० तारीख़ के प्रातःकाल जहाज़ बम्बई के बन्दर पर लगेगा। हमें आज ही चलना होगा। तुम अपना आवश्यक समान ले लो। अभी समय है। गाड़ी साढ़े नौ पर खुलती है।" वे इतना कह कर चले गए।

मार्ग में मैं जीवति थी या मृत, नहीं कह सकती। बम्बई कब पहुँची, स्मरण नहीं। रेल दौड़ रही थी, मैं मानो आकाश में घुसी जा रही थी, मानो मैं अभी सूर्य-मण्डल को भेदन करूँगी। डेक पर सहस्रावधि नर नारी खड़े थे। एक भीमकाय जहाज़ उन्मत्त समुद्र की जल-राशि के हृदय को विदीर्ण करता हुआ भयानक दानव की तरह निकट ही आ रहा था। मेरी संज्ञा प्रायः लुप्त थी। डेक पर लगते ही नर-नारियों का समुद्र किनारे उतरने लगा। मैं सम्पूर्ण चेष्टा से उनके बीच कुछ खोज सकने भर की संज्ञा सञ्चित कर रही थी। सब कुछ एक रङ्गीन विन्दु के समान दीख पड़ता था। नहीं कह सकती, कब तक हम लोग खड़े रहे। हठात स्वामी जी ने कहा—"इस जहाज़ में तो वह नहीं है। क्या कारण हुआ?" उनके प्रदीप्त नेत्र दूर तक घूम कर मेरे मुख पर आ लगे। बम्बई आने पर यही शब्द मैं ठीक-ठीक सुन सकी। मैं समझी, यह सब मृग-मरीचिका थी। वे नहीं आए, वे नहीं आवेंगे। मैंने अनन्त तक फैली हुई जल-राशि पर दृष्टि दौड़ाई। हठात मेरे

मन में एक भाव उदय हुआ। मैंने हठात कहा—"पिता जी, तब मैं वहाँ जाऊँगी।" मेरे ये शब्द मेरे ही कानों में तोप के भीषण गर्जन की तरह प्रतीत हुए।

स्वामी जी ने मेरे मुख की तरफ़ देखा। उन्होंने आश्वासन देकर कहा—"अवश्य कुछ कारण हुआ है। पत्र या तार शीघ्र मिलेगा। तब भविष्य कर्तव्य पर विचार करेंगे। अभी घर चलो।" मैंने एक पग भी न हिलाया। बहुत तर्क हुआ। विजय मेरी हुई। सोते हुए शिशु कुमार को छोटी बहू की गोद में सौंप, उसे बिना ही अच्छी तरह देखे, उसे बिना ही चूमे, मैं उस अनन्त समुद्र के उस पार, उस अज्ञात प्रदेश में, पति को ढूँढ़ लाने चली। मेरा माता होना धिक्कार हुआ। हाय रे! अधम नारी-हृदय!!

८

इस कृष्णकाय और साधरण पुरुष ने क्या जादू कर दिया? अहो, मैंने कैसा घोर दुष्कर्म किया? अब इन रक्त-रंजित हाथों को कौन प्यार करेगा? यही व्यक्ति? और वह कितना घृणास्पद है! क्यों यह पापिष्ठ हमारे बीच में आया? क्यों इसने हमारे प्रशान्त प्रेम में आग लगाई? मैं इससे घृणा करती हूँ। पति की मृतक आँखें कैसी चमक रही हैं! वे सब कुछ जानती हैं। उन्होंने अपना सभी प्रेम और विश्वास मुझे दिया, इसीलिए कि मैं अपनी वासना के लिए उनका प्राण हरण करूँ? परन्तु अब तो मैं इसके साथ रहने के लिए बाध्य हूँ, छुटकारा पा नहीं सकती। यह वह विदेशी कृष्णकाय हत्यारा नहीं, मेरा वही पति है। इसमें क्या राजनैतिक महत्व है, इसे तो वह गुप्त विभाग जाने, जिसने इस भाग्यहीन को इतना

बड़ा पद दिया है। पर मैं कैसे यह मान लूँ? क्या आँखें फोड़ लूँ? हृदय को चीर डालूँ?

सुनती थी कि यह विवाहित है। इसके पुत्र, पत्नी है। आज उसे देख भी लिया। वह इसे ले जाने के लिए यहाँ आई है, पर यह सब कैसे सम्भव हो सकता है। अब यदि यह अपना पूर्व नाम भी स्मरण करेगा तो उसकी सज़ा मौत है। और कैसी भयानक बात है! मैं उससे मिली, कितनी सीधी-साधी, दुखिया स्त्री है? वह अपने हठ पर है। किन्तु उसे मालूम नहीं कि प्रबल और समर्थ हाथ उसके विपरीत है। अपराध का इतना समर्थन कहाँ किसी ने देखा होगा? ओफ़!

६

कल मैंने उन्हें देखा। वही थे, किन्तु कितना परिवर्तन हो गया है! फिर भी मेरी आँखें क्या उन्हें भूल सकती थीं? उन्होंने भी देखा। मैं समझ गई उनकी हड्डी तक काँप गई है, पर क्यों? वे दौड़ कर क्यों नहीं मेरे पास आए? इतना डरे क्यों? क्या पहचाना नहीं? ओह, हे ईश्वर, तब मेरे लिए ठौर कहाँ है? इतना करके भी मैं वञ्चित रही? आशा के कच्चे तार के सहारे ये प्राण इस अधम शरीर को यहाँ तक ले आए। आकर जो पाना था पाया भी, पर क्या मैं पाकर भी न पा सकूँगी? ओह, पति के नाम पर मर मिटने वालियों से भी मेरा साहस बढ़ कर है। मैं आगे बढ़ी। दिन छिप गया था। गहरा कोहरा इस विदेश की महानगरी में अद्भुत भयानक मालूम होता था। प्रकाश-स्तम्भों की धुँधली रोशनी में मैं उनके पीछे बढ़ी चली गई और साहसपूर्वक हाथ पकड़ लिया। उन्होंने रुक कर देखा, भद्र विदेशी भाषा में उन्होंने कहा—"देवी, आप कौन हैं? क्यों

आपने मुझे रोका है ? आपका क्या काम है, कहिए ?" अरे ! वही तो कण्ठ-स्वर था। सदा तो इसे मैंने सुना है, पर यह अपरिचित शब्द-जाल कैसा ? मैं रो उठी, मैं गिर गई, चरणों पर नहीं, धरती पर। उन्होंने मुझे उठाया, तसल्ली दी। मैंने देखा—वही, वही, वही हैं। मैंने गले में बाँह डाल दी। जितना रो सकती थी रोई। मैंने कहा—"दासी पर निष्ठुरता क्यों ? यदि यह अपराधिनी है, तो शिशु कुमार को क्यों भूल गए ? देखो प्यारे, वह सूख कर काला हो गया है। वह सदैव तुम्हारा ही नाम रटा करता है। तुमने स्वयं उसे अपना नाम रटाया था।" वे भी रो उठे। अन्त में उन्होंने कहा—"प्रिये, धीरज धरो। मेरे कलेजे की आग देखो। मैं जीवन्मृत हूँ। मैं कब का मर चुका हूँ। सरकारी खातों में मेरी मृत्यु-तिथि दर्ज है। पर जो वास्तव में मर गया है, उस नाम में मैं जीवित हूँ। उसका नाम मेरा नाम है, उसका पद मेरा पद है, उसकी स्त्री मेरी स्त्री है। ओह ! वह मुझे घृणा करती है, और मैं उसे। हम दोनों हत्या के अभियुक्त हैं। फाँसी की रस्सी हम दोनों की गर्दनों के चारों ओर पड़ी है, ज्योंही हमने यह भेद खोला, अपना पूर्व नाम जाना कि उसका फन्दा कस दिया गया। उसी दिन यह अधम देह प्राणों से रहित हो जायगी।"

मैंने यह भेद समझा ही नहीं। मैं अवाक रह गई। पर जो कुछ सुनना था, सभी सुना। मैंने कहा—"मैं अधिकारियों से कहूँगी, क़ानून से लड़ूँगी।" उन्होंने कहा—"सभी तरह मेरे प्राण जायँगे। मेरे प्राण लेकर तुम क्या करोगी ? क्या इसीलिए यहाँ आई हो ?"

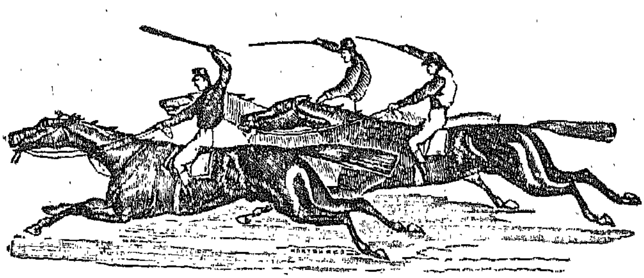
मैं क्या करती ? मैं मूर्च्छित हो गई। उन्होंने धीरे-धीरे कहा—"मेरे पास बहुत धन हो गया है। चाहे जितना ले जाओ। शिशु कुमार को

पढ़ाओ और अपने सधवा होने की बात भूल जाओ। मैं यदि मर सकता तो तभी मरता, जब वीर की तरह मरने का संयोग आया था। अब इस तरह जीने के बाद, ज्यों-ज्यों पाप और कायरता शरीर में घुसती है, त्यों-त्यों मैं मरने से भय खाता हूँ। प्रिये, तुमने बहुत सहन किया है, और भी सहन करो। मुझे तब तक जीने दो, जब तक जी सकता हूँ। ग्लानि और अनुताप को मैं सहन कर गया हूँ। इससे अब ज़्यादा कष्ट और कौन होगा?"

मैंने कहा—"जिस मूल्य में तुम जीवित रहो, वह मैं दूँगी। मैं भयभीत नहीं, शोकाकुल भी नहीं। दस वर्ष पूर्व मैं भीरू स्त्री थी, पर तुम्हारे वियोग और जीवन की कठिनाइयों ने मुझे पुरुष-सा साहसी बना दिया है। अब मैं उन तमाम अतीत स्मृतियों को भूल जाऊँगी, जिसके सहारे जी रही थी। जब तुम जीवन्मृत हो, तो मैं भी जीवन्मृत हुई। वह सब कुछ पिछले जन्म की बातें हुईं। वह गङ्गा का उपकूल, वह जीवन के उल्लासपूर्ण दिवस, उस दिन वन-वीथिका में तुम्हारा खो जाना, वह शिशु कुमार के जन्म से प्रथम का प्यार, उसके जन्मदिन का वह दुर्लभ उपहार—आह! वह सब मेरे पूर्व-जन्म की बातें हैं। मैं उस जन्म में पुत्रवती, सौभाग्य-सिन्दूर की अधिकारिणी, प्रेम और दुलार की पुतली थी। आज उन्हें भूलना भी कठिन और याद रखना भी दुर्लभ! पर भूलूँ तो क्या और याद रक्खूँ तो क्या! जिसे पा नहीं सकती उसकी कल्पना करने से ही क्या लाभ?"

मेरे इस असाधारण साहस का यही फल हुआ। मैंने उन्हें विदा किया, इस जन्म के लिए। मेरा उनका शरीर-सम्बन्ध विच्छेद हुआ। उन्होंने मुझे बहुत-कुछ देना चाहा, पर मैंने स्वीकार न किया। मैंने कहा—"तुमने अपने

सुख के दिनों में जो शिशु कुमार मुझे दिया है, वही मेरे लिए बहुत है। मैं उसी के सहारे अवशिष्ट आयु काट दूँगी। तुम—तुम—जाओ और पाप, छल, पाखण्ड, विश्वासघात में जीवन बिताओ। मेरे जीवन्मृत स्वामी, तुम्हें धिक्कार है! मैं तुम्हारा धन छू नहीं सकती, मैं पसीना बेच कर अपना और शिशु कुमार का पेट भरूँगी।" मैं चली आई।



बावर्चिन

सन् १८४५ की २८ वीं मई के तीसरे पहर एक पालकी चाँदनी चौक में होकर लाल-किले की ओर जा रही थी। पालकी बहुमूल्य कमख़्वाब और ज़री के पर्दों से ढँकी हुई थी। आठ कहार उसे कन्धों पर उठाए थे और १६ तातारी बाँदियाँ नङ्गी तलवार लिए उसके गिर्द चल रही थीं। उनके पीछे ४० सवारों का एक दस्ता था, जिसका अफ़सर एक कुम्मेत अरबी घोड़े पर चढ़ा हुआ था। उसकी ज़रबफ़्त की बहुमूल्य पोशाक पर कमर में नाज़ुक तलवार लटक रही थी, जिसकी मूँठ पर गङ्गा-जमुनी काम हो रहा था। उसकी काली घनी दाढ़ी के बीच, अङ्गारे की तरह दहकते चेहरे में मशाल की तरह जलती हुई आँखें चमक रही थीं, जिन्हें वह चारों तरफ़ घुमाता

हुआ, अकड़ कर; किन्तु खूब सावधानी से, पालकी के पीछे-पीछे जा रहा था।

भयानक गर्मी से दिल्ली तप रही थी। तब चाँदनी चौक की सड़कें आज की जैसी तारकोल बिछी हुई आईने की तरह चमचमाती न थीं, न मोटरों की पोंपों-पोंपों और सर्राटेबन्द दौड़ थी। चाँदनी चौक की सड़कों पर काफ़ी गर्द-गुब्बार रहता था। हाथी, घोड़े, पालकी और नागौरी बैलों की जोड़ी से ठुमकती हुई बहेलियाँ एक अजब बाँकी अदा से उछला करती थीं।

अब जिस स्थान पर घण्टाघर है, वहाँ तब एक बड़ा सा हौज़ था, जो चाँदनी चौक की नहर से मिल गया था, और जहाँ कम्पनी बाग़ और कमेटी की लाल सङ्गीन इमारत खड़ी है, वहाँ एक बड़ी भारी, किन्तु खस्ता-हाल सराय थी, जिसकी बुर्जियाँ टूट गई थीं और जहाँ अनगिनती खच्चर, टट्टू, बैलगाड़ियाँ, घोड़े और परदेशी बेतरतीबी से पेड़ों के नीचे या बे-मरम्मत कोठरियों में भरे हुए थे।

जिस समय पालकी वहाँ से गुज़र रही थी, उस समय हौज़ पर ख़ासा धोबी-घाट लगा हुआ था। कोई नहा रहा था, कोई साबुन से कपड़े धो रहा था। सराय के टूटे, किन्तु सङ्गीन फाटक पर देशी-विदेशी आदमियों का जमघट लगा था!

पालकी अवश्य ही कहीं दूर से आ रही थी। कहार लोग पसीने से लथपथ हो रहे थे, उनका दम फूल रहा था और वे लड़खड़ा रहे थे। पीछे से अफ़सर तेज़ चलने की ताकीद कर रहा था, मगर ऐसा मालूम होता था, कि अब तेज़ चलना असम्भव है।

कहारों में एक बूढ़ा कहार था, उसका हाल बहुत ही बुरा हो रहा था। कुछ क़दम चलकर वह ठोकर खाकर गिर पड़ा, पालकी रुक गई।

तातारी बाँदियाँ झिझक कर खड़ी हो गईं। अफ़सर ने घोड़ा बढ़ाया! बूढ़ा अभी सम्हला न था। एक चाबुक सपाक से उसकी गर्दन और कनपटी की चमड़ी उधेड़ गया। साथ ही बिजली की कड़क की तरह उसके कान में शब्द पड़े—उठ, उठ, ओ दोज़ख़ के कुत्ते! देर हो रही है।

कहार ने उठने की चेष्टा की, पर उठ न सका। वह गिर गया। गिरते ही दस-बीस, पच्चीस-पचास चाबुक तड़ातड़ पड़े, ख़ून का फ़व्वारा छूटा और कहार का जीवन-प्रदीप बुझ गया!!

लाश को पैर की ठोकर से ढकेल कर अफ़सर ने ख़ूनी आँखें भीड़ पर दौड़ाईं। एक गठीला गौरवर्ण युवक मैले और फटे वस्त्र पहने भीड़ में सब से आगे खड़ा था। मुश्किल से रेखें भीगी होंगी। अफ़सर ने डपट कर उसे पालकी उठाने का हुक्म दिया। युवक आगे बढ़ा। दूसरे ही क्षण सपाक से एक चाबुक उसकी पीठ पर पड़ा और साथ ही ये शब्द—साला, जल्दी!

युवक ने क्रुद्ध स्वर में कहा—जनाब! हुक्म बजा लाता हूँ, मगर ज़बान सम्हाल × × ×

दस-बीस चाबुक खाकर युवक वहीं तड़प कर गिर गया। उसकी नाक और मुँह से ख़ून का फ़व्वारा बह चला। अफ़सर ने और एक आदमी को कन्धा लगाने का हुक्म दिया। क्षण भर में पालकी फिर अपनी राह लगी।

२

चिराग़ जल चुके थे। दीवाने-ख़ास में हज़ारा फ़ानूस की तमाम काफ़ूरी मोमबत्तियाँ जल रही थीं। जमुना की लहरों से धुल कर पूर्वी हवा झरोखों से छन-छन कर आ रही थी। ख़ास-ख़ास दरबारी बादशाह सलामत के तशरीफ़ लाने की इन्तज़ारी में अदब से खड़े थे। सामने एक चौकी पर वही युवक लहूलुहान पड़ा था। अन्तःपूर के झरोखों से परिचारिकाओं के कण्ठ स्वर ने कहा—"होशियार, अदब क़ायदा निगहदार" यह शब्द-स्वर चोबदारों ने दुहराया—'होशियार, अदब क़ायदा निगहदार!" उमराव-मण्डल और मन्त्रि-मण्डल ज़मीन तक सिर झुका कर खड़ा हो गया। सम्पूर्ण दरबार में निस्तब्धता छा गई। धीरे-धीरे वृद्ध सम्राट् बहादुरशाह दो सुन्दरियों के कन्धों का सहारा लिए भीतरी ड्योढ़ी से निकल कर सिंहासन पर आ बैठे। चार बाँदियाँ मोरछल लेकर बगल में आ खड़ी हुईं। चोबदार ने पुकारा—"ज़ल्ले इलाही बरामद कर्द मुजरा अदब से!"

यह सुनते ही एक उमराव सहमा हुआ अपने स्थान से आगे बढ़ा और सम्राट् के सामने जाकर उसने तीन बार झुक कर सलाम किया। चोबदार ने उसके रुतबे और शान के अनुसार कुछ शब्द कह कर सम्राट् का ध्यान उधर आकर्षित किया। इसी प्रकार सभी सरदारों ने प्रणाम किया।

इसके बाद बादशाह ने वज़ीर को सङ्केत किया। वज़ीर ने जवान से कहा—जवान! तुम्हारे हालात बादशाह सलामत गोकि सुन चुके हैं, मगर तुम्हारी खास ज़बान से सुनना चाहते हैं। तमाम हालात मुफ़स्सिल में बयान करो।

युवक ने ज़मीन में लोट-लोट कर सब मामला बयान किया। बादशाह ने फ़र्माया—सब हरूफ़-बहरूफ़ सही है। कहाँ है वह ज़ालिम ज़मीर ?

वही खूँख्वार अफ़सर ज़मीर तख्त के सामने आकर घुटनों के बल गिर गया।

बादशाह ने फ़र्माया—ज़मीर! तुझे कुछ कहना है ?

"खुदावन्द! रहम! रहम!"

बादशाह ने हुक्म दिया—इस ज़ालिम को सीधा खड़ा करो। मगर ठहरो, मैं इस पर भी रहम किया चाहता हूँ। इसे नौकरी से बरखास्त किया जाता है और इसका दर्जा इस नौजवान को अता किया जाता है। इसकी तमाम जायदाद ज़ब्त की जाती है और वह उस कहार के घर वालों को बख्श दी जाती है।

हुक्म देकर बादशाह उठे। तुरन्त चार बाँदियों ने सहारा दिया। दरबारी लोग ज़मीन तक झुक गए। बादशाह ने युवक के निकट आकर कहा—आराम होने तक शाही महलों में रहने की तुम्हें इजाज़त बख्शी जाती है और शाही हकीम तुम्हारे मालजे को मुकर्रर किए जाते हैं।

युवक ने बादशाह की क़दमबोसी की और पल्ला चूमा। बादशाह धीरे-धीरे अन्तःपुर में प्रवेश कर गए।

३

अन्तःपुर के उन झरोखों के भीतर, जहाँ किसी भी मर्द की परछाईं पहुँचनी सम्भव न थी, एक बहुमूल्य मखमली गद्दे पर वह घायल युवक पड़ा अपने प्रारब्ध के विकास की बात सोच रहा था। एक ही दुखदाई घटना ने, जिसे शायद ही कोई निमन्त्रित करे, उसके भाग्य का पाँसा

पलट दिया था। वह सोच रहा था, क्या सचमुच मेरे ये फटे चिथड़े, वह टूटा छप्पर का घर, वह माता का चक्की पीसना, सभी बदल जायगा। वह जागते ही जागते स्वप्न देखने लगा—एक धवल अट्टालिका, दास-दासी, घोड़े-हाथी, सेना और न जाने क्या-क्या?

सभी विचार-धाराओं के ऊपर उसे एक नवीन विचार-धारा मूर्च्छित कर रही थी—वह कौन है? वही क्या इस सब भाग्य-परिवर्त्तन की कुञ्जी नहीं? पालकी के उस दुर्भेद्य पर्दे के भीतर × × ×! वह सोच में मूर्च्छित हो गया।

हठात् उसकी विचार-धारा को धक्का देते हुए कक्ष का पर्दा हटा कर दो दासियों के साथ एक खोजे ने प्रवेश किया। दासियों के हाथ में भोजन की सामाग्री थी। स्वप्न-सुख की तरह कहीं वह राजभोग लुप्त न हो जाय, घायल युवक इस भय से लपक कर उठा। खोजे ने कहा—खाना खा लो और खुदा का शुक्र करो। हुज़ूर शाहज़ादी तुम पर बहुत खुश हैं और वे जल्द तुम्हें देखने को तशरीफ़ लाने वाली हैं।

चन्द्रमा की स्निग्ध ज्योत्स्ना की तरह शाहज़ादी ने कक्ष में प्रवेश किया। दो अल्प-वयस्का दासियाँ परछाईं की तरह उनके पीछे थीं। शुभ्र, महीन रेशमी परिधान पर ज़रदोज़ी और सलमे का बारीक काम निहायत फ़साहत से हो रहा था। वह अस्फुटित कुन्दकली के समान, कोमलता और माधुर्य की मूर्त्तिमती रेखा के समान, समस्त भारत के सम्राट् की पौत्री शाहज़ादी गुलबानू थी।

केवल क्षण भर ही वह युवक उस अति दुर्लभ मुख की ओर देखने का साहस कर सका। उसने उठने की चेष्टा की, परन्तु मानो उसके शरीर का

सत निकल गया था। वह गिर पड़ा, गिरे ही गिरे उसने ज़रा बढ़कर अपना मस्तक शाहज़ादी के क़दमों पर रख दिया। शाहज़ादी के जूतों में लगे हीरे युवक के मस्तक पर मुकुट की तरह दिप उठे।

शाहज़ादी ने मानो फूल बखेर दिए। उसने कहा—कल के हादिसे का मुझे बहुत रंज है, पर मैं समझती हूँ, अब तुम बहुत अच्छे हो। मैंने पालकी से तमाम माजरा देखा था, मगर कर क्या सकती थी? मैंने दादाजान से आते ही शिकायत कर दी थी।

युवक ने ज़रा ऊँचा उठ कर शाहज़ादी का आँचल आँखों से लगाया, और बारम्बार ज़मीन चूम कर कहा—हुज़ूर, ख़ुदावन्दे शाहज़ादी, कल अगर हुज़ूर की पालकी की ख़ाक न नसीब होती तो आज यह दिन कहाँ? जहाँ-पनाह ने इस नाचीज़ ग़ुलाम को निहाल कर दिया है। ताबेदार ताउम्र इन क़दमों का नमक-हलाल रहेगा।

शाहज़ादी कुछ न कह कर धीरे-धीरे चली गई, परन्तु उसके साँस की सुगन्ध वहाँ भर गई थी, और उसी के प्रभाव से युवक के घाव भर गए थे। वह उस स्थान को, जहाँ शाहज़ादी के कमल-पद छू गए थे, अपनी छाती से लगाकर बदहवास पड़ रहा। वह मूर्त्ति चाहे क्षण भर ही वह देख सका था, पर वह उसके रोम-रोम में रम गई थी। पर दुनियाँ के पर्दे में कौन सा ऐसा मर्द-बच्चा था, जो फिर उसे एक बार देख लेने का हौसला भी कर सकता?

४

१२ साल बीत गए। सन् ५७ की २४ वीं मई थी। ग़दर की आग धू-धू करके जल रही थी। चिनगारियाँ आसमान को छू चुकी थीं। निकल्सन

ने दिल्ली पर घेरा डाल रक्खा था। भाग्य की रेखा के बल पर बूढ़े और लाचार बादशाह बहादुरशाह ने बाग़ियों का साथ दिया था। क्षण-क्षण में बाग़ी हार रहे थे। अङ्गरेज़ी तोपें काश्मीरी दरवाज़े पर गरज रही थीं। लाहौरी दरवाज़ा सर हो चुका था। फ़तहपुरी मस्जिद के सामने अङ्गरेज़ी घुड़सवार और बाग़ियों की लाल होली खेली जा रही थी। लाशों के ढेर में से अधमरे सिपाही चिल्ला रहे थे। अङ्गरेज़ बराबर बढ़ते और जो मिलता उसे सङ्गीनों से छेदते चले आ रहे थे। करनल वाट्सन के हाथ में कमान थी। इनके साथ थे एक सम्भ्रान्त मुसलमान अमीर, जनाब इलाही-बख़्श। वे एक अरबी नफ़ीस घोड़े पर पान चबाते इतराते बढ़ रहे थे, लोग देख-देखकर भयभीत होकर घरों में छिप रहे थे।

यह इलाहीबख़्श वही घायल युवक थे, जो अपनी जवाँमर्दी और चतुराई से १० वर्ष में बादशाह के अमीर और नगर के प्रतिष्ठित तथा प्रभावशाली व्यक्ति बन गए थे। अङ्गरेज़ों ने दमदार मुग़लों को जहाँ तोपों और सङ्गीनों की नोक से वश में किया था, वहाँ कुछ नमकहराम, सङ्गदिल लोगों को अपनी भेद-नीति और सोने के टुकड़ों से वश में कर लिया था। इलाही-बख़्श भी उनमें से एक थे। १० वर्ष पहले शाहज़ादी के क़दमों पर गिर कर नमकहलाली की जो बात उन्होंने कही थी, वह अब उन्होंने दरगुज़र कर दी थी। वे अब अङ्गरेज़ों के भेदिए थे।

दोनों व्यक्ति सराय के सामने जाकर ठहर गए। हौज़ के पास, जहाँ अब घण्टाघर है, बराबर-बराबर फाँसियाँ गड़ी थीं और क्षण-क्षण में चारों तरफ़ गली-कूचों से आदमी पकड़े जाकर फाँसी पर चढ़ाए जा रहे थे। कुछ

खास क़ैदी इनकी प्रतीक्षा में बँधे बैठे थे। हडसन साहब ने सब को खड़ा होने का हुक्म दिया। इलाहीबख़्श ने उन में से मुग़ल-सरदारों और राज-परिवार वालों की शनाख़्त की; वे सब फाँसी पर लटका दिए गए। इसके बाद, बादशाह क़िले से भाग गए हैं—यह सुनकर एक फ़ौज की टुकड़ी लेकर दोनों तीर की तरह रवाना हुए।

५

बादशाह सलामत जल्दी-जल्दी नमाज़ पढ़ रहे थे। उनके हाथ काँप रहे थे और आँखों से आँसुओं की धार बह रही थी। शाहज़ादी गुलबानू ने आकर कहा—बाबाजान ! यह आप क्या कर रहे हैं ?

"बेटी अब और कर ही क्या सकता हूँ ? ख़ुदा से दुआ माँगता हूँ, कहता हूँ—"ऐ दुनियाँ के मालिक ! मेरी मुश्किल आसान कर; यह तख़्त, तैमूर के ख़ून का तख़्त तो आज गया ही, मेरे बच्चों की जान और आबरू पर रहम बख़्श !"

गुलबानू ने कहा—बाबा ! दुश्मन क़िले तक पहुँच चुके हैं। आपके लिए सवारी तैयार है, भागिए !

बादशाह ने अन्धे की तरह शाहज़ादी का हाथ पकड़ कर कहा—भागूँ कहाँ ? हाय ! वह घड़ी अब आ ही गई ?

इसके बाद उन्होंने अपनी जड़ाऊ सन्दूक़ची मँगाई, और परिवार के सब लोगों को बुलाकर एक-एक मुट्ठी हीरे सबको देकर कहा—ख़ुदा हाफ़िज़ !

क़िले से निकल कर बादशाह सीधे निज़ामुद्दीन गए। उस वक़्त उनके मुख-मण्डल की आभा उतरी हुई थी। कुछ ख़ास-ख़ास ख़्वाजासरा, कहार और इने-गिने शुभ-चिन्तकों के सिवा और कोई साथ न था। चिन्ता और

भय से वे रह-रह कर काँप रहे थे। उनकी सफ़ेद दाढ़ी धूल से भर रही थी। बादशाह चुपचाप जाकर सीढ़ियों पर बैठ गए।

ग़ुलामहुसेन चिश्ती सुनकर दौड़े आए। बादशाह उन्हें देखते ही खिल-खिलाकर हँस पड़े। चिश्ती साहब ने पूछा—ख़ैर तो है?

"ख़ैर ही है, मैंने तुमसे पहले ही कह दिया था कि ये बदनसीब ग़दर वाले मनमानी करने वाले हैं। इन पर यक़ीन करना बेवक़ूफ़ी है; ये ख़ुद डूबेंगे और हमें भी डुबावेंगे। वही हुआ, भाग निकले। मुझे तो होनहार दिखाई दे गई थी कि मैं मुग़लों का आख़िरी चिराग़ हूँ। मुग़लों के तख़्त का आख़िरी साँस टूट रहा है, कोई घड़ी भर का मिहमान है। फिर ख़ून-ख़राबी क्यों करूँ? इसीलिए क़िला छोड़ कर कर चला आया। मुल्क ख़ुदा का है, जिसे चाहे दे, जिसे चाहे ले। सैकड़ों साल तक हमारे नाम का सिक्का चला। अब हवा का रुख़ कुछ और ही है। वे हुकूमत करेंगे, ताज पहनेंगे। इसमें अफ़सोस क्यों? हमने भी तो दूसरों को मिटा कर अपना घर बसाया था। हाँ, आज तीन दिन से खाना नसीब नहीं हुआ है। कुछ हो तो ले आओ?"

चिश्ती साहब ने कहा—सिर्फ़ बाजरे की रोटी और सिरके की चटनी है। हुक्म हो तो हाज़िर करूँ।

"वही ले आओ।"

बादशाह ने शान्तिपूर्वक एक रोटी खा और पानी पीकर कहा—बस, अब हुमायूँ के मक़बरे में चला जाऊँगा, वहाँ जो भाग्य में होगा, वह होगा।

हुमायूँ के मक़बरे में हडसन और इलाहीबख़्श ने आकर बादशाह को गिरफ़्तार करके रङ्गून भेज दिया।

६

तीन वर्ष व्यतीत हो गए। दिल्ली में अङ्गरेज़ी अमल जम कर बैठ गया था। लाल क़िले पर यूनियन जैक फहरा रहा था। फाँसियों की विभीषिकाओं ने नगर और ग्राम की जनता के मन में दहल उत्पन्न कर दी थी। वे दब्बू भेड़ की तरह चुपचाप अङ्गरेज़ों के विधान को अटल प्रारब्ध की तरह देख और सह रहे थे। इलाहीबख्श के पास बादशाही बख़्शीश ही बहुत थी, अब अङ्गरेज़ी जागीरों और मेहरबानियों ने उन्हें आधी दिल्ली का मालिक बना दिया था। सरकारी नीलामों में मुहल्ले के मुहल्ले उन्होंने कौड़ियों में पाए थे। उनकी बड़ी भारी अट्टालिका खड़ी मनुष्य के भाग्य पर हँस रही थी। सन्ध्या का समय था। अपनी हवेली के विशाल प्राङ्गण में तख़्त के ऊपर बढ़िया ईरानी क़ालीन पर मसनद के सहारे इलाहीबख़्श बैठे अम्बरी तम्बाखू पी रहे थे। दो-चार मुसाहिब सामने अदब से बैठे जी-हुज़ूरी कर रहे थे। मियाँ जी को, मालूम होता है, बचपन के दिन भूल गए थे। वे बहुत बढ़िया अतलस के अँगरखे पर कमख़ाब की नीमास्तीन पहने थे।

धीरे-धीरे अन्धकार के पर्दे को चीरती हुई एक मूर्ति अग्रसर हुई। लोगों ने देखा, एक स्त्री-मूर्ति मैला और फटा हुआ बुर्क़ा पहने आ रही है। लोगों ने रोका, मगर उसने सुना नहीं। वह चुपचाप मियाँ इलहीबख़्श के सन्मुख आ खड़ी हुई।

मियाँ ने पूछा—क्या चाहती हो ?

"पनाह"

"कौन हो ?"

"आफ़त की मारी !"

"अकेली हो ?"

"बिल्कुल अकेली !"

"कुछ काम करना जानती हो ?"

"बावर्ची का काम सीख लिया है !"

"तनख़ाह क्या लोगी ?"

"एक टुकड़ा रोटी !"

बहुत महीन, दर्द-भरी, कम्पित आवाज़ में इन जवाबों को सुनकर मियाँ इलाहीबख़्श सोच में पड़ गए। थोड़ी देर बाद उन्होंने नौकर को बुलाकर उस स्त्री को भीतर भिजवा दिया। उस दिन उसी को खाना बनाने का हुक्म हुआ।

मियाँ इलाहीबख़्श दस्तरख़्वाब पर बैठे। दोस्त अहबाबों का पूरा जमघट था। तब तक दिल्ली में बिजली के तारों से नहीं बाँधी गई थी। सुगन्धित मोमबत्तियाँ शमादानों में जल रही थीं।

खाना खाने से सभी ख़ुश हुए। नई बावर्चिन की तारीफ़ के पुल बाँधने लगे। दोस्तों ने कहा—ज़रूर उसे बुलाइए और इनाम दीजिए।

इलाहीबख़्श ने बावर्चिन को बुला भेजा। उसने कहा—आक़ा से दस्त-बदस्ता अर्ज़ है कि मैं ग़ैर-मर्दों के सामने बेपर्दा नहीं हो सकती। हाँ, आक़ा से पर्दा फ़िज़ूल है। दोस्त लोग मन मार कर रह गए। मगर इलाहीबख़्श के मन में प्रति क्षण बावर्चिन को देखने की बेचैनी बढ़ चली।

एकान्त होने पर उन्होंने उसे बुला भेजा। बावर्चिन ने जवाब दिया—मेरे मिहरबान मालिक! सफ़र, मिहनत और भूख से बेदम तथा कपड़ों से ग़लीज़ हूँ—खिदमत में हाज़िर होने के क़ाबिल नहीं।

इलाहीबख़्श स्वयं भीतर गए और बावर्चिन के सामने जा खड़े हुए। बोले—क्या मैं तुम्हारी मुसीबत का दास्तान सुन सकता हूँ? यह तो मैं समझ गया, कि तुम शरीफ़ ख़ानदान की दुखियारी हो!

बावर्चिन ने अच्छी तरह अपना बुर्क़ा ओढ़ कर कहा—मालिक! मेरी कोई दास्तान ही नहीं!

"क्या मुझ से पर्दा रक्खोगी?"

"यह मुमकिन नहीं है!"

"तब?"

"क्या आप मुझे देखना चाहते हैं?"

"ज़रूर, ज़रूर!"

वह मैला और फटा बुर्क़ा चम्पे की समान उँगलियों ने हटाकर नीचे गिरा दिया। एक पीली, किन्तु अभूतपूर्व मूर्त्ति, जिसके नेत्रों में पानी और होठों में रस था, सामने दीख पड़ी।

इलाहीबख़्श ने आँखों की धुन्ध आँखों से पोछ कर, ज़रा आगे बढ़कर कहा—तुम्हें, आपको मैंने कहीं देखा है?

"जी हाँ मेरे आक़ा! मेरे दादाजान की मिहरबानी से, लाल क़िले के भीतर, जब आप मेरी डोली में लगाए जाने के लिए चाबुकों से लहू-लुहान किए गए थे, तब यह बदनसीब गुलबानू आपको तसल्ली देने तथा और

भी कुछ देने आपकी ख़िदमत में आई थी। उम्मीद थी, मर्द औरत की अमानत—ख़ासकर वह अमानत, जो दुनिया की चीज़ नहीं, जिसके दाम जान और क़ुर्बानी हैं, सम्हाल कर रक्खेंगे। पर पीछे यह जानने का कोई ज़रिया ही न रहा, कि हुज़ूर ने वह अमानत किस हिफ़ाज़त से कहाँ छिपा कर रक्खी? ग़दर में वह रही या मेरे बाबाजान के तख़्त के साथ वह भी गई?

इलाहीबख़्श का मुँह काला पड़ गया। बदहवासी की हालत में उनके मुँह से निकल पड़ा—आप शाहज़ादी गुलबानू × × ×?

गुलबानू ने शान्त स्वर में कहा—वही हूँ जनाब! मगर डरिए गा नहीं! अगर ग़दर में मेरी अमानत लुट भी गई होगी, तो वह माँगने जनाब की ख़िदमत में नहीं आई हूँ। अब गुलबानू शाहजादी नहीं, हुज़ूर की कनीज़ है—महज़ बावर्चिन है! मेरे आक़ा, क्या बाँदी के हाथ का खाना पसन्द आया? क्या बदनसीब गुलबानू की नौकरी बहाल रह सकेगी?

इलाहीबख़्श बेहोश होने लगे। वे सिर पकड़ कर वहीं बैठ गए। गुलबानू ने पङ्खा लेकर झलते हुए कहा—जनाब के दुश्मनों की तबीयत नासाज़ तो नहीं, क्या किसी को बुलाऊँ?

इलाहीबख़्श—ज़मीन पर गिर कर शाहज़ादी का पल्ला चूम कर बोले—शाहज़ादी, माफ़ करना! मैं नमकहराम हूँ।

"मैं जानती हूँ। मगर हुज़ूर, यह तो बहुत छोटा क़सूर है! क्या हुज़ूर यह नहीं जानते कि औरतें दिल और मुहब्बत को सल्तनत से बहुत बड़ी चीज़ें समझती हैं? क्या आप यक़ीन करेंगे कि १२ साल में आपकी उस ज़मीन में घायल तड़पती, सूरत को आँखों में बसा कर जीती

रही। जो कुछ बन सका, बाबाजान से कह कर किया। मैं जानती थी कि मिल न सकूँगी, मगर आपको दुनिया में एक रुतबा देने की हवस थी—वह पूरी हुई।

इलाहीबख़्श पागल की तरह मुँह फाड़ कर सुन रहे थे।

शाहज़ादी ने कहा—जब बाबाजान ने आपकी दग़ा और अङ्गरेज़ों से आपके मिल जाने का हाल कहा, तो दिल टूट गया। मगर उस दिन से अब काम ही क्या? वह टूटे या साबूत रहे, आख़िर अनहोनी तो हो ही गई—एक बार फिर मुलाक़ात होगई। ज़हे क़िस्मत!

इलाहीबख़्श भागे। वे चुपचाप घर से निकले। नौकर-चाकर देख रहे थे। उसके बाद किसी ने फिर उन्हें नहीं देखा।



अम्बपालिका

मुज़फ़्फ़रपुर से पश्चिम ओर जो पक्की सड़क जाती है, उस पर मुज़फ़्फ़रपुर से लगभग १८-२० मील पर 'बैसौढ़' नामक एक बिलकुल छोटा सा गाँव है, जिसमें ३०-४० घर भूमिहार ब्राह्मणों के और कुछ घर क्षत्रियों के बच रहे हैं। इस गाँव के चारों ओर कोसों तक खण्डहर, टीले और पुरानी टूटी-फूटी मूर्तियाँ ढेर की ढेर मिलती हैं, जो इस बात की स्मृति दिलाती हैं कि यहाँ कभी कोई बड़ा भारी समृद्धिशाली नगर बसा रहा होगा।

वास्तव में अब से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व, यहाँ एक विशाल नगर बसा था, जिसका नाम वैशाली था, और जो प्रबल प्रतापी लिच्छविगण तन्त्र के शासन में था।

वैशाली लिच्छविगण तन्त्र की एक प्रधान नगरी और रियासत थी। नगर व्यापारियों, जौहरियों शिल्पकारों और भिन्न-भिन्न प्रकार के देश-विदेश के यात्रियों से परिपूर्ण था। 'श्रेष्ठि चत्वर' नगर का प्रधान बाज़ार था, जहाँ जौहरियों और बड़े-बड़े व्यापारियों की कोठियाँ थीं और जिनकी व्यापारिक शाखाएँ समस्त उत्तर भारत में फैली हुई थीं। दुकानदार स्वच्छ परिधान धारण किए पान कुचरते हँस-हँस कर ग्राहकों से बात करते; जौहरी, पन्ना, लाल, मूँगा, मोती, पुखराज, हीरा और अन्य रत्नों की परीक्षा तथा लेन-देन में व्यस्त रहते थे। निपुण कारीगर अनगढ़ रत्नों को सान चढ़ाते, स्वर्ण-आभरणों में रङ्गीन रत्न जड़ते और मोती गूँथते थे। गन्धी लोग केसर के थैले हिलाते थे। चन्दन के तेलों में भिन्न-भिन्न सुगन्ध मिला कर इत्र बनाए जाते और नागरिक उनका खुला उपयोग करते थे। रेशम और बहुमूल्य महीन मलमल के व्यापारियों की दुकानों पर बग़दाद और फ़ारस के व्यापारी लम्बे-लम्बे लबादे पहने, भीड़ की भीड़ पड़े रहते थे। नगर की गलियाँ सकरी और तङ्ग थीं और उनमें गगन-चुम्बी अट्टालिकाएँ खड़ी थीं, जिनके अँधेरे तहखानों में इन धन-कुबेरों का बड़ा भारी कोष और द्रव्य रक्खा रहता था।

सन्ध्या-समय सुन्दर श्वेत बैलों के रथों पर, जिन पर बढ़िया सुनहरा काम हुआ रहता था, नागरिक सैर करने राजपथ पर निकलते थे। इधर-उधर हाथी झूमते हुए बढ़ा करते थे और उन पर उनके अधिपति रत्नाभरणों से सज्जित अपने दासों तथा शरीर-रक्षकों से घिरे हुए चला करते थे।

२

अभी दिन निकलने में देर थी। पूर्व की ओर प्रकाश की आभा दिखाई पड़ रही थी, पर मार्ग में अँधेरा था। राजमहल के तोरण पर अभी तक प्रकाश जल रहा था। चारों ओर प्रतिहार पड़े सो रहे थे। उनमें से केवल एक भाला टेक कर खड़ा नींद में झूम रहा था। तोरण के इधर-उधर कई कुत्ते पड़े सो रहे थे।

धीरे-धीरे दिन का प्रकाश फैलने लगा। राजवर्गी इधर से उधर आने-जाने लगे। प्रतिहार रक्षी सेना का एक नवीन दल तोरण पर आ पहुँचा। उसमें से एक दण्डधर ने आगे बढ़ कर भाले के सहारे खड़े-खड़े ऊँघते मनुष्य को पुकार कर कहा—महानामन! सावधान होओ और घर जाकर विश्राम करो। महानामन ने सजग होकर अपने दीर्घकाय को और भी विस्तार करके एक ज़ोर की अँगड़ाई ली और यह कह कर कि—तुम्हारा कल्याण हो, वह अपना भाला धरती पर टेकता हुआ तीसरे तोरण की ओर बढ़ गया। पश्चिम की ओर पुराना प्रासाद और राजमहल का उपवन था, जिसकी देख-रेख महानामन के सुपुर्द थी। यहीं उसकी छोटी सी कुटिया थी, जहाँ वह अपनी प्रौढ़ा पत्नी के साथ १७ वर्ष से एकरास—आँधी-पानी, सर्दी-गर्मी में रहता था।

वह नींद में झूमता हुआ ऊँघ रहा था। अब भी प्रभात का प्रकाश धुँधला था। उसने अपनी कुटी के पास एक कदली वृक्ष के नीचे, आम्रकुञ्ज में एक श्वेत वस्तु पड़ी रहने का भान किया। निकट जाकर देखा, नवजात शिशु स्वच्छ वस्त्रों में लिपटा अपना अँगूठा चूस रहा है। आश्चर्य-चकित

होकर महानामन ने शिशु को उठा लिया। देखा, कन्या है। उसने अपनी स्त्री को पुकार कर उसे वह कन्या देकर कहा—देखो, आज इस प्रकार अपने जीवन की पुरानी साध मिटी।

वह कन्या—उस दरिद्र लिच्छवि, महानामन के उस दरिद्रावास में शशिकला की भाँति बढ़ने लगी। उसका नाम रक्खा गया अम्बपालिका।

३

वैशाली से उत्तर-पश्चिम २५ कोस पर, एक छोटे से गाँव में, एक किनारे पर एक साधरण घर था। उसके द्वार पर एक वृद्ध प्रातःकाल बैठा दातून कर रहा था। पूर्व के द्वार पर से पैर की आहट सुन कर उसने पीछे को देखा, एक चम्पक-पुष्प की कली के समान ११ वर्षीय बालिका—अति सुन्दरी बालिका, जिसके घुँघराले बाल लहलहा रहे थे, दौड़ती-दौड़ती बाहर आई, और वृद्ध को देख उससे लिपटने को लपकी, पर पैर फिसलने से गिर गई। वह गिर कर रोने लगी। वृद्ध ने दातून फेंक, दौड़ कर बालिका को उठाया, उसकी धूल झाड़ी; बालिक ने रोना रोक कर कहा—बाबा, घर में आटा बिलकुल नहीं है, हम लोग क्या खायँगे? वृद्ध ने उसे गोद में उठाते हुए कहा—'कुछ चिन्ता नहीं, मैं अभी गेहूँ पिसवाने की व्यवस्था करता हूँ।' बालिका ने कहा—'गेहूँ का भी तो एक दाना नहीं है?' वृद्ध क्षण भर अवाक् रहा। उसने कहा—'तब ठहर, मैं अभी शिकार मार लाता हूँ।' बालिका ने रोक कर कहा—'नहीं-नहीं, मैं पक्षी का मांस नहीं खाऊँगी।'

वृद्ध महानामन लिच्छवि था और कन्या थी अम्बपालिका। वृद्ध की पत्नी का स्वर्गवास हुए ८ साल व्यतीत हो गए थे। उसके बाद कन्या की

परिचर्या में बाधा पड़ती देख, महानामन ने राज-सेवा छोड़ कर अपने ग्राम में आकर बालिका की सेवा-शुश्रूषा अबाधरूप से करने का निश्चय कर लिया था। वह गत ८ वर्षों से इसी गाँव में रहता। अम्बपालिका को उसने इस तरह पाला, जैसे पक्षी चुग्गा दे-देकर अपने शिशु-पक्षी को पालता है। परन्तु खेद है, धीरे-धीरे उसकी छोटी सी कमाई की क्षुद्र पूँजी, यत्न से खर्च करने पर भी समाप्त हो ही गई। और फिर धीरे-धीरे पत्नी के स्मृति-रूप दो-चार क्षुद्र आभूषण भी उदर-गुहा में पहुँच चुके। अब आज क्या किया जाय ? अब तो आटा भी नहीं, एक दाना गेहूँ भी नहीं। वृद्ध की प्राणों की पुतली, इस प्रश्न पर चिन्तित हो रही है। यह और भी कष्ट का प्रश्न था। पर वृद्ध ने हँस कर कहा—"अच्छा, अच्छा, मैं अभी गेहूँ लिए आता हूँ।" इतना कह कर वृद्ध ने बालिका के तड़ातड़ ३-४ चुम्बन लिए और उसे गोद से उतारते-उतारते दो बूँद आँसू गिरा दिए। बालिका भीतर गई और वृद्ध चिन्ता-मग्न बैठ गया। अन्ततः उसने एक बार फिर महाराज की सेवा में उपस्थित होकर पुरानी नौकरी की याचना करने का निश्चय किया। उसके बाहु का पौरूष तो थक चुका था। परन्तु क्या किया जाय, कन्या का विचार सर्वोपरि था। फिर भी वृद्ध के अति गम्भीर होने का यही मात्र कारण न था। लाख वृद्ध होने पर भी उसकी भुजा में बल था—बहुत था। पर उसकी चिन्ता थी—बालिका का अप्रतिभ सौन्दर्य। सहस्राधिक बालिकाएँ भी क्या उस पारिजात-कुसुम तुल्य कुन्द-कलिका के समान थीं ? किस पुष्प में उतनी गन्ध, कोमलता और सौन्दर्य था ? उसे भय था कि राज नियमानुसार वह विवाह से वञ्चित करके कहीं नगर-वेश्या न बना दी जाय; क्योंकि लिच्छविगण तन्त्र में यह कानून था कि राज्य की जो कन्या अत्याधिक

सुन्दरी होती थी, उसे किसी एक पुरुष की पत्नी न होने दिया जाकर, नागरिकों के लिए सुरक्षित रक्खा जाया करता था। वास्तव में इसी भय से महानामन राजधानी छोड़ कर भागा था, जिससे किसी की दृष्टि उस बालिका पर न पड़े। पर अब उपाय न था। महानामन ने राजधानी में एक बार जाने का निश्चय किया!

४

वैशाली की ओर जाने वाली सड़क पर वर्षा के कारण बड़ी कीचड़ हो रही थी। कहीं-कहीं तो नालों का पानी कच्ची सड़क को तोड़ कर, सड़क पर, नदी की तरह बह रहा था। अभी वर्षा हो चुकी थी। वृद्ध और उसकी पुत्री दोनों भीग गए थे, पर धीरे धीरे बढ़े चले जा रहे थे। हवा बन्द थी, गर्मी बढ़ गई थी और दूरस्थ पर्वतों की चोटियों में अस्त होते हुए सूर्य को देख-देख कर वृद्ध डर रहा था। निकट किसी बस्ती के चिन्ह न थे। यदि यहीं चौपट में अँधेरा हो गया तो कहाँ रात कटेगी, बच्ची खायगी क्या, यही वृद्ध के भय का कारण था। वह लाठी टेकता टेकता धीरे धीरे आगे बढ़ रहा था। वह स्वयं बहुत थक गया था और बालिका तो क्षण क्षण में विश्राम की इच्छा प्रकट कर रही थी। बालिका ने कहा—पिता! अब मैं नहीं चल सकती, मेरे पैरों में देखो, लोहू बह रहा है, वे फट गए हैं। वृद्ध ने स्नेह से उसे चुमकार कर कहा—बस अब थोड़ी दूर और; निकट ही कहीं गाँव या बस्ती मिलने पर ठहरने में सुभीता रहेगा। पर बालिका और कुछ पग चल कर मार्ग ही में एक ऊँची जगह पर बैठ गई। वृद्ध भी निरुपाय हो, पास ही बैठ गया! अन्धकार ने चारों ओर से उन्हें घेर लिया।

सहसा बालिका ने चौंक कर कहा—पिता जी, देखो घोड़ों की टाप का शब्द सुनाई दे रहा है! बुड्ढे ने उठ कर दूर तक दृष्टि करके देखा। सड़क के निकट एक घना सेमल का वृक्ष था, जिसके नीचे घोर अन्धकार था। वृद्ध कन्या का हाथ पकड़, वहीं जा छिपा। आकश में अब भी बादल घिर रहे थे और फिर ज़ोर की वर्षा होने के रङ्ग-ढङ्ग दीख पड़ते थे। बीच-बीच में बिजली भी चमक जाती थी। थोड़ी देर बाद बहुत से सवार वहाँ तक आ पहुँचे। वर्षा भी शुरू हो गई। सवारों ने निश्चय किया कि उस वृक्ष के नीचे आश्रय लें।

वृद्ध भय से बालिका को छाती में छिपाए वृक्ष की जड़ में चिपक कर बैठ गया। सहसा बिजली की चमक में अश्वारोहियों ने वृक्ष के निकट मनुष्य मूर्ति देख कर कहा—अरे! वृक्ष के निकट यह कौन है? वृद्ध वहाँ से हट कर चुपचाप खेत में जाने लगा। तत्क्षण एक बर्छा आकर उसकी छाती को विदीर्ण कर गया। वृद्ध एक चीत्कार कर के धरती पर गिर गया। बालिका ज़ोर से चिल्ला उठी।

अश्वारोही दल ने निकट जाकर देखा—मृत पुरुष वृद्ध और निरस्त्र है। पर कन्या को देखते ही बर्छा फेंकने वाले सवार ने कहा—वाह! बुड्ढे को मार कर रत्न मिला! इसमें किसी का साझा नहीं है?

बालिका भय और शोक से चिल्ला उठी। अश्वारोही ने उसकी परवा न कर, उसे उठा कर घोड़े पर रख लिया और वे आगे बढ़े।

५

वैभवशालिनी वैशाली का जो 'श्रेष्ठि चत्वर' नामक बाज़ार था, उसके उत्तर कोण पर एक विशाल प्रासाद, जिसके गुम्बजों का प्रकाश रात्रि को

गङ्गा पार से भी दीखता था। बाहर का सिंहद्वार विशाल पत्थरों का बनाया गया था, जिसे उठाना और जोड़ना दैत्यों का ही काम हो सकता था। इन पत्थरों पर स्वपत्यकला और शिल्प की सूक्ष्म बुद्धि खर्च की गई थी। ड्योढ़ी पर गहरा हरा रङ्ग किया हुआ था और ऊँचे महराबदार फाटक पर फूलों की गुँथी हुई सुन्दर मालाएँ लटक रही थीं। पहले आँगन में प्रवेश करने पर श्वेत अट्टालिकाओं की पंक्ति दीख पड़ती थी। उनकी दीवारों पर काँच की तरह चमकदार श्वेत पलस्तर किया गया था। सीढ़ियों पर भिन्न-भिन्न प्रकार के खुदरङ्ग बहुमूल्य पत्थर लगे थे, और खिड़कियों में बिल्लौर के किवाड़ थे, जिनमें श्रेष्ठि चत्वर की बहार बैठे ही बैठे दीख पड़ती थी। दूसरे आँगन में गाड़ी, बैल, घोड़े, हाथी बँधे थे और महावत उन्हें चावल-घी खिला रहे थे। तीसरे आँगन में अतिथि-शाला तथा आगत जनों के ठहरने का प्रबन्ध था। यहाँ बहुत सुन्दर विशाल पत्थरों के खम्भों पर महराब खड़े हुए थे। चौथे आँगन में नाट्यशाला और गायन-भवन था, पाँचवें आँगन में भिन्न-भिन्न प्रकार के शिल्पकार और जौहरी लोग नाना प्रकार के आभूषण बना और रत्नों को घिस रहे थे। छठवें आँगन में भिन्न-भिन्न देश के पशुपक्षियों का अद्भुत संग्रह था। सातवाँ आँगन बिलकुल श्वेत पत्थर का बना था, और उसमें सुनहरा काम हो रहा था। इसमें दो भीमकाय सिंह स्वर्ण की मेखलाओं से दृढ़तापूर्वक बंधे थे और चाँदी के पात्रों में पानी भरा उनके निकट धरा था। गृह-स्वामिनी अम्बपालिका इसी कक्ष में विराजती थी।

सन्ध्या हो गई थी। परिचारक और परिचारिकाएँ दौड़-धूप कर रही थीं, कोई सुगन्धित जल आँगम में छिड़क रही थी, कोई धूप जला कर भवन

को सुवासित कर रही थी, कोई सहस्र दीप-गुच्छ में सुगन्धित तेल डाल कर प्रकाशित करने में व्यस्त थी। बहुत से माली तोरण अलिन्द को ताज़े पुष्पों गुलदस्ते और मालाओं को सजा रहे थे। अलिन्द में दण्डधर अपने-अपने स्थानों पर भाला टेके स्थिर भाव से खड़े थे। द्वारपाल तोरण पर अपने द्वार-रक्षक दल के साथ सशस्त्र उपस्थित था।

क्षण भर बाद प्रासाद भाँति-भाँति के रङ्गीन प्रकाशों से जगमगा उठा। भाँति-भाँति के रङ्गीन फव्वारे चलने लगे और उन पर प्रकाश का प्रतिविम्ब इन्द्र-धनुष की बहार दिखाने लगा। धीरे-धीरे प्रतिष्ठित नागरिक कोई पालकी में, कोई रथ पर और कोई हाथी पर चढ़ कर प्रथम तोरण पार कर आने लगे। परिचारकगण दौड़-दौड़ कर अतिथियों को सादर उतार कर भीतरी अलिन्द में पहुँचाने तथा उनकी सवारियों की व्यवस्था करने लगे। हाथी घोड़े, रथ, पालकी आदि वाहनों का ताँता लग गया। उनकी भीड़ से बाहर का विशाल प्राङ्गण भर गया।

सातवें तोरण के भीतर श्वेत पत्थर के एक विशाल सभा-भवन में अम्बपालिका नागरिक युवकों की अभ्यर्थना कर रही थी। यह भवन एक टुकड़े के ६४ हरे रङ्ग के पत्थर के खम्भों पर निर्मित हुआ था, और इस पर रङ्गीन रत्नों को जड़ कर फूल-पत्ती, पक्षी तथा बन के दृश्य बनाए गए थे। छत पर स्वर्ण का पत्तर मढ़ा था, जहाँ पर बारीक खुदाई और रङ्गीन मीना का काम हो रहा था। इस विशाल भवन में दुग्ध फेन के समान उज्जवल से वर्ण का अति मुलायम और बहुमूल्य बिछावन बिछा था। थोड़े-थोड़े अन्तर पर बहुत सी वेदियाँ पृथक्-पृथक् बनी थीं, जहाँ कोमल उपादान, मद्य के स्वर्ण-

पात्र और प्यालियाँ, जुआ खेलने के पासे, तथा अन्य विनोद सामग्री, भिन्न-भिन्न प्रकार के ग्रन्थ, बहुमूल्य चित्र तथा अन्य बहुत सी मनोरञ्जन की सामग्री थी।

महा प्रतिहार अलिन्द तक अतिथि-युवकों को लाता, वहाँ से प्रधान परिचारिका उसे कक्ष तक ले आती। कक्ष-द्वार पर स्वयं अम्बपालिका साक्षात् रति के समान आगत जनों का हाथ पकड़ कर स्वागत करती, एक वेदी पर ले जाकर बैठाती, सुगन्ध और पुष्प-मालाओं से सत्कार करती तथा अपने हाथ से मद्य ढाल कर पिलाती थी। उस स्वर्ग-सदन में, उस रूप-यौवन और जीवन के आलोक में, अर्द्ध रात्रि तक नित्य ही माधुर्य और आनन्द का प्रवाह बहता था। सैकड़ों दासियाँ दौड़-धूप करके याचित वस्तु तत्काल जुटा देतीं। फिर कुछ ठहर कर सङ्गीत-लहरी उठती। कोमल तन्तु-वाद्य गम्भीर मृदङ्ग के साथ वैशाली के श्रेष्ठ पुत्रों, राजवर्गियों और कुमारों के हृदयों को ममोस डालता था। वाद्य की ताल पर मोम की पुतली के समान कुमारियाँ मधुर स्वर में स्वर-ताल और मूर्च्छनामय सङ्गीत गान करतीं, और नर्तकियाँ ठुमक कर नाचती थीं। उस स्वप्न सौन्दर्य के दृश्य को युवक सुगन्धित मद्य के घूँट के साथ पीकर अपने जन्म को धन्य मानते थे।

आम्बपालिका अब २० वर्ष की पूर्ण युवती थी। उसका यौवन और सौन्दर्य मध्याकाश में था। और लिच्छविगण तन्म के राजा ही नहीं, मगध, कोशल और विदेश के महाराजा तक उसके लिए सदैव अभिलाषी बने रहते थे। इन सभी महा नृपतियों की ओर से रत्न; वस्त्र, हाथी आदि भेंट में आते रहते थे और अम्बपालिका अपनी कृपा और प्रेम के चिन्ह-स्वरूप कभी-

कभी ताज़े फूलों की एकाध माला तथा कुछ गन्ध द्रव्य उन्हें प्रदान कर दिया करती थी।

विधाता ने मानो उसे स्वर्ण से बनाया था। उसका रङ्ग गोरा ही न था, उस पर सुनहरी प्रभा थी—जैसी चम्पे की अविकसित कली में होती है। उसके शरीर की लचक, अङ्गों की सुडौलता वर्णन से बाहर की बात थी। उस सौन्दर्य में विशेषता यह थी कि समय का अत्याचार भी उस सौन्दर्य को नष्ट न कर सकता था। जैसे मोती का पर्त उतार देने से भीतर से नई आभा, नया पानी दमकने लगता है, उसी प्रकार अम्बपालिका का शरीर प्रति वर्ष निखार पाता था। उसका क़द कुछ लम्बा, देह मांसल और कुच पीन थे। तिस पर उसकी कमर इतनी पतली, कि उसे कटिबन्धन बांधने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती थी। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग चैतन्य थे, मानो प्रकृति ने उन्हें नृत्य करने और आनन्द भोग करने को बनाया था।

उसके नेत्रों में सूक्ष्म लालसा की झलक और दृष्टि में ग़ज़ब की मदिरा भर रही थी। उसका स्वभाव सतेज था। चितवन में दृढ़ता, निर्भीकता, विनोद और स्वेच्छाचारिता साफ़ झलकती थी। उसे देखते ही आमोद-प्रमोद की अभिलाषा प्रत्येक पुरुष के हृदय में उत्पन्न हो जाती थी।

जैसा कहा जा चुका है, उसकी रङ्गत पर एक सुनहरी झलक थी। गाल कोमल और गुलाबी थे। ओठ लाल और उत्फुल्ल थे। मानो कोई पका हुआ रसीला फल चमक रहा हो। उसके दाँत हीरे की तरह स्वच्छ, चमकदार और अनार की पंक्ति की तरह सुडौल, कुच पीन तथा अनीदार थे। नाक पतली, गर्दन हंस-जैसी, कन्धे सुडौल, बाहु मृणाल-जैसी थी। सिर

के बाल काले, लम्बे और घुँघराले तथा रेशम से भी मुलायम थे। आँखें काली और कटीली, उँगलियाँ पतली और मुलायम थीं। उन पर उसके गुलाबी नाखूनों की बड़ी बहार थी। पैर छोटे और सुन्दर थे। जब वह ठसक के साथ उठ कर खड़ी हो जाती तो लोग उसे एकटक देखते ही रह जाते थे। उसकी भुजाओं और देह का पूर्व भाग सदा खुला रहता था।

६

वैशाली में बड़ी भारी बेचैनी फैल गई। अश्वारोही दल के दल नगर के तोरण से होकर नगर से बाहर निकल रहे थे। प्रतिहार लोग और किसी को न बाहर निकलने देते थे और न भीतर घुसने देते थे। तोरण के इधर-उधर बहुत से नागरिक सेना का यह अकस्मात् प्रस्थान देख रहे थे। एक पुरुष ने पूछा—'क्यों भाई, जानते हो यह सेना कहाँ जा रही है?' उसने कहा—'न, यह कोई नहीं जानता।' अश्वारोही दल निकल गया। पीछे कई सेना-नायक धीरे-धीरे परामर्श करते चले गए।

× × ×

क्षण भर में सम्वाद फैल गया। मगध के प्रतापी सम्राट् शिशुनागवंशी बिम्बसार ने वैशाली पर चढ़ाई की। गङ्गा के दक्षिण छोर पर दुर्जय मागध सेना दृष्टि के उस छोर से इस छोर तक फैली हुई थी। इस सेना में १० हज़ार हाथी, ५० हज़ार अश्वारोही और पाँच लाख पैदल थे।

वैशाली के लिच्छविगण तन्त्र का प्रताप भी साधारण न था। गङ्गा के उत्तर कोण पर देखते-देखते सैन्य समूह एकत्रित हो गया। लिच्छवियों के पास ८ हज़ार हाथी, १ लाख अश्वारोही और ६ लाख पैदल थे।

तीन दिन तक दोनों दल आमने-सामने डटे रहे। तीसरे दिन लिच्छवि लोगों ने देखा, उस पार डेरों की संख्या कम हो गई है। निपुण सैनिक सहस्त्रों घाट से पार आने की तैयारी कर रहे हैं, यह समझने में देर न लगी। दोपहर होते-होते मागध सेना गङ्गा पार करने लगी। लिच्छवि-सेना चुपचाप खड़ी रही। ज्योंही कुछ सेना ने भूमि पर पैर रक्खा त्योंही वैशाली की सेना जय-जयकार करते बढ़ चली, मानों सहस्त्र उल्कापात हुए हों। मेघ-सङ्घर्षण की तरह घोर गर्जना करके दोनो सेनाएँ भिड़ गईं। मागध सेना की गति रुक गई। बाण, बर्छे और तलवारों की प्रलय मच गई। उस दिन, दिन भर संग्राम रहा। सूर्यास्त देख, दोनों सेना पीछे को फिरीं।

× × ×

२ मास से नगर का घेरा जारी है। बीच-बीच में युद्ध हो जाता है। कोई पक्ष निर्बल नहीं होता। नगर की तीन दिशाएँ मागध-शिविर से घिरी हैं। बीच में जो सबसे बड़ा डेरा है, उसके ऊपर सोने का गरुड़ध्वज अस्त होते सूर्य की किरणों से अग्नि की तरह दमक रहा है। उसके आगे एक स्वर्ण-पीठ पर गौर वर्ण सम्राट् विराजमान हैं। निकट एक दो विश्वासी पार्श्वद हैं। सम्राट् अति सुन्दर, बलिष्ठ और गम्भीर मूर्ति हैं। नेत्रों में तेज और स्नेह, दृष्टि में वीरत्व और औदार्य तथा प्रतिभा में अदम्य तेज प्रकट हो रहा है। सम्राट् आधे लेटे हुए कुछ मन्त्रणा कर रहे हैं। एक कर्णिक नीचे बैठा उनके आदेशानुसार लिखता जाता है। एक दण्डधर ने आगे बढ़कर पुकार कर कहा—महा नायक युवराज भट्टारक पादीय गोपालदेव तोरण पर उपस्थित हैं। सम्राट् ने चौंक कर उधर देखा और भीतर बुलाने का सङ्केत किया। साथ ही कर्णिक और मन्त्री को विदा किया।

गोपालदेव ने तलवार म्यान से खींच शीश से लगाई और फिर विनम्र निवेदन किया 'महाराजाधिराज की आज्ञानुसार सब व्यवस्था ठीक है। देवश्री पधारने का कष्ट करें।' सम्राट् के नेत्रों में उत्फुल्लता उत्पन्न हुई। वे उठ कर वस्त्र पहनने के लिए पट-मण्डप में घुस गए।

७

वैशाली के राजपथ जनशून्य थे, २ प्रहर रात्रि जा चुकी थी, युद्ध के आतङ्क ने नगर के उल्लास को मूर्च्छित कर दिया था। कहीं-कहीं प्रहरी खड़े उस अन्धकारमयी रात्रि में भयानक भूत-से प्रतीत होते थे। धीरे धीरे दो मनुष्य-मूर्तियाँ अन्धकार को भेदन करती हुई वैशाली के गुप्त द्वार के निकट पहुँचीं। एक ने द्वार पर आघात किया, भीतर प्रश्न हुआ—सङ्केत ?

मनुष्य-मूर्ति ने कहा—अभिनय !

हलकी चीत्कार करके द्वार खुल गया, दोनों मूर्तियाँ भीतर घुस कर राजपथ छोड़, अँधेरी गलियों में अट्टालिकाओं की परछाईं में छिपती-छिपती आगे बढ़ने लगीं। एक स्थान पर प्रहरी ने बाधा देकर पूछा—'कौन ?' एक व्यक्ति ने कहा—'आगे बढ़ कर देखो।' प्रहरी निकट आया। हठात् दूसरे व्यक्ति ने उसका सिर धड़ से जुदा कर दिया। दोनों फिर आगे बढ़े। अम्बपालिका के द्वार पर अन्ततः उनकी यात्रा समाप्त हुई। द्वार पर एक प्रतीहार मानों उनकी प्रतीक्षा कर रहा था। सङ्केत करते ही उसने द्वार खोल दिया और आगन्तुकगण को भीतर लेकर द्वार बन्द कर लिया।

आज इस विशाल राजमहल सदृश भवन में सन्नाटा था। न रङ्ग-विरङ्गी रोशनी, न फव्वारे, न दास-दासीगणों की दौड़-धूप। दोनों व्यक्ति चुपचाप

प्रतिहार के साथ जा रहे थे। सातवें अलिन्द को पार करने पर देखा, एक ओर काली मूर्ति एक खम्भे के सहारे खड़ी है। उसने आगे बढ़ कर कहा—"इधर से पधारिए श्रीमान्!" प्रतिहार वहीं रुक गया। नवीन व्यक्ति स्त्री थी और वह सर्वाङ्ग काले वस्त्र से ढाँपे हुए थी। दोनों आगन्तुक कई प्राङ्गण और अलिन्द पार करते हुए कुछ सीढ़ियाँ उतर कर एक छोटे से द्वार पर पहुँचे जो चाँदी का था और जिस पर अतिशय मनोहर जाली का काम हो रहा था और उसी जाली में से छन छन कर रङ्गीन प्रकाश बाहर पड़ रहा था।

द्वार खोलते ही देखा, एक बहुत बड़ा कक्ष भिन्न-भिन्न प्रकार की सुख-सामग्रियों से परिपूर्ण था। यद्यपि उतना बड़ा नहीं, जहाँ नागरिक जनों का प्रायः स्वागत होता था, परन्तु सजावट की दृष्टि से इस कक्ष के सम्मुख उसकी गणना नहीं हो सकती थी। यह समस्त भवन श्वेत और काले पत्थरों से बना था। और सर्वत्र ही सुनहरी पच्चीकारी का काम हो रहा था। उसमें बड़े-बड़े बिल्लौर के अठपहलू खम्भे लगे थे, जिनमें मनुष्य का हूबहू प्रतिबिम्ब सहस्रों की संख्याओं में दीखता था। बड़े-बड़े और भिन्न-भिन्न भावपूर्ण चित्र टँगे थे। सहस्र दीप-गुच्छों में सुगन्धित तेल जल रहा था। समस्त कक्ष भीनी सुगन्ध से महक रहा था। धरती पर एक महा मूल्यवान् रङ्गीन बिछावन था, जिस पर पैर पड़ते ही हाथ भर धँस जाता था। ठीक बीचोबीच एक विचित्र आकृति की सोलह पहलू सोने की चौकी पड़ी थी, जिस पर मोर-पङ्ख के खम्भों पर मोतियों की झालर लगा एक चन्दोवा तन रहा था। और पीछे रङ्गीन रेशम के परदे लटक रहे थे, जिनमें ताज़े पुष्पों का शृङ्गार बड़ी सुघड़ाई से किया गया था। निकट ही एक छोटी सी रत्न-

जटित तिपाई पर मद्य-पात्र और पत्तों का एक बड़ा सा पान-पात्र धरा हुआ था।

हठात् सामने का परदा उठा और उसमें से वह रूप-राशि प्रकट हुई, जिसके बिना अलिन्द शून्य हो रहा था। उसे देखते ही आगन्तुकगण में से एक तो धीरे-धीरे पीछे हट कर कक्ष से बाहर हो गया, दूसरा व्यक्ति स्तम्भित-सा खड़ा रहा। अम्बपालिका आगे बढ़ी। वह बहुत महीन श्वेत रेशम की पोशाक पहने हुए थी। वह इतनी बारीक थी कि उसके आर-पार साफ़ दीख पड़ता था। उसमें से छन कर उसके सुनहरे शरीर की रङ्गत अपूर्व छटा दिखा रही थी। पर यह रङ्ग कमर ही तक था—वह चोली या कोई दूसरा वस्त्र नहीं पहने थी। इसलिए उसकी कमर के ऊपर के सब अङ्ग-प्रत्यङ्ग साफ़ दीख पड़ते थे।

विधाता ने उसे किस क्षण में गढ़ा था! हमारी तो यह धारणा है कि कोई चित्रकार, न तो वैसा चित्र ही अङ्कित कर सकता था, और न कोई मूर्तिकार वैसी मूर्ति ही बना सकता था।

उस भुवन-मोहनी की वह छटा आगन्तुक के हृदय को छेद कर पार हो गई। गहरे काले रङ्ग के बाल उसके उज्जवल और स्निग्ध कन्धों पर लहरा रहे थे। स्फटिक के समान चिकने मस्तक पर मोतियों का गुथा हुआ आभूषण अपूर्व शोभा दिखा रहा था। उसकी काली और कटीली आँखें, तोते के समान नुकीली नाक, विम्ब-फल जैसे अधर-ओष्ठ और अनार-दाने के समान उज्जवल दाँत, गोरा और गोल चिबुक बिना ही शृङ्गार के अनुराग और आनन्द बखेर रहा था! अब से ढाई हज़ार वर्ष पूर्व की वह वैशाली की वेश्या ऐसी ही थी!

मोती की कोर लगी हुई सुन्दर ओढ़नी पीछे की ओर लटक रही थी और इसलिए उसका उन्मत्त कर देने वाला मुख साफ़ देखा जा सकता था। वह अपनी पतली कमर में एक ढीला-सा बहुमूल्य रङ्गीन शाल लपेटे हुए थी। हंस के समान उज्ज्वल गर्दन में अङ्गूर के बराबर मोतियों की माला लटक रही थी और गोरी-गोरी गोल कलाइयों में नीलम की पहुँची पड़ी हुई थी।

उस मकड़ी के जाले के समान बारीक उज्ज्वल परिधान के नीचे, सुनहरे तारों की बुनावट का एक अद्भुत घाँघरा था, जो उस प्रकाश में बिजली की तरह चमक रहा था। पैरों में छोटी-छोटी लाल रङ्ग की उपानत थीं, जो सुनहरे फ़ीते से कस रही थीं।

उस समय कक्ष में गुलाबी रङ्ग का प्रकाश हो रहा था। उस प्रकाश में अम्बपालिका का मानो परदा चीर कर इस रूप रङ्ग में प्रकट होना आगन्तुक व्यक्ति को मूर्ति-मती मदिरा का अवतरण-सा प्रतीत हुआ। वह अभी तक स्तब्ध खड़ा था। धीरे-धीरे अम्बपालिका आगे बढ़ी। उसके पीछे १६ दासियाँ एक ही रूप और रङ्ग की, मानों पाषाण-प्रतिमाएँ ही आगे बढ़ रही थीं।

अम्बपालिका धीरे-धीरे आगे बढ़ कर आगन्तुक के निकट आकर झुकी और फिर घुटने के बल बैठ, उसने कहा—"परमेश्वर, परम वैष्णव, परम भट्टारक महाराजा-धिराज की जय हो!" इसके बाद उसने सम्राट् के चरणों में प्रणाम करने को सिर झुका दिया। दासियाँ भी पृथ्वी पर झुक गईं।

आगन्तुक महा प्रतापी मगध-सम्राट् बिम्बसार थे। उन्होंने हाथ बढ़ा कर अम्बपालिका को ऊपर उठाया। अम्बपालिका ने निवेदन किया—'महाराजाधिराज पीठ पर विराजें।' सम्राट् ने ऊपर का परिच्छद उतार फेंका, वे पीठ पर विराजमान हुए।

अम्बपालिका ने नीचे धरती में बैठ कर सम्राट् का गन्ध, पुष्प आदि से सत्कार किया। इसके बाद उसने अपनी मद-भरी आँखें सम्राट् पर डाल कर कहा—महाराजाधिराज ने बड़ी अनुकम्पा की, बड़ा कष्ट किया।

सम्राट् ने किञ्चित् मोहक स्वर में कहा—अम्बपाली! यदि मैं यह कहूँ कि केवल विनोद के लिए आया हूँ, तो यह यथार्थ बात नहीं—मैं तुम्हारे रूप गुण की प्रशंसा सुन कर स्थिर नहीं रह सका, और इस कठिन युद्ध में व्यस्त रहने पर भी तुम्हें देखने के लिए शत्रुपुरी में घुस आया, परन्तु तुम्हारा प्रबन्ध धन्य है।

अम्बपालिका—(लज्जित-सी होकर तथा ज़रा मुस्करा कर) मैं पहले ही सुन चुकी हूँ कि देव स्त्रियों की चाटुकारी में बड़े प्रवीण हैं।

सम्राट्—चाटुकारी नहीं, अम्बपालिके! तुम वास्तव में रूप और गुण में अद्वितीय हो।

अम्बपालिका—श्रीमान्, मैं कृतार्थ हुई! इसके बाद वह अपने मुक्ता-विनिन्दित दाँतों की छटा दिखाते हुए सम्राट् की सेवा में खड़ी हुई। सम्राट् ने प्याला ले और उसे खींच कर बग़ल में बैठा लिया। सङ्केत पाते ही दासियों ने क्षण-भर में गायन वाद्य का सरञ्जाम जुटा दिया। कक्ष सङ्गीत-लहरी में डूब गया और उस गम्भीर निस्तब्ध रात्रि में मगध के प्रतापी उस एक वेश्या पर अपने साम्राज्य को भूल बैठे!

८

एक वर्ष बीत गया। प्रतापी लिच्छवि-राज मगध-साम्राज्य के आगे नत-मस्तक करने को बाध्य हुए। अब वैशाली में वह उमङ्ग न थी। अम्बपालिका का द्वार सदैव बन्द रहता था। द्वार पर कड़ा पहरा था। कोई व्यक्ति, न उसे देख सकता था, न उससे मिल सकता था। उसके बहुत से युवक मित्र उस युद्ध में निहत हुए थे। पर जो बच रहे थे वे अम्बपाली के इस परिवर्तन पर आश्चर्यान्वित थे। वे किसी भी तरह उसका साक्षात् न कर सकते थे। दूर-दूर तक यह बात फैल गई थी।

अम्बपालिका के सहस्रावधि वेतन-भोगी दास-दासी, सैनिक और अनुचरों में से भी केवल दो व्यक्ति थे, जो अम्बपाली को देख सकते और उससे बात कर सकते थे। एक प्रधान परिचारिक-यूथिका, दूसरा एक वृद्ध दण्ड-धर, जिसे भीतर-बाहर सर्वत्र आने की स्वतन्त्रता थी। सम्राट का आगमन केवल इन्हीं दोनों को मालूम था और ये दोनों ही यह रहस्य भी जानते थे, कि अम्बपालिका को सम्राट् से गर्भ है।

यथासमय पुत्र प्रसव हुआ। यह रहस्य भी केवल इन्हीं दो व्यक्तियों पर प्रकट हुआ। और वह पुत्र उसी दण्डधर ने गुप्त-रूप से राजधानी में जाकर मगध-सम्राट् की गोद में डाल कर, अम्बपालिका का अनुरोध सुना कर कहा—महाराजाधिराज की सेवा में मेरी स्वामनी ने निवेदन किया है कि उनकी तुच्छ भेंट-स्वरूप मगध के भावी सम्राट् आपके चरणों में समर्पित हैं। सम्राट् ने शिशु को सिंहासन पर डाल कर वृद्ध दण्डधर से उत्फुल्ल नयन से कहा—'मगध के भावी सम्राट् को झटपट अभिवादन करो।' दण्ड-धर ने कोश से तलवार निकाल, मस्तक पर लगाई और तीन बार जयघोष

करके तलवार शिशु के चरणों में रख दी। सम्राट् ने तलवार उठा कर वृद्ध की कमर में बाँधते-बाँधते कहा—अपनी स्वामिनी को मेरी यह तुच्छ-भेंट देना। यह कह कर उन्होंने एक वस्तु वृद्ध के हाथ में चुपचाप दे दी। वह वस्तु क्या थी, यह ज्ञात होने का कोई उपाय नहीं।

९

भगवत् बुद्ध वैशाली में पधारे हैं और अम्बपालिका की बाड़ी में ठहरे हैं। आज हठात् अम्बपालिका के महल में हलचल मच रही है। सभी दास-दासी, प्रतिहार, द्वारपाल दौड़-धूप कर रहे हैं। हाथी, घोड़े, पालकी, रथ सज रहे हैं। सवार शस्त्र सज्जित हो रहे हैं! अम्बपालिका भगवान् बुद्ध के दर्शनार्थ बाड़ी में जा रही है। एक वर्ष बाद आज वह फिर सर्व-साधारण के सम्मुख निकल रही है। समस्त वैशाली में यह समाचार फैल गया है। लोग झुण्ड के झुण्ड उसे देखने राजमार्ग पर डट गए हैं। अम्ब-पालिका एक श्वेत हाथी पर सवार होकर धीरे-धीरे आगे बढ़ रही है। दासियों का पैदल झुण्ड उसके पीछे है, उसके पीछे अश्वरोही दल है और उसके बाद हाथियों पर भगवान् की पूजा-सामग्री। सबके पीछे बहुत से वाहन, कर्मचारी और पौरगण।

अम्बपालिका एक साधारण पीत-वर्ण परिधान धारण किए अधोमुख बैठी है। एक भी आभूषण उसके शरीर पर नहीं है। बाड़ी से कुछ दूर ही उसने सवारी रोकने की आज्ञा दी। वह पैदल भगवान् के निवास तक पहुँची, पीछे १०० दासियों के हाथ में पूजन-सामग्री थी।

तथागत बुद्ध की अवस्था ८० को पार कर गई थी। एक गौर-वर्ण, दीर्घकाय, श्वेत-केश, कृश, किन्तु बलिष्ठ महापुरुष पद्मासन

में एक सघन वृक्ष की छाया में बैठे थे। सहस्रावधि शिष्यगण दूर तक मुण्डित शिर और पीत वस्त्र धारण किए स्तब्ध-से श्रीमुख के प्रत्येक शब्द को हृत्पटल पर लिख रहे थे। आनन्द नामक शिष्य ने निवेदन किया—'प्रभु! अम्बपालिका दर्शनार्थ आई है।' तथागत ने किञ्चित हास्य से अपने करुण नेत्र ऊपर उठाए। अम्बपालिका धरती में लोट कर कहने लगी—'प्रभो! त्राहिमाम्! त्राहिमाम्!'

भगवत् ने कहा—'कल्याण! कल्याण!' आनन्द ने कहा—उठो अम्बपाली! महाप्रभु प्रसन्न हैं। अम्बपाली ने यथाविधि भगवत् का अर्घ्यदान, पाद्य मधुपर्क से पूजन किया और चरण-रज नेत्रों में लगाई, फिर हाथ बाँध सम्मुख खड़ी हो गई।

भगवत् ने हँस कर कहा—अब और क्या चाहिए अम्बपाली?

प्रभो! भगवन्! इह अपदार्थ का आतिथ्य स्वीकार हो, इन चरण कमलों की देवदुर्लभ रज-कण किङ्करी की कुटिया को प्रदान हो।

प्रभु ने करुण स्वर में कहा—तथास्तु! भिक्षुगण सहस्र कण्ठ से जयोल्लास में चिल्ला उठे। परन्तु यह क्या? उस नाद को विदीर्ण करता हुआ एक और नाद उठा। भगवत् ने पूछा—आनन्द! यह क्या है? "प्रभो! लिच्छविराजवर्ग और आमात्यवर्ग श्रीपाद-पद्म के दर्शनार्थ आ रहा है। प्रभु हँस पड़े। अम्बपालिका हट गई। प्रतापी लिच्छवि राजागण, राजकुमार, आमात्यवर्ग और अन्तःपुर ने एक साथ ही भगवत् के चरणों में महान् मस्तक झुका दिए। भगवत् ने कहा—'कल्याण! कल्याण!!'

महाराज ने पद-धूलि मुकुट पर लगा कर कहा—महाप्रभु! यह तुच्छ चर ने कोश से तो चरणों के पधारने से कृतकृत्य हुई। परन्तु प्रभो! यह वेश्या

की बाड़ी है, श्रीचरणों के योग्य नहीं। प्रभु के लिए राजप्रसाद प्रस्तुत है और राजवंश प्रभु-पद-सेवा को बहुत उत्सुक है। भगवत् ने हँस कर कहा —'तथागत के लिए वेश्या और राजा में क्या अन्तर है? तथागत समदृष्टि है।'

'प्रभो! तब कल का आतिथ्य राज-परिवार को प्रदान कर कृतार्थ करें।'

'वह तो मैं अम्बपाली का स्वीकार कर चुका!'

राजा निरुत्तर हुए। वे फिर प्रणाम कर लौटे। कुछ श्वेत वस्त्र धारण किए थे, कुछ लाल और कुछ आभूषण पहने थे।

अम्बपालिका रथ में बैठ कर लौटी। उसने आज्ञा दी, मेरा रथ लिच्छवि महाराजों के बराबर हाँको। उनके पहिए के बराबर मेरा पहिया और उनके धुरे के बराबर मेरा धुरा रहे, तथा उनके घोड़े के बराबर मेरा घोड़ा।

लिच्छवियों ने देख कर क्रोध मिश्रित आश्चर्य से पूछा—अम्बपालिके, यह क्या बात है? तू हम लोगों के बराबर अपना रथ हाँक रही है?

उसने उत्तर दिया—मेरे प्रभु! मैंने तथागत और उनके शिष्य वर्ग को भोजन का निमन्त्रण दिया है और वह उन्होंने स्वीकार किया है।

उन्होंने कहा—हे अम्बपाली! हमसे एक लाख स्वर्ण-मुद्रा ले और यह भोजन हमें कराने दे।

'मेरे प्रभु, यह सम्भव ही नहीं है!'

'तब १०० ग्राम ले और यह निमन्त्रण हमें बेच दे।

'नहीं स्वामी! कदापि नहीं।'

'आधा राज्य ले और यह निमन्त्रण हमें दे दे।'

'मेरे प्रभु! आप एक तुच्छ भूखण्ड के स्वामी हैं, पर यदि समस्त भूमण्डल के चक्रवर्ती भी होते और अपना समस्त साम्राज्य मुझे देते, तो भी मैं ऐसी कीर्ति की जेवनार को नहीं बेच सकती थी।'

लिच्छवि राजाओं ने तब अपना हाथ पटक कर कहा—हाय! अम्बपालिका ने हमें पराजित कर दिया, अम्बपालिका हमसे बढ़ गई। अम्बपालिके! तब तुम स्वच्छन्दता से हमसे आगे रथ हाँको। अम्बपालिका ने रथ बढ़ाया। गर्द का एक तूफ़ान पीछे रह गया।

१०

दस सहस्र भिक्षुओं के साथ भगवान् बुद्ध ने अम्बपाली के प्रासाद को आलोकित किया। वैशाली के राजमार्ग में नगर के प्राण आ जुझे थे। महापुरुष बुद्ध और उनके वीतरागी भिक्षु भूमि पर दृष्टि दिए पैदल धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। नगर के श्रेष्ठिगण दूकानों से उठ-उठ कर मार्ग की भूमि को भगवान् के चरण रखने से पूर्व अपने उत्तरीय से झाड़ रहे थे। कोई नागरिक भीड़ से निकल कर पथ पर अपने बहुमूल्य शाल बिछा रहे थे। महाप्रभु बिना कुछ कहे एकरस धीरे-धीरे आगे बढ़ रहे थे। वह महान् संन्यासी, प्रबल वीतरागी महाप्राण वृद्ध-पुरुष श्रेष्ठ जय-जयकार की प्रचण्ड घोषणा से ज़रा भी विचलित नहीं हो रहा था। उसकी दृष्टि मानों पृथ्वी में पाताल तक घुस गई थी। पौर स्त्रियाँ झरोखों से खील और पुष्प वर्षा कर रही थीं। अम्बपालिका का तोरण आते ही चार दण्डधरों ने दौड़ कर पथ पर कौशेय बिछा दिया। द्वार में प्रवेश करने पर सर्वत्र कौशेय बिछा था।

अनगिनत कर्मचारी भिक्षुगण के सम्मानार्थ दौड़ पड़े। पीतवसनधारी मुण्डित भिक्षु नक्षत्रों की तरह उस विशाल प्राङ्गण में, महा जनसमूह में चमक रहे थे।

अतिथि-शाला में भगवत् के पहुँचते ही अम्बपालिका ने २०० दासियों के साथ स्वयं आकर तथागत के चरणों में सिर झुकाया और वहाँ से वह अपने अञ्चल से पथ की धूल झाड़ती हुई प्रभु को भीतरी अलिन्द तक ले गई। इस समय प्रभु के साथ केवल आनन्द चल रहे थे।

प्राङ्गण के मध्य में एक चन्दन की चौकी पर शुद्ध आसन बिछा था। अम्बपाली के अनुरोध पर प्रभु वहाँ विराजमान हुए। अम्बपाली अर्ध्य-पाद्य दान करके भोजन प्रस्तुत करने की आज्ञा माँगी। आज्ञा मिलते ही अम्बपाली स्वयं स्वर्ण-थाल में भोजन ले आई। अनेक प्रकार के चावल और रोटियाँ थीं। अम्बपाली सेवा में करबद्ध खड़ी रही। भगवान् ने मौन होकर भोजन किया और तृप्त होकर कहा—बस।

अम्बपाली के नेत्रों से अश्रुधारा बही। प्रभु ज्योंही शुद्ध होकर आसन पर विराजे, अम्बपाली ने पृथ्वी में गिर कर प्रणाम किया।

भगवत् ने कहा—अम्बपाली, अब और तेरी क्या इच्छा है?

'प्रभु एक तुच्छ भिक्षा प्रदान हो?'

तथागत ने गम्भीर होकर कहा—'वह क्या है?'

'प्रभो! आज्ञा कीजिए, कोई भिक्षु अपना उत्तरीय प्रदान करे।' आनन्द ने उत्तरीय उतार कर अम्बपाली को दे दिया। क्षण भर के लिए अम्बपाली भीतर गई परन्तु दूसरे ही क्षण वह उसी वस्त्र से अङ्ग लपेटे आ रही थी। उस बौद्ध भिक्षु के प्रदान किए एकमात्र वस्त्र को छोड़ कर उसके

पास न कोई और वस्त्र था, न आभरण। उसके नेत्रों से अविरल अश्रुधारा बह रही थी। भगवत् विमूढ़ उसका व्यापार देख रहे थे। वह आकर भगवत् के सम्मुख फिर लोट गई।

भगवत् ने शुभ हस्त से उसे स्पर्श करके कहा—उठो, उठो! हे कल्याणी? तुम्हारी इच्छा क्या है?

'महाप्रभु! अपवित्र दासी की धृष्टता क्षमा हो, यह महा नारी-शरीर कलङ्कित करके मैं जीवित रहने पर बाधित की गई, शुभ सङ्कल्प से मैं वञ्चित रही, प्रभो, यह समस्त सम्पदा कलुषित तपश्चर्या का सञ्चय है। मैं कितनी व्याकुल, कितनी कुण्ठित, कितनी शून्य-हृदया रह कर अब तक जीवित रही हूँ, यह कैसे कहूँ। मेरे जीवन में दो ज्वलन्त दिन आए। प्रथम दिन के फलस्वरूप मैं आज मगध के भावी सम्राट की राजमाता हूँ, परन्तु भगवन्! आज के महान् पुण्य योग के फल-स्वरूप अब मैं इससे भी उच्च पद प्राप्त करने की धृष्ट अभिलाषा करती हूँ। महाप्रभु प्रसन्न हों। जब भगवत् की चरण-रज से यह घर पवित्र हुआ, तब यहाँ विलास और पाप कैसा? उसकी सामग्री ही क्यों, उसकी स्मृति ही क्यों?

इसलिए भगवत् के चरण-कमलों में यह सारी सम्पदा, महल, अटारी, धन, कोष, हाथी, घोड़े, प्यादे, रथ, वस्त्र, भण्डार आदि सब समर्पित है। प्रभु ने भिक्षु का उत्तरीय मुझे भिक्षा दिया है, मेरे शरीर की लज्जा निवारण को यह बहुत है स्वामिन! आज से अम्बपाली भिक्षुणी हुई। अब यह इस भिक्षा में प्राप्त पवित्र वस्त्र को प्राण देकर भी सम्मानित करेगी। हे प्रभु! आज्ञा हो।

इतना कहकर अविरल अश्रुधारा से भगवत् चरणों को धोती हुई, अम्बपालिका बुद्ध की चरण-रज नेत्रों से लगा कर उठी, और धीरे-धीरे महल से बाहर चली। महा वीतराग बुद्ध के नेत्र आप्यायित हुए। उन्होंने 'तथास्तु' कहा और खड़े होकर उसका सिर स्पर्श करके कहा—कल्याण ! कल्याण !! सहस्र-सहस्र कण्ठ से 'जय अम्बपालिके, जय अम्बपालिके' का गगन-भेदी नाद उठा। सहस्रों नर-नारी पीछे चले। अम्बपाली उस पीत परिधान को धारण किए, नीचा सर किए, पैदल उसी राजमार्ग से भूमि पर दृष्टि दिए धीरे-धीरे नगर से बाहर जा रही थी और उसके पीछे समस्त नगर उमड़ा जा रहा था। खिड़कियों से पौर वधुएँ पुष्प और खील वर्षा कर रही थीं।

भगवत् ने कहा—हे आनन्द, यह स्थान बौद्ध भिक्षुओं का प्रथम विहार होगा। बौद्ध भिक्षु यहाँ रह कर सन्मार्ग का अन्वेषण करेंगे—यही तथागत की इच्छा है।

आनन्द ने सिर झुकाया। भिक्षु-मण्डल जय नाद कर उठा। बुद्ध भगवान् धीरे-धीरे उठ कर नगर के राजमार्ग से होते हुए अम्बपालिका की बाड़ी में आकर अपने आसन पर विराजमान हुए। कुछ दूर एक वृक्ष की जड़ में अम्बपाली स्थिर बैठी थी। भगवान् को स्थित देख वह उठी और धीर भाव से प्रभु के सन्मुख आकर खड़ी हुई। भगवत् ने उसकी ओर देखा। अम्बपाली ने विनयावनत होकर कहा—

"बुद्धं सरणं गच्छामि"
"धर्मं सरणं गच्छामि"
"संघं सरणं गच्छामि"

तथागत स्थिर हुए। उन्होंने तत्काल पवित्र जल उसके मस्तक पर सिञ्चन किया और पवित्र वाक्यों का उपदेश देकर कहा—भिक्षुओ! महा साध्वी अम्बपाली भिक्षुणी का स्वागत करो।

फिर जयनाद से दिशाएँ गूँज उठीं और अम्बपाली तथागत तथा अन्य वृद्ध भिक्षुगण को प्रणाम कर वहाँ से चल दी और फिर वैशाली के पुरुष उसे न देख सके॥



विश्वास

बस्ती से बाहर एक छोटी-सी टेकरी के नीचे उसका झोपड़ा था। ऊपर से देखने में वह दरिद्रता की छाया में डूबा हुआ था! बहुत कम पथिक उधर होकर जाते थे। उधर से जो रास्ता जाता था, वह आगे निकट ही घनघोर वन में खो गया था। देहाती लकड़ी बीनने वालों या अहेरियों को छोड़ और उधर किसे जाने की इच्छा हो सकती थी?

उसका नाम था नन्दू। उम्र ५० को पार कर गई थी। चेहरे की खाल लटक गई थी और वह फूल गया था। अत्यधिक शराब पीने का यह फल था। आँखें हर-दम जलती रहती थीं। आवाज़ तीखी थी। जब बोलता था, मानो साँड डूँक रहा हो। कमर झुक गई थी और एक-दो दाँत भी गिर गए थे। फिर भी कठिन पुरुषार्थ उसका जीवन था। वस्त्रों और शरीर की तरफ़ उसका कभी ध्यान भी न गया था। उसकी व्यवसाय-प्रकृति और जीवन ही इस योग्य न था। वह उस जङ्गल के एकान्त कोने में जङ्गली पशु की तरह

रहता था। ऊपर से हर तरह यही बात प्रतीत होती थी।

पर हठात् कुटी में घुस पड़ने से यह बात गलत साबित होती थी। उस नर-पशु के साथ उस दरिद्र और अशुभ कुटी में एक मधुर मूर्ति रहती थी। चम्पा के समान उसका रङ्ग था और बिलकुल नपा-तुला शरीर था; कण्ठ स्वर और चाल की मोहकता कभी-कभी उधर से गुज़रने वाले पथिकों को नसीब हो जाती थी। उसका नाम था मैना, उसकी उम्र २५ के लगभग होगी, पर सौन्दर्य मानो अस्फुट था। वह अस्फुट सौन्दर्य मैले और फटे वस्त्रों से, अरक्षित भाव से ढँका उस कुटी को सौभाग्य दे रहा था। यह उस नर पशु की धर्मपत्नी थी!

हाय! कितना अद्भुत, कैसा आश्चर्यजनक बेमेल मेला था। उसे क्या कहा जाय? क्या लोहा और सोना की उपमा दी जाय या रात्रि और दिन की? अथवा राहु द्वारा चन्द्रग्रहण की? मेरी समझ में किसी की नहीं। सभी में एक न एक सौन्दर्य था, नहीं था तो इस जोड़े के सम्मिलन में।

यह नर-पशु और वह स्वर्ण-सुन्दरी थी। बस यहीं तक बात न थी, वह ऐसी पतिव्रता और पति-सेवा की पुतली थी, कि इन दो गुणों ही के लिए नारी-जाति में इसकी उपमा दी जा सकती है। और यह बात आसपास प्रसिद्ध भी थी।

यह अद्भुत दम्पति, जगत् से दूर अवश्य रहते थे, किन्तु जगत् की दृष्टि से बचे न थे। पुलिस और सरकारी अधिकारियों से लेकर साधारण नागरिक तक उस बदमाश को, उसके क़ानून के विरुद्ध कार्यों से तथा उसके द्वारा नित्य होते हुए अपराधों के द्वारा जानते थे। उसी प्रकार आस-पास सर्वत्र ही यह बात भी प्रसिद्ध थी कि जगत् का कोई भी प्रलोभन उसकी

स्त्री को उसके प्रति विद्रोही एवं विचलित नहीं कर सकता था। यह बात भी प्रसिद्ध थी कि अनेक उच्च पदस्थ राज-कर्मचारी उसे भ्रष्ट करने और उसके द्वारा उसके पति के रहस्य-भेद करने की चेष्टा में हर तरह विफल हुए।

वास्तव में चोरी, डकैती, अफ़ीम बेचना, जाली रुपया बनाना आदि कुकर्म ही उस अधम पति का व्यवसाय था। व्यवसाय यहीं तक रहता तो भी उसमें एक मर्दानगी थी। परन्तु वह नर-पशु अपने व्यवसाय की सहायता में चाहे जब निस्सङ्कोच भाव से अपनी पत्नी के सौन्दर्य का उपयोग भी कर लेता था।

किसी भी सुलक्षणा पतिव्रता के लिए यह कितना कठिन है, इस बात पर विचार करना चाहिए। उठती हुई उम्र की युवती, परम सुन्दरी, जीवन की स्वाभाविक लालसाओं और अभिलाषाओं के स्थान पर, जो हृदय की प्रत्येक तरङ्ग के साथ उठती हों, उसे अपने पवित्र विश्वास, अभ्यास और धर्म के विपरीत पति ही की आज्ञा से वह अभिनय भी करना पड़ता था। इसके सिवा वह प्रायः दिनभर और आधीरात तक और बहुधा तीन-तीन, चार-चार दिन तक अकेली, बिना किसी पशु-पक्षी के सहयोग के उस एकान्त जङ्गल में, धूप और सन्नाटे से भरा दिन और अन्धकार तथा भय से परिपूर्ण रात्रि व्यतीत करती थी। यही कारण था, कि हास्य की रेखा कभी उसके सुन्दर कपोलों पर नहीं देखी गई और धीरे-धीरे उसके गालों की सुर्ख़ी और अङ्गों की लुनाई नष्ट होकर उस पर स्याही और पीलापन फैल रहा था।

२

रामसिंह का बीसवाँ वर्ष बीत रहा था, पर अभी उसकी रेखें नहीं भीगी थीं। उसका रङ्ग तपाए कुन्दन सा और बदन इस्पात का बना था। चौड़ी छाती, लम्बी भुजा, उठी हुई गर्दन, प्रफुल्ल और उभरे हुए नेत्र और ओष्ठों से उसके हृदय की पवित्रता प्रकट होती थी।

वह अपनी वृद्धा और दरिद्र विधवा माता का एकमात्र पुत्र था। वह गत वर्ष ही सिपाहियों में भर्ती हुआ था। उस दिन प्रभात के समय जब उसकी माता ने उसकी बिदाई की पूरी तैयारी कर दी, तब सिर पर पगड़ी बाँधते-बाँधते उसने कहा—माँ! इस मुहिम में यदि मुझे विजय प्राप्त हुई, तो अगले वर्ष मैं इस पगड़ी पर सुनहरा झब्बा लगाऊँगा, और मैं नायब तो बन ही जाऊँगा।

वृद्धा ने सुख की साँस ली; उसके होठों पर हास्य, आँखों में आशा और आँसू एवं शरीर में रोमाञ्च का उदय हुआ। वह बोल ही न सकी और चुपचाप बेटे के शरीर पर हाथ फेरने लगी। कुछ ही क्षण बाद माता और पुत्र दोनों पाशबद्ध हो गए।

वृद्धा ने आँसू पोंछते हुए कहा—रामू! बेटे! डाकुओं से तू कैसे लड़ेगा? तू अकेला कभी घर से बाहर नहीं गया था, आज तुझे भेजते मेरी छाती फटती है! मेरे लाल, जैसे पीठ दिखाता है वैसे मुख दिखाइयो। दुखियारी महतारी को भूल न जाना।

रामसिंह ने उज्वल नेत्रों को माता के मुख पर गाड़ दिया। वह हँसा। उसने कहा—माँ! मैं नौकरी बजाकर शीघ्र आऊँगा, डर किस बात का है।

माता को कहने योग्य बात न थी। वह चुपचाप आँसू पोंछती जाती

थी—तैयारी कर रही थी। कुछ ही क्षण बाद रामसिंह माँ की आँखों से ओझल हो गया।

३

यह घटना उस समय की है, जब भारतवर्ष में बीसवीं शताब्दी की सभ्यता और अङ्गरेज़ों के साम्राज्य का विस्तार नहीं हुआ था। नागरिकता और व्यापार के वर्त्तमान साधन देश में न थे। यह उन दिनों की बात है, जब क़लम ने तलवार पर विजय नहीं प्राप्त की थी, और भूखे नङ्गे देहाती भी फटे चिथड़े में शरीर और तलवार लपेटे घर से बाहर काम-काज को निकला करते थे।

युवक घोड़े पर दिनभर चलता-चलता थक गया था। घोड़ा और युवक दोनों ही सुस्ताने की इच्छा करते थे। सन्ध्या हो चली थी, सूरज और उसके आस-पास के बादलों में रङ्ग उत्पन्न हो रहे थे, युवक ज़रा तेज़ी से घोड़ा बढ़ाकर यात्रा के अन्तिम भाग को दिन ही दिन में पूर्ण किया चाहता था। सामने घने वृक्षों के झुरमुट में नगर दीख पड़ता था, कुत्तों का स्वर उसके कान में आ रहा था, वह विश्राम और शान्ति का ध्यान करता बढ़ा चला जा रहा था। बगल ही में एक चीत्कार ने उसे अचानक रोका। क्षण ही भर में घटनास्थल पर उसने देखा—एक सुन्दरी जो गोद में बहुत से फूल भर रही थी, भय से थर-थर काँप रही है, और एक सिंह उस पर आक्रमण करने की तैयारी में है। दृष्टि पड़ते ही दूसरे क्षण युवक की तलवार निकल आई, और उस वनपशु तथा युवक में एक विकट संग्राम छिड़ गया। इस अनोखे-भयानक खेल को अकेली अबला अपने भय-कम्पित और अर्द्धमूर्च्छित नेत्रों से देखती रही। अन्त में वह वनपशु एक गर्जना

के साथ धरती पर गिरा और फिर युवक ने धीर-भाव से रक्त भरी हुई तलवार धीरे-धीरे उसकी छाती से खींचकर बाहर की।

बालिका बहुत डर गई थी। वह अब भी थर-थर काँप रही थी। युवक ने सहज-स्वाभाव से उसके निकट आकर कहा—क्या तुम बस्ती में जाओगी? मैं उधर ही चल रहा हूँ।

सुन्दरी ने कहा—मैं नगर के निकट ही नगर से बाहर रहती हूँ, पर तुम यदि मुझे थोड़ी दूर छोड़ आओ तो बड़ी दया हो, मैं बहुत डर गई हूँ।

युवक ने कहा—अच्छी बात है, पर यदि आप घोड़े पर चढ़ना जानती हों तो चढ़ लीजिए।

युवती सङ्कोच में पड़ गई। उसने कहा—ना, मैं नहीं चढ़ सकती, मैं गिर जाऊँगी।

युवक ने कहा—गिरने का कोई भय नहीं। उसने हाथ का सहारा देकर युवती को घोड़े पर चढ़ा लिया, फिर स्वयं कूद कर चढ़ गया। युवक ने कहा—अनुचित तो है, पर मुझे नौकरी पर सूरज छिपने से प्रथम ही पहुँचना है। उसने घोड़ा छोड़ दिया।

सन्ध्या की मनोहर स्वर्णप्रभा और वायु उनकी पीठ पर थपकियाँ ले रही थी। उस मौन, अपरिचित एवं हठात् सम्मेलन का क्या होगा?

४

ज्येष्ठ की झलझलाती दोपहरी, लूओं के झुलसाने वाले झोंके नङ्गी और उत्तप्त पहाड़ियों से टकरा रहे थे। उन उत्तप्त, नङ्गी पहाड़ियों के बीच जहाँ-तहाँ जङ्गली पेड़ों के खोखलों में पक्षियों के शावक अकेले छटपटा रहे थे,

दाने-चारे की खोज में पक्षी उन्हें अकेले छोड़ गए थे। उसी तरह उन्हीं नग्न और उत्तप्त पहाड़ी के नीचे एक बिलकुल जलते हुए छोटे से झोंपड़े में लू और चिन्ता से जलती हुई वह सुन्दरी अकेली खिड़की से बाहर दूर तक आँखें फैलाए हुए उस भयानक ग्रीष्म की अग्निवर्षा देख रही थी। उसके मुँह पर जलती हुई लूओं के थपेड़े पड़ते थे। पर उसे इसकी चिन्ता न थी। वह—मैना—वह कल सन्ध्या से अपने पति, उसी नर-पशु की प्रतीक्षा में वहीं खड़ी है। रात भर वहीं खड़ी रही है, और अब आधा दिन बीत चला है, अन्न-जल की उसे इच्छा नहीं—मानो शरीर और मन एक निष्ठ तपस्या के वशीभूत हो रहे हैं।

नन्दू एक बड़े डाके में से गहरा हाथ मारकर लाया था और पुलिस की खोज-जाँच से कुछ समय दूर रहने के लिए घर से भाग गया है। मैना सोच रही है, क्या वे कहीं किसी विपत्ति में तो नहीं पड़ गए? वे पकड़े तो नहीं गए? वह बार-बार इस कुशङ्का को मन में प्रवेश करती और फिर निकाल फेंकती है। वह कभी रोती है, कभी दूर तक देखती और कभी सर्वशक्तिमान परमेश्वर को याद कर घुटनों तक झुक जाती है।

हठात् घोड़े की पदध्वनि सुनकर वह चौंकी। क्षण-भर बाद एक सरकारी सिपाही धीरे-धीरे आता दीख पड़ा। झोंपड़ी पर दृष्टि पड़ते ही उसने सावधानी से अपनी तलवार पर हाथ रक्खा और फिर वह धीर-गति से आगे बढ़कर झोंपड़ी के द्वार पर घोड़े से उतर पड़ा।

कुछ ही क्षणों में यह सब हो गया, परन्तु इतनी ही देर में मैना ने घर के समस्त द्वार बन्द कर लिए थे और वह सब से भीतर की कोठरी में किवाड़ बन्द करके बैठ गई थी। द्वार पर थाप पड़ते ही वह चौंकी, पर

काँपी नहीं। ऐसे प्रसङ्ग कई बार हो चुके थे। कई थाप पड़ने पर उसने साहस किया। वह द्वार पर आई और द्वार खोल दिया। खोल कर देखा, बिलकुल उठती उम्र का वही उसका रक्षक सुन्दर युवक लाल, चमचमाता चेहरा लिए सामने खड़ा है। उसने हँसकर कहा—तुम...आप ही इस मकान की स्वामिनी हैं ? मैना ने जवाब दिया—हाँ...नहीं, मेरे स्वामी बाहर गए हैं।

"कृपा कर क्या आप मुझे क्षण भर यहाँ विश्राम करने देंगी ? कैसी आग बरस रही है ! सरकारी काम से निकलना पड़ा; पर यदि विश्राम न मिला तो मैं और घोड़ा दोनों ही मर जावेंगे। क्या आप दया करेंगी ?"

मैना का भय दूर हुआ। उसने कुछ सोचा, फिर कहा—भीतर आ जाओ। युवक भीतर घुसकर एक दृष्टि झोंपड़ी के भीतरी अङ्ग पर फेर गया। मैना ने कहा—क्या जल लाऊँ ? सङ्केत पाकर मैना जल ले आई। युवक ने जल पीकर कहा—आश्चर्य है, आप अकेली इस जङ्गल में किस तरह रह रही हैं।

"मैं अकेली नहीं हूँ, मेरे पति भी हैं। युवक ने तीव्र दृष्टि से मैना को देख कर कहा—आपके पति विचित्र-पुरुष मालूम होते हैं। आप ऐसी सुन्दरी को यह झोपड़ा ! यह वन ! इस एकान्त में वे क्या धन्धा करते हैं ? यह प्रश्न करके युवक ने तेज़ दृष्टि से मैना को देखा। मैना घबरा गई। वह कुछ न कह सकी। युवक ने एक बार घूमकर झोपड़े को फिर देख डाला।

अब मैना बोली। सरकार आदमियों से मेरे पति को घृणा है। अब तुमने जल पी लिया, ठण्डे हो गए, अब तुम चल दो, वरना मेरे पति नाराज़ होंगे।

युवक मैना के बिलकुल निकट आ गया। वह कुछ बोला नहीं। वह हँस दिया। मैना काँप उठी, पर वह भी बोली नहीं। युवक ने अपने अँगरखे का बटन दिखाकर कहा—क्या आप मुझे ज़रा सुई-डोरा देंगी ? मेरा बटन टूट गया है।

मैना ने सुई डोरा निकाल कर कहा—अँगरखा उतार दो, मैं सिए देती हूँ।

युवक ने जवाब दिया—सरकारी वर्दी उतारी नहीं जा सकती। क्या आप कृपा करके × × ×

"ठहरो, मैं सिए देती हूँ।" मैना बिलकुल युवक से सटकर बटन सीने लगी। सी कर उसने बटन खींचकर लगाया। इतनी सावधानी होने पर भी युवक का श्वास-प्रश्वास और लोहे के समान छाती का स्पर्श उस नारी से अज्ञात न रहा। वह समझ ही न सकी कि क्या हो रहा है। उसका सिर चक्कर खाने लगा। वह सुई का अन्तिम डोरा बटन से निकाल ही न सकी और मूर्च्छित हो गई।

युवक ने उसे सावधानी से बिछौने पर लिटाया और मुख पर पानी का छींटा दिया।

मैना ने आँख खोली, देखा और उठकर बोली—अब तुम जाओ, तुम यहाँ मत ठहरो।

युवक ने गम्भीर होकर कहा—मुझे खेद है, बहुत खेद है; मैं नहीं जा सकता। तुम्हारे पति ने जो अभी डाका डाला है, उसकी जाँच मुझ पर है। मैं मकान की तलाशी लूँगा।

"तलाशी !" मैना की भवें चढ़ गईं। तुम झूठे, कपटी लबार—वह

और कुछ न कह सकी।

युवक चुपचाप गालियाँ खा गया। मैना उसके नज़दीक आकर बोली—तब तुम हमारे शत्रु हो।

"मैं आपका मित्र हूँ"

"तुम ?"

"मैं"

"तुम ?"

"मैं"

मैना ने सुई उठाई और खच से युवक की बाँह में चुभो दी।

मानो कुछ हुआ ही नहीं। वह वेदना युवक ने बिना ज़रा-सी चेष्टा बदले सह ली। क्षण ही भर में मैना विचलित होगई। वह स्तब्ध खड़ी थी। युवक ने सहसा उसकी बाँह अपनी लोह-अँगुलियों से पकड़कर कहा—सुन्दरी, मैं शत्रु नहीं हूँ।

मैना ने वेदना से तड़प कर कहा—छोड़! छोड़ दो। युवक ने छोड़ दिया, मैना धरती पर गिर पड़ी।

युवक ने उसे उठाया नहीं, वह खड़ा देखता रहा। मैना ने पड़े ही पड़े कहा—तुम जाओ, मेरे मकान से निकल जाओ।

युवक ने मानो सुना ही नहीं, वह उसके पास जाकर बोला—ईश्वर साक्षी है, मैं तुम्हारा शत्रु नहीं हूँ। परन्तु कर्त्तव्य-पालन से विमुख नहीं हो सकता। मैं तलाशी लेता हूँ।

"तब तुम मित्र होकर मेरे पति को विपत्ति में डालोगे ? मैं तुम्हारी मित्रता से घृणा करती हूँ।"

"यह तुम्हारी इच्छा, पर मैं कर्त्तव्य से पीछे नहीं हट सकता।"

युवक ने तलाशी लेनी शुरू की। धीरे-धीरे घर की तमाम सामग्री उलट-पुलट होने लगी। मैना देख रही थी। एक अभूतपूर्व विषय उसके मस्तिष्क में उदय हो रहा था। वह सोच रही थी उस वज्र-छाती और वज्र-अँगुलियों की बात। एक बार उसके होंठ हिले, बहुत धीमे स्वर से उसके मुख से निकला—पुरुष, वज्र-पुरुष!

युवक ने सुना। उसने कहा—किस वज्र-पुरुष की बाबत सोच रही हो?

मैना ने क्रोध से कहना चाहा 'तुम्हारी', उसने यह बात कही भी, पर क्रोध न कर सकी। वह मुख से बात निकलते ही भयभीत-सी युवक को देखने लगी।

युवक फिर अपने काम में लगा। मैना बैठ कर रोने लगी। कर्त्तव्य छोड़कर युवक को मैना के पास आना पड़ा। उसने कहा—मुझे बहुत दुख है कि मैं आपको कष्ट देने आया हूँ, परन्तु मैं विवश हूँ। किन्तु सुन्दरी, क्या तुम इस घर और इस दशा में सन्तुष्ट हो? हाय! वह पति, जो इस स्थान पर रखकर इस तरह भूल सकता है, वह तुम्हारे इतने स्नेह, विश्वास और आदर का पात्र है!

मैना ने क्रोध से कहा—तुम अपना काम करो, मुझसे मत बोलो, उनके विषय में बुरी बात मत बोलो।

युवक मैना के बिलकुल पास बैठ गया, किन्तु कुछ बोला नहीं।

"क्या तुम्हारा कर्त्तव्य पूरा हो चुका?"

"अभी नहीं।"

"फिर अपना काम करते क्यों नहीं ?"

"मुझे आपकी मदद की ज़रूरत है !"

"मेरा वश चले तो मैं तुम्हें जान से मार डालूँ !"

युवक मुस्कराकर मैना को देखने लगा। मैना ने अनसुनी हो, उधर से मुँह फेर लिया।

"एक बात बताओगी ?"—युवक ने हठात् प्रश्न किया।

"क्या"—मैना चमक उठी।

"तुम कितने दिन से यहाँ हो ?"

"८ वर्ष से।"

"इस आठ वर्ष के जीवन में तुम इस आनन्द-शून्य वन-गृह में अपने पति की सहायता से एक सुन्दर—बिलकुल अपने ही जैसा सुन्दर—बच्चा भी न बना सकीं ?"

युवक के होठों और नेत्रों में सिपाही को न सजने वाला रस था। मैना न जाने क्यों विचलित हो उठी, उसने कहा—इसी तरह तुम कर्त्तव्य पालन करना चाहते हो ?

युवक अपनी धुन में था, उसने मानो कुछ सुना ही नहीं। उसने मानो स्वगत कहना शुरू किया—८ वर्ष में आधी आयु बीत जाती है, विशेषकर विवाह के बाद स्त्री के आठ वर्ष !

मैना उठकर दूर चली गई। वह खिड़की के पास बाहर मुँह निकालकर खड़ी हो गई। एक नई वेदना उसके मनको मथने लगी। युवक वहीं बैठा था। वह उसके पास आई और कहा—क्या तुम विवाहित हो ?

"नहीं"

"विवाह के बाद तुम क्या आदर्श चाहते हो ?"

"घर लौटने पर छोटे-छोटे बच्चों के प्यारे मुखड़े, पिता सम्बोधन और यह सब देखकर स्त्री का धीमा विशुद्ध हास्य, और उसके बाद गर्मागर्म स्वादिष्ट भोजन तथा स्त्रि-बच्चों के प्यार में डूब कर सुख की नींद।"

"सुख की नींद"—यह शब्द बेबस होकर मैना के मुख से निकल गया। वह ज़रा हँसी और बोली—मेरे शत्रु! निस्सन्देह तुम्हारा हृदय तुम्हारे शरीर की तरह कठोर नहीं है। पर तुम अबला पर ज़ुल्म करने क्यों आए हो?

युवक ने इतनी लम्बी बातें मानो सुनी ही नहीं। वह बोला—क्यों, आपको मेरा आदर्श पसन्द है?

"नहीं" मुझे अपना जीवन पसन्द है!"

युवक उदास हुआ। उसे एक चोट लगी। वह क्रुद्ध होकर बोला—तुम्हारे इस जीवन को मैं अभी नष्ट कर दूँगा। वह फिर तेज़ी से तलाशी में लग गया। मैना आश्चर्य से युवक की भाव-भङ्गी देखती रही, उसने उसे रोका नहीं। झोपड़ी के एक कोने में पुरानी धूल-भरी एक आलमारी रक्खी थी। युवक ने उसे खोलने को हाथ बढ़ाया ही था, कि मैना दौड़कर आलमारी से लिपट गई। उसने कहा—इसे तुम कभी न खोलने पाओगे। यह मेरी है, इसके भीतर—ना—ना—तुम देखने न पाओगे।

मैना घुटनों के बल बैठ गई। युवक की आँखें चमकने लगीं। उसने कहा—तब इसी आलमारी द्वारा मेरा कर्त्तव्य-पालन होगा—क्यों?

"भाड़ में जाय तुम्हारा कर्त्तव्य, उसे तुम न खोल सकोगे।"

"मैं लाचार हूँ"—उसने शब्दों के साथ ही एक झटका दिया। आल-

मारी का पल्ला उखड़ आया, पर युवक की इच्छा पूर्ण न हुई। डकैती का माल उसमें न था, उसमें थे बड़ी सावधानी से बनाए और धरे हुए छोटे से शिशु के वस्त्र, छोटे से जूते, कुछ खिलौने और कुछ मिठाइयाँ। एक भी वस्तु इनमें से काम न आई थी।

नारी-हृदय की गम्भीर गुप्त भावना इस तरह प्रगट हुई। युवक ने पीछे फिर कर देखा तो मैना धरती में पड़ी रो रही थी। युवक धीरे से उन वस्तुओं को लेकर उसके पास बैठ गया। उसने कहा—समझ गया, तुम अकेली जो कुछ बना सकती थीं, बनाकर बैठी हो; पर वह प्रेम की पुतली अभी तक नहीं बना सकी हो, क्यों?

मैना ने रोकर कहा—तुम्हारे पैरों पड़ती हूँ, तुम्हारे कर्त्तव्य को मैं पूर्ण किए देती हूँ, तुम भले ही मेरा और मेरे पति का सर्वनाश कर दो; मगर मेरी इस लालसा, इस अभिलाषा को किसी पर प्रकट न करो। चलो मैं तुम्हें चोरी का माल बताती हूँ।

युवक चकित हो गया। वह नम्रतापूर्वक खड़ा हो गया। मैना ने वे तमाम वस्तुएँ जल्दी से जलाकर खाक कर डालीं। इसके बाद उसने युवक की कमर से उसकी तलवार खींच ली। युवक ने बाधा न की। नङ्गी तलवार हाथ में ले मैना युवक की ओर बढ़ी, युवक निश्चल खड़ा रहा। क्षण भर दोनों की दृष्टि मिली। मैना ने कहा—शत्रु! क्या प्रमाण बिना पाए न टलोगे?

"नहीं"

मैना तलवार लिए और आगे आई। कुछ देर दोनों के नेत्रों ने युद्ध किया। धीरे-धीरे मैना के नेत्र, गर्दन और सिर झुकने लगे, वह खुद भी

झुकी। घुटनों के बल बैठ कर उसने तलवार की नोक पृथ्वी पर, युवक के पैरों के पास, फ़र्श के पत्थर की कोर पर गाड़ कर कहा—यह लो प्रमाण!

युवक ने सिंह की तरह उछलकर तलवार छीन ली। तत्काल पटिया उखाड़ डाली गई और चोरी का प्रायः समस्त माल बरामद हो गया।

प्रसन्नतापूर्वक युवक ने गठरी बाँधी, उसने प्रफुल्ल नेत्रों से मैना की ओर देखा—मैना रो रही थी। एक अन्तर्वेदना युवक के हृदय में उदय हुई, उसने कहा—सुन्दरी, इस सहायता के बदले तुम क्या इनाम चाहती हो?

मैना ने रोना रोक कर कहा—मुझे मालूम है कि राज्य की तरफ़ से आज्ञा निकली है कि जो कोई मेरे पति को गिरफ़्तार करेगा, या चोरी का माल बरामद करेगा, उसे बड़ा ओहदा मिलेगा, इनाम भी मिलेगा। कितने अफ़सर यहाँ आकर यहाँ से रोते गए हैं, पर तुम जाओ, ओहदा बढ़ाओ और इनाम लो। हमारा सर्वनाश हो, कोई चिन्ता नहीं; मुझे उसका विशेष दुख नहीं; पर यदि तुम—लौह युवक! मेरा एक अनुरोध मानो, मुझे बदला ही देना चाहो, तो मैं तुमसे कुछ माँगूँ?

"पति की क्षमा-प्रार्थना छोड़ कर; क्योंकि वह मेरे बस की बात नहीं।"

"मैं वह नहीं माँगूँगी। जब तुम्हारा ओहदा बढ़ जाय, तब बड़े अफ़सर की बढ़िया पोशाक पहन कर एक बार विवाह से पहले मेरे सामने हो जाना। मैं अब से तब तक उस रूप में तुम्हें देखने को तरसती रहूँगी। तुम्हें देखकर मैं समझूँगी कि ८ वर्ष तन-मन से जिसकी सेवा धर्म और ईश्वर के सामने की, उसके प्रति विश्वासघात करके कुछ पाया तो!"

मैना और कुछ कह न सकी, झरझर उसकी आखों से आसूँ बहने लगे।

युवक ने सुना, समझा, रुका, पर अन्त में धीरे-धीरे गठरी लेकर घर से बाहर हो गया।

५

रात के १० बजे नन्दू झूमता-झामता और बड़बड़ाता आया। आते ही चारपाई पर पड़ गया। पड़े ही पड़े उसने स्त्री से अपने कपड़े उतारने और पैरों की धूल झाड़ देने के लिए कर्कश स्वर में हुक्म दिया।

मैना जब यह सेवा कर चुकी तो उसने नन्दू से खाने के लिए पूछा। नन्दू ने खाने से इन्कार करते हुए दो-चार असभ्य गाली बककर कहा—बाएँ हाथ में बड़ा दर्द है, ज़रा तेल की मालिश तो कर दे। मैना अन्यमनस्क भाव से उठी। आस्तीन ऊँचा कर तेल मलने लगी। बाँह पर हाथ फेरते ही उसे ढीली-ढाली मैली दुर्गन्धित देह कुछ अप्रिय-सी प्रतीत हुई। हठात् उसे युवक की वज्र बाहु और वज्र-उँगलियों का स्मरण हो आया। वह अनमने भाव से शिथिल उँगलियों से तेल मालिश करने लगी।

नन्दू गर्मा उठा, उसने कहा—क्या हाथों का दम ही निकल गया है, ज़रा अच्छी तरह क्यों नहीं मालिश करती?

मानो मैना ने सुना ही नहीं। उसका हाथ और भी शिथिल हो गया। नन्दू ने मैना को लात जमा दी। मैना ने तेल के पात्र में एक ठोकर देकर सिंह की तरह गर्ज कर कहा—अपनी देह को ख़ुद सम्हालो तुम्हारी बाँदी नहीं हूँ। कभी दर्द, कभी रोग, भाड़ में जाय, यह सब मुझसे न होगा।

नन्दू चकित हुआ। आज मैना का यह बिलकुल नया साहस कैसा? नन्दू उठा, उसने मैना से कहा—तेरा यह साहस, तेरी शामत आई है?

मैना ने नन्दू को ढकेलकर कहा—दूर रहो मुझे बास आती है।

धक्का खाकर नन्दू गिरा। वह कुछ समझ ही न सका। क्षणभर बाद

उसने एक बाँस की लाठी उठा ली और रूई की तरह मैना को धुन डाला। मैना धरती में गिरकर तड़पने लगी।

नन्दू ने कहा—तेल मल!

"हरगिज़ नहीं"

नन्दू ने और मारा—मैना बेहोश हो गई!

६

युवक तीर की तरह ऑफ़िसर के घर की तरफ़ चला। द्वार पर आकर उसके पैर जम गए। मानो बेसुध हो रहा हो। वह वहीं एक ओर बैठकर सोचने लगा। वह एक मूर्त्ति का ध्यान करने लगा। किस तरह चुपचाप उसे मैंने अपनी तलवार निकाल लेने दी, किस तरह वह धीरे-धीरे मेरी छाती तक तलवार की नोक ले आई। अगर वह उसे छाती में सुई की तरह ही घुसेड़ देती तो क्या मैं उसे रोकता? कदापि नहीं। फिर मैं मर्द क्या हुआ। वह घाव तो हज़ार बार खाता, परन्तु आँखों के घाव का क्या किया जाय? वह आँखों की बर्छी कलेजे में पार करती हुई धरती में बैठ गई। उसी तलवार की नोक से उसने पत्थर उखाड़, चोरी का माल मुझे दिया। शत्रु से ही शत्रु मारा गया। परन्तु यह अबला स्त्री हाथ में तलवार पाकर भी विश्वासघात न कर सकी। शत्रु को पानी पिलाया, शत्रु को शायद प्यार किया, उसे जीवन दान दिया, और अब वह उसे एक बार बड़े हुए ओहदे पर नई पोशाक पहने देखने के लिए अपना और अपने पति का सर्वनाश कर गई। ओह रे स्त्री!

परन्तु मैं? अभी क्षण भर बाद मैं नवीन पदवी और वेश धारण कर उसकी आँखों की साध मिटा सकता हूँ। माता कितने उल्लास से मेरी विजय-

कहानी सुनेगी। परन्तु वह—वह कितने क्षण यह देख सकेगी। फिर वह विजय किस वीरता की है? हे परमेश्वर! क्या मैं उसके विश्वास, वीरत्व, प्रेम और स्त्रीत्व के प्रति विश्वासघात नहीं कर रहा हूँ। यही मेरा पौरुष है, धिक्कार है इस पर!

युवक गठरी को छाती से लगाकर रोने लगा। वह वहीं लेट गया।

७

प्रभात होने लगा था। चिड़ियाँ चहक रही थीं। कुटिया का द्वार धीरे से किसी ने खटखटाया। नन्दू ने आलस्य से उठकर, झाँककर देखा—सिपाही द्वार पर खड़ा है।

नन्दू घबरा कर मैना के पास जाकर बोला—सरकारी कुत्ता है, तू ज़रा उसे हँस-बोलकर बातों में लगाना, मैं तब तक माल इधर-उधर कर दूँ।

मैना उठी। उसने झाँककर देखा, नन्दू को चले जाने का सङ्केत किया। नन्दू पीछे के द्वार से चला गया। मैना ने द्वार खोला, युवक भीतर आया।

मैना अचल खड़ी रही। युवक ने पोटली मैना के सामने रखकर कहा—सुन्दरी! मेरी नीचता को क्षमा करना। ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे।

युवक लौट गया। मैना ने द्वार रोककर कहा—तुम्हारे सिपाही कहाँ हैं?

"मैं सिपाही नहीं रहा!"

"तब तुम अफ़सर हो गए?"

"मैं साधारण मनुष्य रह गया!"

"क्या ओहदा नहीं मिला?"

"नहीं"

"क्या अफ़सर को विश्वास नहीं आया ?"

"मैंने यह गठरी पेश ही नहीं की, मैं वैसी ही लौटा लाया हूँ।"

"क्यों ?"

"तुम्हारे विश्वास पर विश्वासघात करना शक्य न था !"

मैना ने एक बार युवक और गठरी को देखकर कहा—बुरा किया; अब ?

"मैं गिरफ़्तार होने जा रहा हूँ—मैं कर्तव्य नहीं कर सका, मैं साफ़-साफ़ कह दूँगा।"

युवक दो क़दम चला।

मैना ने हाथ पकड़ लिया। उसने कहा—देखो, यह कह कर अपनी कमर का वस्त्र उधेड़ डाला। कमर चोट से लोहू-लुहान थी।

"किस पशु का यह काम है ?"

"मेरे पति का !"

"वह कहाँ है ? मैं उसे......"युवक होंठ चबाने लगा !

नन्दू मुस्कराता हुआ भीतर आया और झुककर युवक को सलाम किया।

युवक ने कहा—नीच, कायर, पशु, अधम !

नन्दू तनकर खड़ा हुआ। उसने कहा—सरकार के आदमी हो तो गाली क्यों देते हो ?

युवक ने मैना का शरीर दिखाकर कहा—अरे नीच, तेरा यह अत्याचार ?

नन्दू हँसकर बोला—ओफ़ ! यहाँ तक तुम लोगों की घनिष्ठता है।

मुझे मालूम न था। तो तुम लोगों की यह पहली ही मुलाक़ात नहीं है, क्यों? पर महाशय! यह मेरी स्त्री है, तुम स्त्री-पुरुषों के बीच में क्यों पड़ने आए हो? इसके बाद उसने साँड़ की तरह डूँकते हुए मैना से कहा—पुंश्चली अभागिनी! भीतर जा!

मैना गई नहीं। नन्दू मारने चला। मैना युवक से लिपट गई। युवक ने तलवार निकाल कर कहा—एक हाथ भी छुआ तो सिर भुट्टा-सा उतार दूँगा।

नन्दू हाँफता-हाँफता बैठ गया। युवक ने कहा—ऐ सुन्दरी! क्या तुम मेरा प्रेम स्वीकार करती हो? मैं तुम्हें धर्म से पत्नी बनाना स्वीकार करता हूँ। यह पशु तुम्हारे योग्य नहीं।

मैना बैठ गई, कुछ बोली नहीं। नन्दू ने कहा—पराई स्त्री को फुसलाने की तुम्हारी यह चेष्टा घृणा के योग्य है। तुम मेरे घर से निकल जाओ।

युवक ने क्रोध से अधीर होकर कहा—मैं इसे लिए जाता हूँ, तुम रोक सको तो रोको।

नन्दू उठा। युवक ने मैना का हाथ पकड़कर कहा—चलो।

नन्दू ने हठात् लाठी का एक भरपूर हाथ युवक पर दे मारा। युवक ने हाथ बचाकर तलवार निकाल ली। क्षणभर ही में नन्दू धरती में गिर गया। लोहू की धार बह चली। युवक मैना का हाथ पकड़कर ले चला।

कष्ट से कराह कर नन्दू ने कहा—मैना! प्यारी मैना! आज इस तरह मेरा अन्त हुआ। तुमने १० वर्ष रात-दिन मेरी सेवा की, जैसे तुम हाड़-माँस की बनी ही नहीं हो। आज किस जादू ने तुम्हें अपने पति से इतनी

दूर कर दिया। मैना! प्यारी, हाय! मैंने तुम्हें बड़ा दुख दिया। अब मैं मर रहा हूँ। पर प्रिये! तुम जाओ, सुखी रहो। परन्तु एक बूँद पानी क्या तुम अन्तिम बार अपने पति को, अपने प्यारे हाथों से न पिलाओगी, प्यारी मैना?

मैना आगे न बढ़ सकी। वह रुकी, मुड़ी—वह पति की ओर दौड़ी और रोते-रोते उससे लिपट गई। उसने शीतल जल का पात्र पति का सिर उठाकर उसके मुख से लगाया।

पानी पीकर नन्दू ने कहा—मैना! बिदा। प्यारी मैना! मैंने तुम्हें जगत् में इतना प्यार किया, जितना कोई न करेगा। सुनो सुनो, अन्तिम बार पास आओ पास। मैना पति पर झुकी और क्षणभर ही में चीत्कार करके तड़प उठी। गर्म रक्त की एक और धार उठी, युवक ने देखा—अवसर पाकर नन्दू ने छुरी मैना के कलेजे में भोंक दी है।

युवक ने दौड़कर मैना को उठाया। मूर्च्छा खुलने पर मैना ने अपने को युवक की गोद में देखा। धीरे-धीरे उसने अपनी शक्ति सञ्चय करके अपनी बाँहें युवक के गले में डालकर कहा—मेरे प्यारे दुश्मन! आखिर इस तरह ठगे गए, परन्तु एक प्यार तो दे ही दो। मैना ने प्यासे होंठ ऊपर को उठाए। युवक के आँसुओं से भीगे मुख को दो-तीन बार चूमा और गोद में गिर गई।

युवक ने अफ़सर के सम्मुख अपने कर्त्तव्य-विमुख होने का प्रमाण देकर १० वर्ष का कठिन कारागार प्राप्त किया।

प्रतिशोध

मैं रेलगाड़ी द्वारा यात्रा करने के समय अपने सहयोगियों से बहुत कम बोलता हूँ। आस-पास के प्राकृतिक सौन्दर्य-दर्शन से जब जी उचटता है, तो कोई पुस्तक पढ़ने लगता हूँ या आँखें मूँद कर सो जाता हूँ। इसीलिए जब कलकत्ता से दिल्ली के लिए चलने लगा तो आलमारी से कुछ अच्छे उपन्यास और दो-तीन मासिक पत्र हैण्डबेग में रख लिए, ताकि कल सबेरे पटने से आगे की यात्रा आरम्भ होने पर साहित्य-चर्चा में ही समय बिता दूँगा। परन्तु मेरी यह भविष्य-चिन्ता बिलकुल बेकार साबित हुई। क्योंकि पटना जङ्कशन पर गाड़ी के डिब्बे का द्वार खोल कर अन्दर पैर रखते ही पण्डित मुरलीधर ने उच्च स्वर से 'स्वागतम् महाभाग' कहने के पश्चात् प्रश्न किया—क्यों, कहाँ चले?

मैंने हाथ जोड़ कर पण्डित जी को प्रणाम करने के बाद कहा—मैं तो दिल्ली जा रहा हूँ; और आप?

"मैं भी कानपुर होकर मथुरा जाऊँगा। यमद्वितीया के अवसर पर विश्रान्तघाट पर स्नान होंगे। यहाँ एक मित्र से मिलने आया था। आप खूब मिले। आनन्द से यात्रा होगी।"

इसके बाद बिस्तरा खोल कर उन्होंने खाली बेञ्च पर फैला दिया और इतमीनान से बैठ कर सुँघनी सूँघने लगे। तीर्थ-स्थानों का प्रसङ्ग छिड़ा, पण्डित जी ने बाबा विश्वनाथ की पुरी का वर्णन आरम्भ किया। काशी तीन लोक से न्यारी है। कहने को तो लोग प्रयाग को तीर्थराज कहते हैं, शास्त्रों ने उसकी महिमा का भी बहुत बखान किया है, परन्तु काशी सी चहल-पहल वहाँ कहाँ? काशी को देख लिया तो समझ लो कि सारे भारतवर्ष की सैर हो गई! क्यों, आपकी क्या राय है?

मैंने मुस्कुराते हुए कहा—इसमें क्या सन्देह!

इसके बाद, मथुरा तो आपने देखा होगा? कानपुर कैसा शहर है? लखनऊ के नवाबों ने भी खूब ऐश किए, भई, सच पूछो तो नवाबी का आनन्द जैसा वाजिदअली शाह ने लूटा वैसा शायद ही किसी बादशाह या नवाब को नसीब हुआ हो। इसके बाद—स्वराज कब मिलेगा, आन्दोलन का क्या हाल है? कलकत्ते में क्या हो रहा है? इत्यादि।

तात्पर्य यह कि पण्डित जी का प्रत्येक प्रश्न एक विस्तृत विवरण का मुहताज था। मैं अपनी जानकारी के अनुसार उन प्रश्नों का उत्तर देता रहा। बीच-बीच में जिरह भी होती रही और प्रतिवाद भी।

दिल्ली एक्सप्रेस अपनी पूरी चाल से जा रहा था। मैं प्रकृति की शोभा देखता और पण्डित जी के गूढ़ प्रश्नों का यथासाध्य उत्तर भी देता जाता था। पण्डित जी ने पटने का वर्णन आरम्भ किया। उसका ऐतिहा-

सिक विवरण भी सुनाने लगे और एक से एक कठिन प्रश्न भी करते जाते थे। अन्त में उनकी बातों और प्रश्नों से ऊब कर मैंने हैण्डबेग खोल कर 'विशाल भारत' की एक प्रति निकाली और पण्डित बनारसीदास जी चतुर्वेदी का लिखा हुआ 'श्रद्धेय गणेशजी' शीर्षक लेख पढ़ने लगा। अमर शहीद की पवित्र स्मृति ने हृदय में एक विचित्र स्पन्दन पैदा कर दी। चतुर्वेदी जी के सीधे सादे शब्दों में—आडम्बरहीन भाषा में एक गम्भीर वेदना भरी हुई थी। पढ़ते-पढ़ते मेरी आँखें छलछला उठीं। इतने में पण्डित जी ने पास ही पड़ी हुई 'माधुरी' की प्रति खींच ली और द्विजश्याम की 'गज़ें' शीर्षक कविता उच्च स्वर से गा-गाकर पढ़ने लगे। हमारी गाड़ी मुग़लसराय की ओर दौड़ रही थी। उसकी घड़घड़ाहट और पण्डित जी के पञ्चम स्वर ने एक विचित्र ध्वनि पैदा कर दी, और दो यात्री जो पास की बेञ्चों पर मुँह छिपाए सो रहे थे, कुलबुलाने लगे। पहले एक वृद्धा ने रज़ाई से मुँह निकाला। इसके बाद दूसरी बेञ्च में दोशाला से मुँह निकाल कर एक युवती ने चकित दृष्टि से पहले पण्डित जी की ओर फिर मेरी ओर देखा। महिला की दृष्टि में स्वाभाविकता थी। वह अँगड़ाई लेकर उठ बैठी और मेरा ध्यान अपनी ओर आकर्षित करके बोली—बाबू जी, क्षमा कीजिएगा। क्या पटने का स्टेशन निकल गया?

मैंने उत्तर दिया—हाँ, बड़ी देर हुई।

थोड़ी देर चुप रहने के बाद उसने पण्डित जी की ओर देख कर प्रश्न किया—अब चाय कहाँ मिलेगी?

परन्तु जब पण्डित जी ने उसके प्रश्न का कुछ उत्तर देने के बदले भ्रूकुञ्चित करके उसकी ओर से अपना मुँह फेर लिया तो मैंने कहा—मुग़ल-

सराय आ गया है, वहाँ आपको चाय मिल जायगी।

उसने कृतज्ञतापूर्ण दृष्टि से मेरी ओर देख कर फिर पूछा—आप कहाँ जा रहे हैं?

मैंने उत्तर दिया—दिल्ली। इसके बाद और कई प्रश्न हुए। जैसे—वहाँ आप क्या करते हैं? निवास-स्थान कहाँ है? आपका शुभ नाम? इत्यादि।

मैं बहुत थोड़े शब्दों में उसके प्रश्नों का उत्तर देता जा रहा था। इतने में गाड़ी आकर मुग़लसराय के स्टेशन पर खड़ी हो गई। स्त्री ने एक हिन्दू चाय वाले से एक कुल्हड़ चाय लेकर पी। इसके बाद एक सिगरेट जला कर पीते-पीते बोली—पण्डित जी, आपका गाना तो बड़ा सुन्दर हो रहा था, परन्तु आपने बन्द क्यों कर दिया? गाइए!

बेचारे पण्डित जी तो पहले से ही उसकी लापरवाही और बातचीत करने का ढङ्ग देख कर नाक-भौं सिकोड़े बैठे थे। उस पर से गाने की फ़रमाइश सुनी तो और भी अप्रसन्न हुए और घृणासूचक दृष्टि से उसकी ओर देख कर मुँह फेर लिया।

पण्डित जी का यह भाव देख कर बड़ी मुश्किल से मुझे अपनी हँसी रोकनी पड़ी। थोड़ी देर के बाद मैंने पण्डित जी से पूछा—आख़िर आप नाराज़ क्यों हो रहे हैं?

उन्होंने क्रुद्ध होकर उत्तर दिया—चुप भी रहो। एक भ्रष्टा, कुलटा से बातें करते तुम्हें लज्जा भी नहीं आती। राम-राम!!!

पण्डित जी की इस बात पर मैं तो मुस्कुरा कर चुप हो गया। परन्तु बेचारी रमणी कुछ खिन्न-सी हो गई और वेदना-भरे स्वर में बोली—हाँ

पण्डित जी, मैं एक कुलटा स्त्री हूँ, रण्डी हूँ। भगवान ने मुझे इस अवस्था में डाल दिया है।

अन्तिम बात कहते-कहते उसकी आँखों से दो बूँद आँसू निकल कर उसके गुलाबी गालों पर लुढ़क गए।

मेरे लिए वह दृश्य बड़ा ही मर्मभेधी था, परन्तु पण्डित जी ने घृणा-व्यञ्जक हँसी के साथ कहा—ओ हो, देखा यह ढोंग !

अब मुझ से नहीं रहा गया। मैंने किञ्चित भर्त्सना के साथ पण्डित जी से कहा—जाने दीजिए, क्यों बेचारी को तङ्ग कर रहे हैं। कोई अच्छा हो या बुरा, आपका क्या लेता है ?

इसके बाद स्त्री को आश्वासन देता हुआ बोला—आप नाहक़ दुखी हो रही हैं। यह तो संसार है। कोई किसी को अच्छा समझता है और कोई बुरा। वास्तविक अच्छाई या बुराई की परख करने वाले यहाँ बहुत थोड़े हैं।

उसने एक दीर्घ निश्वास के बाद कहा—वास्तव में मैं एक भ्रष्टा स्त्री हूँ और आबरू बेच कर पेट पालती हूँ। परन्तु मैंने क्यों इस निकृष्ट पथ का आश्रय लिया है, यह पूछने वाला इस संसार में कोई नहीं है, मुझे यही दुःख है।

पण्डित जी एक विजयी वीर की तरह उसकी बातें सुन कर मुस्कुरा रहे थे। परन्तु मैंने उसके कष्ट का अनुभव किया और इस प्रसङ्ग को यहीं समाप्त कर देने की इच्छा से बोला—आप कितनी ही पथ-भ्रष्टा क्यों न हों, परन्तु आपके अन्दर एक पवित्र हृदय है।

"और नसों में रक्त भी !"—उसने उत्तेजित स्वर से मेरे अधूरे वाक्य

को पूरा किया। उसका चेहरा क्रोध से तमतमा उठा था और गालों की लालिमा स्वाभाविकता की सीमा का उल्लङ्घन कर रही थी। उसने एक बार तीव्र दृष्टि से पण्डित जी की ओर देख कर कहा—मुझे भ्रष्टा कहने वाले भ्रष्ट हैं—नीच हैं। अपने को पवित्रता और भद्रता के वाह्याडम्बर में छिपाने वाले भ्रष्ट हैं। धर्म-ढोंगी—दूसरों को पवित्रता का उपदेश देने वाले सब नीच हैं। सारा समाज नीच है। मैंने समाज को—विशेषकर हिन्दू-समाज को, जहाँ पवित्रता की डींग मारने वालों की भरमार है—अच्छी तरह देख लिया है। सारे समाज में 'पर उपदेश कुशल बहुतेरे' भी पड़े हैं। वे दूसरे की आँखों की फूली देखते हैं, परन्तु अपनी आँखों का शहतीर नहीं देखते। यहाँ पण्डित के वेष में, धर्म-ध्वजी के वेष में, साधु और महात्मा के वेष में, हज़ारों नहीं, लाखों पापी, पाखण्डी मौजूद हैं। वे लोग की आँखों में धूल झोंक कर दुराचार करते हैं और मैं प्रत्यक्ष × × ×।

बोलते-बोलते उसकी आवाज़ लड़खड़ाने लगी, आँखें लाल हो गईं और शरीर थरथराने लगा। मुझे भय हुआ कि कहीं उसे ग़श न आ जाए। मैंने उसके साथ की बुढ़िया से कहा—देखती क्या हो, एक गिलास पानी पिला कर इन्हें लिटा दो। इनका मस्तिष्क कुछ गरम हो गया है। अब अधिक बोलेंगी तो बेहोश हो जायँगी।

बुढ़िया ने मेरे आदेश का अक्षरशः पालन किया। पण्डित जी सन्नाटे में आकर मेरा मुँह ताक रहे थे। थोड़ी देर के बाद बोले—अगले स्टेशन पर गाड़ी खड़ी हो तो हम लोगों को दूसरे डब्बे में चला जाना चाहिए। इस स्त्री का मस्तिष्क कुछ विकृत मालूम पड़ता है। सम्भव है, कोई उत्पात कर बैठे।

मैंने पण्डित जी की बातों का कोई उत्तर नहीं दिया। मन में विचित्र प्रकार की भाव-तरङ्गें उठ रही थीं। हिन्दू-समाज पर रमणी ने जो आक्षेप किए थे, वे मानो कानों में गूँज रहे थे। मैं अपनी सामाजिक अवस्था पर विचार करने लगा। मेरी दृढ़ धारणा हो गई कि यह रमणी भी समाज की ही सताई हुई है। किसी सामाजिक रूढ़ि ने ही इसे वेश्या-जीवन व्यतीत करने के लिए विवश किया है। यह कैसे वेश्या बनी, पहले कौन थी, यह जानने के लिए मैं उत्सुक होने लगा। गाड़ी बेतहाशा भागी जा रही थी और मेरे मन महाराज भी अपने ख़्याली घोड़े पर चढ़े सरपट दौड़ रहे थे। अगला स्टेशन आया और निकल भी गया।

एक घण्टा योंही गुज़र गया। रमणी फिर उठ बैठी। उसके चेहरे पर स्वाभाविक शान्ति विराज रही थी। भीषण तूफ़ान के बाद मानो प्रकृति ने निस्तब्ध भाव धारण कर लिया हो। मैंने उससे पूछा—कहिए, आपकी तबियत अब कैसी है?

उसने मुस्कुरा कर उत्तर दिया—मैं बीमार थोड़े ही हूँ। मैं एक अत्याचार-पीड़िता स्त्री हूँ। मेरी पवित्र भावना निर्दयतापूर्वक कुचल डाली गई है। मेरा हृदय पका फोड़ा बन गया है, इसीसे ज़रा भी ठेस लगते ही वह फूट पड़ता है।

मैंने सङ्कुचित भाव से कहा—मुझे क्षमा कीजिएगा। आपका परिचय जानने के लिए मेरा मन बहुत उत्सुक हो रहा है। अगर आपको कोई आपत्ति न हो तो × × ×

उसनें बीच में ही बात काट कर कहा—मैं एक साधारण वेश्या हूँ। बस, यही मेरा परिचय है।

मैंने कहा—परिचय से मेरा मतलब आपके वर्त्तमान जीवन से पूर्व की कथा से था। परन्तु मैं आपको इसके लिए विशेष कष्ट नहीं देना चाहता।

थोड़ी देर तक चुप रहने के बाद उसने कहा—मेरी रामकहानी सुनना चाहते हैं? अच्छा ठहरिए, ज़रा हाथ-मुँह धोकर खा लूँ तो सुनाती हूँ। परन्तु मेरी पापपूर्ण रामकहानी में कोई रोचकता न होगी।

मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया।

२

वह कहने लगी—मैं कौन हूँ, किसकी लड़की हूँ और कहाँ की रहने वाली हूँ, यह न बताऊँगी। क्योंकि अपने पूज्य पिता-माता के नाम को कलङ्कित करना मुझे स्वीकार नहीं है और न उनका नाम-धाम जानने के लिए आपको ही कोई उत्सुकता होनी चाहिए।

मैंने कहा—अच्छी बात है, आप जो कुछ सुनाएँगी, वही काफ़ी होगा। उससे अधिक कुछ जानने की मैं बिलकुल चेष्टा न करूँगा।

वह कहने लगी। अच्छा तो सुनिए! मेरे पिता संयुक्त प्रान्त के एक शहर के प्रतिष्ठित हिन्दू थे। मैं और मेरी बड़ी बहिन के सिवा उनके और कोई सन्तान न थी। इसलिए वे हमें पुत्र की तरह मानते थे। यथा-साध्य उन्होंने हमें कुछ पढ़ाया-लिखाया भी था। मेरी माता का देहान्त मेरे बचपन में ही हो गया था। घर में पिता जी की एक वृद्धा चाची थीं, वही हम दोनों बहिनों की देख-रेख किया करती थीं। साथ ही पिता जी को दूसरा विवाह कर लेने का भी परामर्श दिया करती थीं। पहले तो पिता जी इसके लिए राज़ी नहीं होते थे, परन्तु अन्त में अपनी चाची तथा अन्यान्य शुभ-चिन्तकों के बहुत समझाने-बुझाने पर राज़ी हो गए।

विवाह हो गया, हमारी सौतेली माँ घर आ गई। साथ ही हम लोगों के लिए दुर्भाग्य भी लेती आईं। क्योंकि उनके आने के कुछ दिन बाद से ही पिता जी के स्वभाव में विशेष परिवर्तन दिखाई देने लगा। अब वे पहले की तरह हम लोगों से स्नेह नहीं करते थे। हम लोगों के भरण-पोषण आदि का भार भी सौतेली माँ पर ही छोड़ कर वे निश्चिन्त हो गए। दादी अर्थात् पिता जी की वृद्धा चाची की भी अब कुछ नहीं चलती थी। हम सभी एक तरह से नई माता जी के गुलाम बन गए। उनकी आज्ञाओं का पालन करना और उनकी जली-कटी बातें बर्दाश्त करना हम लोगों का परम कर्तव्य हो गया। पिता जी उनके विरुद्ध एक शब्द भी सुनना नहीं चाहते थे। सुनकर भी कुछ प्रतिकार करने की शक्ति उनमें न थी। क्योंकि हमारी नवीन माँ समय-समय पर उन्हें भी फटकार दिया करती थीं।

अन्त में बहिन का विवाह हो गया और वह अपनी ससुराल चली गईं। बुढ़िया दादी का भी देहान्त हो गया। उस समय मेरी उम्र चौदह पन्द्रह साल की थी। माता-पिता में कभी-कभी मेरे विवाह की चर्चा होने लगी। बहुधा इस बिषय को लेकर दोनों में घण्टों तक तर्क-वितर्क भी हो जाता था। मैंने छिप कर कई बार उनकी बातें सुनने का प्रयत्न भी किया, पर कुछ समझ न सकी। अन्त में पता चला कि यह झगड़ा रुपये-पैसे को लेकर हुआ करता था। क्योंकि माता जी मेरे विवाह में अधिक रुपए खर्च करने का विरोध किया करती थीं और पिता जी को मेरे लिए ऐसा वर ढूँढ़ने का परामर्श देती थीं, जो साधारण स्थिति का हो और थोड़े तिलक-दहेज़ पर ही विवाह करने को राज़ी हो जाय।

मेरी सौतेली माता के नैहर का एक अधेड़ मनुष्य अक्सर हमारे घर

आया करता था। माता जी उसे अपना भाई बताया करती थीं और न जाने क्यों उससे उनकी खूब बनती थी। उसके आने पर बड़ी तत्परता से उसकी आवभगत किया करती थीं। माता जी का धर्म-भाई होने के कारण मैं भी उसके सामने होती थी। सुनने में आया कि वह पुलिस का दारोग़ा है और बड़ा मालदार आदमी है।

एक दिन दाई की ज़बानी मालूम हुआ कि माता जी उसी के साथ मेरा विवाह कर देना चाहती हैं। पहले तो मुझे इस बात पर विश्वास ही नहीं हुआ। परन्तु अन्त में मालूम हुआ कि ख़बर सोलह आने सच थी। यद्यपि पिता जी इस बात पर राज़ी न थे, परन्तु माता जी के आदेश के विरुद्ध कुछ करना भी उनके लिए सम्भव न था।

मैंने यह हाल सुना तो मुझे बड़ा दुःख हुआ। क्योंकि मैं उसे फूटी आँख भी देखना नहीं चाहती थी। उसकी सूरत-शक्ल भी अच्छी न थी। चेहरे पर और बातचीत में उद्दण्डता भरी थी। परन्तु माता जी मेरे सामने उसके रूप-रङ्ग और विद्या-बुद्धि की बड़ी प्रशंसा किया करती थीं। मानो मेरे लिए उससे बढ़ कर उपयुक्त वर संसार में दूसरा कोई था ही नहीं।

एक दिन उसी दाई की ज़बानी मालूम हुआ कि दरोग़ा जी के साथ मेरे विवाह की बातचीत पक्की हो गई। मेरे सिर पर मानो वज्रपात हो गया। कलेजा धड़कने लगा। मैं घण्टों तक छिप कर रोती रही। अन्त में कई दिनों के बाद मैंने अपनी बहिन को एक पत्र लिखा। मुझे विश्वास था कि बहिन कदापि इस विवाह का समर्थन न करेगी। परन्तु मालूम नहीं, वह पत्र मेरी बहिन को मिला या नहीं क्योंकि उसका कोई उत्तर नहीं

आया। परन्तु इस घटना के बाद से मेरी सौतेली माँ मुझसे तनी सी रहने लगीं और समय-समय पर ताने-वाने देने लगीं।

इतने में एक दिन सुना कि विवाह का दिन निर्धारित हो चुका है और शीघ्र ही तिलक भेजा जाने वाला है। अब तो मेरी बेचैनी और भी बढ़ गई। यहाँ तक की चिन्ता के मारे मैंने कई दिनों तक भोजन नहीं किया। दिन-रात एक कोठरी में पड़ी-पड़ी रोया करती थी। पिता जी को शायद यह मालूम हो गया था कि मैं इस विवाह से प्रसन्न नहीं हूँ। क्योंकि एक दिन उनमें और माता जी में बड़ी देर तक बातें होती रहीं। यहाँ तक कि अन्त में दोनों में झगड़ा भी हो गया। माता रूठ बैठीं और बार-बार नैहर चली जाने के लिए धमकी देने लगीं। परन्तु फिर सारा झगड़ा तै हो गया और सुनने में आया कि पिता को कोई कठिन रोग हो गया है, इसलिए दवा कराने के लिए कलकत्ता जाने वाले हैं। मुझे विश्वास हो गया कि विवाह कम से कम इस साल के लिए तो टल गया। परन्तु पिता जी के जाने के तीसरे रोज़ ही हमारी सौतेली माँ के एक भाई आए और उन्होंने पुरोहित जी के मार्फ़त तिलक भेजवा दिया। आठ दिन के बाद ही विवाह का दिन निर्धारित हो गया। मेरी तमाम आशा-भरोसा पर पानी फिर गया। रहस्य कुछ समझ में नहीं आया। पिता जी के हठात् रोगग्रस्त हो कर चले जाने पर भी बड़ा आश्चर्य हुआ। मेरे लिए रोने के सिवा और कोई उपाय नहीं रह गया। विवाह की तैयारी ख़ूब जल्दी-जल्दी होने लगी। इधर माता जी मेरे ऊपर सतर्क दृष्टि भी रखने लगीं। कोई मेरे पास नहीं आने पाता था। विवाह का नेवता भी शायद किसी रिश्तेदार को नहीं दिया गया। गाँव में प्रचार कर दिया गया कि पिता जी की बीमारी के कारण विवाह में उत्सव

आदि नहीं होगा। वर महोदय केवल पुरोहित और नाई के साथ आकर बिना आडम्बर के विवाह करके बहू को ले जायँगे। यह बातें सुन कर मेरी चिन्ताग्नि और भी धधक उठी। दिन-रात रोते-रोते मेरी आँखें सूज गईं। माता जी ने पिता की बिमारी का ज़िक्र करके मुझे बहुत समझाया-बुझाया। उनके भाई ने भी मुझे समझाने-बुझाने और वर महोदय के धन-ऐश्वर्य का बखान करने में कोई बात उठा न रक्खी। परन्तु चिन्ता बढ़ती ही गई। जी में आता था कि आत्म-हत्या कर लूँ। परन्तु माता जी सदैव सतर्क रहती थीं, अन्त में हल्दी-तेल चढ़ने का दिन आया। आँगन में मङ्गल-घट स्थापित हुआ। मैं ज़बरदस्ती घसीट कर वहाँ लाई गई। अन्याय कृत्यों के बाद जब नाइन हल्दी-तेल लेकर आगे आई, मैंने उसके हाथ से पात्र लेकर दूर फेंक दिया। माता जी इस पर बहुत नाराज़ हुईं और बलपूर्वक मुझे गिरा कर हल्दी-तेल चढ़ाने की रस्म अदा की गई। इसी तरह एक दिन विवाह की रस्म भी अदा हो गई। मैंने 'गौर-गनेस' को तोड़ डाला, पैरों की ठोकर से मङ्गल-घट फोड़ दिया और जब वर महोदय सिन्दूर-दान करने आए तो उन्हें ऐसा धक्का दिया कि बेचारे चारो खाने चित ज़मीन पर भहरा पड़े। जब मैं किसी तरह क़ाबू में न आई, तो मेरी सौतेली माँ मेरे हाथ-पैर बाँध कर मुझे एक कोठरी में ढकेल कर किवाड़ बन्द करती हुई बोलीं—'अब रोओ चाहे गाओ, जो होना था, वह हो गया।'

मैं उस समय क्रोध, चिन्ता और ग्लानि से अधमरी-सी हो रही थी। कई दिनों तक भोजन आदि न करने के कारण मेरा शरीर अवसन्न हो गया था। मैं थोड़ी देर के बाद बेहोश हो गई।

जब होश हुआ तो देखा कि बन्धन खुले हुए हैं। घर में दिया जल रहा है और वर महोदय दरवाज़े की सिटकिनी बन्द कर रहे हैं। मैं देखते ही बड़े ज़ोरों से चीख़ उठी और वहाँ से निकल भागने के लिए दरवाज़े की ओर लपकी, परन्तु उन्होंने बीच में मुझे पकड़ कर ज़बरदस्ती घसीटते हुए ले जाकर पलङ्ग पर लिटा दिया। मैं बहुतेरा चीख़ी-चिल्लाई, अपने आबरू की रक्षा के लिए कई जगह उन्हें दाँतों से काट डाला। इस हाथापाई में मुझे भी चोटें आईं, परन्तु मैंने उनकी मनोकामना पूरी न होने दी। इसके बाद उन्होंने माता जी को बुलाया, मैं उनके पैरों पर गिर पड़ी और बड़ी आरज़ू-मिन्नत की कि मुझे यहाँ से निकल जाने दो, परन्तु उन्होंने एक न सुनी, मैं फिर बलपूर्वक ज़मीन पर गिरा दी गई और मेरे हाथ-पैर रस्सी से बाँध दिए गए। माता जी ने मेरे मुँह में कपड़ा ठूँस दिया और मुझे वहीं छोड़ कर कमरे से बाहर चली गईं।

इसके बाद क्या हुआ, उसका वर्णन करना मेरी जैसी एक वेश्या के लिए भी सम्भव नहीं है।

यह कहते-कहते फिर उसका चेहरा तमतमा उठा। आँखों से मानो क्रोध की चिनगारियाँ निकलने लगीं। बेचारे पण्डित जी उसकी यह हालत देख कर सहम गए। मैं भी बड़े पशोपेश में पड़ गया और बुढ़िया से फिर एक गिलास पानी देने का इशारा करके बोला—बस, अब रहने दीजिए। फिर कभी आपकी कहानी सुन लूँगा। इस समय ज़रा सा लेट जाइए।

उसने एक लम्बी साँस खींच कर उत्तर दिया—आप घबराइए नहीं, मेरी तबीयत ठीक है।

इसके बाद उसने फिर एक पान खाया और मेरी ओर मुँह करके कहने लगी—जब आपने छेड़ा है तो पूरी कहानी सुना कर ही दम लूँगी। इससे अनुताप की जो भीषण ज्वाला मेरे अन्दर धधक रही है, कुछ शान्त होगी।

मैंने भी एक ठण्डी साँस ली और एक सिगरेट जला कर अबला की करुण-कहानी सुनने को तैयार हो गया।

वह कहने लगी—उसके बाद मुझ पर क्या बीती, मुझे मालूम नहीं, क्योंकि मैं बेहोश थी और उसी दशा में छोड़ दी गई। सवेरे दरवाज़ा खुलने की आहट पाकर आँखें खुलीं तो देखा कि आगे-आगे माता जी और पीछे दारोगा जी कमरे में प्रवेश कर रहे हैं। मैं कपड़े सँभाल कर उठ बैठी। माता जी मेरे पास बैठ कर मुझे समझाने लगीं। दारोगा जी विजयी वीर की तरह बैठे हुए मुस्कुरा रहे थे। उनकी ओर दृष्टि पड़ते ही मेरा सारा शरीर क्रोध से काँप गया। पास ही एक काँसे का लोटा पड़ा था, मैंने उसे उठा कर उनके मुँह पर दे मारा। सिर फूट गया और ख़ून बहने लगा। इसके बाद वे उठ कर वहाँ से चले गए और तब से आज तक मैंने उनकी सूरत नहीं देखी।

गाड़ी कानपुर के स्टेशन पर आकर ठहर गई। मुझे यहाँ उतर कर अपने एक मित्र से मिलना था। पण्डित जी भी कानपुर देखना चाहते थे। मैंने उठ कर बिस्तर समेटते हुए रमणी से कहा—क्षमा कीजिएगा, मैंने आपको बड़ी तकलीफ़ दी। साथ ही आपकी पूरी कहानी भी न सुन सका।

इतने में पण्डित जी बोल उठे—इन्हें भी तो दिल्ली ही जाना है, अगर कोई क्षति न हो तो हम लोगों के साथ उतर पड़ें। कल फिर साथ ही चले चलेंगे।

मैंने कहा—प्रस्ताव तो आपका ठीक है, बशर्ते कि एक रोज़ यहाँ ठहर जाने में इनका कोई हर्ज न हो।

रमणी ने कहा—हर्ज क्या है। एक दिन ठहर कर ज़रा कानपुर भी देख लूँगी।

यह कह कर उसने भी अपनी सङ्गिनी बुढ़िया को बिस्तर आदि उठाने का आदेश प्रदान किया।

३

दूसरे दिन गाड़ी पर सवार होकर हम लोग एक साथ ही दिल्ली के लिए रवाना हुए। कुछ आगे चल कर मेरे अनुरोध करने पर उसने फिर अपनी रामकहानी आरम्भ की :

विवाह के पन्द्रहवें दिन पिता जी कलकत्ते से वापस आ गए। माता जी ने और शायद दारोग़ा जी ने भी उन्हें सब हाल पहले ही लिखा दिया था। रात को उनसे और माता जी से बड़ी कहा-सुनी हुई। उन लोगों की बात-चीत से यह भी मालूम हुआ कि दारोग़ा जी ने मुझे सदा के लिए परित्याग कर दिया है और मेरे भरण-पोषण के लिए दस रुपए मासिक देने को तैयार हैं। मैंने मन ही मन ईश्वर को धन्यवाद दिया कि किसी तरह उस पशु से पिण्ड तो छुटा। परन्तु पिता जी को इससे बड़ा दुःख हुआ। वे उसी दिन से अन्न-जल त्याग कर खाट पर पड़े तो फिर नहीं उठे। कुछ लोगों का अनुमान है, उन्होंने ज़हर खाकर आत्म-हत्या कर ली।

अस्तु, पिता जी के मरने पर माता जी अपने वैधव्य के दिन काटने के लिए अपने नैहर चली गईं। मुझे भी अपने साथ ले जाना चाहती थीं; परन्तु मैंने इन्कार कर दिया और एक दाई को साथ लेकर अपनी

बहिन के यहाँ चली आई। बहिन ने सारा हाल सुना तो छाती पीट कर ज़मीन पर गिर गई। परन्तु मुझे पिता जी की मृत्यु के सिवा और किसी बात का अफ़सोस न था। बस, दिन-रात यही सोचा करती थी कि किस तरह दारोग़ा जी से अपने अपमान का बदला लूँ। कुछ दिनों के बाद ही एक सुयोग मिला। मेरी बहिन का देवर मुझे बड़ी कुत्सित दृष्टि से देखा करता था। पहले तो मैं उससे घृणा करती थी और बहुत कम बोलती थी, परन्तु अन्त में मैंने उसी को बलिदान का बकरा बना कर दारोग़ा जी से अपने अपमान का बदला लेने का विचार किया और धीरे-धीरे उससे घनिष्टता बढ़ाने लगी। आख़िर मैंने एक दिन उससे साफ़-साफ़ कह दिया कि अगर तुम दारोग़ा जी का ख़ून कर डालो तो जो कुछ तुम कहोगे, मैं करने को तैयार हूँ। वह अनायास ही राज़ी हो गया। परन्तु अन्त में धोका देकर निकल गया। साथ ही धीरे-धीरे यह बात सारे महल्ले में फैल गई कि बहिन के देवर के साथ मेरा अवैध सम्बन्ध है। एक दिन बहिन ने मुझे एकान्त में ले जाकर बहुत-कुछ बुरा-भला कहा और आयन्दे के लिए सावधान भी कर दिया। मैंने उसे सब सच्ची बातें बता दीं और साथ ही यह भी बता दिया कि केवल दारोग़ा जी से अपने अपमान का बदला लेना ही मेरा इस कुत्सित और अपवित्र जीवन का उद्देश्य है, इसीलिए मैं जीवित हूँ ; अन्यथा अब तक कभी आत्महत्या कर लेती।

बहिन ने मुझे बहुत समझाया और बदला लेने का भार ईश्वर को सौंप कर विधवाओं की तरह पवित्र जीवन व्यतीत करने का परामर्श दिया। परन्तु मेरी प्रतिज्ञा अटल थी। दिन-रात मैं यही सोचा करती थी कि किस तरह पापी दारोग़ा से बदला लिया जाय। अख़िर, एक दिन एक छोकरा

मुझे एक पत्र दे गया। पत्र महल्ले के एक युवक ने लिखा था, जो कभी-कभी मेरी बहिन के घर आया करता था। उसने लिखा था कि अगर तुम मेरी होकर रहो तो मैं दारोग़ा जी से तुम्हारे अपमान का बदला ले सकता हूँ। मैं फ़ौरन राज़ी हो गई और एक दिन सुयोग पाकर उसके साथ चल निकली। उसने शहर से दूर एक गाँव में मुझे ले जाकर रक्खा। चार-पाँच महीने तक हम दोनों पति-पत्नी की तरह रहे। वह बराबर मुझे भरोसा देता रहा, मैं भी उसके विश्वास पर थी और दारोग़ा की मृत्यु-कामना किया करती थी। परन्तु ईश्वर को मेरी छीछालेदर ही मन्ज़ूर थी। फलतः इस दूसरे युवक ने भी मुझे धोका दिया और एक दिन बिना कुछ कहे-सुने न जाने कहाँ ग़ायब हो गया। हाय! अब मैं दीन-दुनिया कहीं की न रही! एक बार फिर बहिन की शरण में जाने का विचार किया, परन्तु साहस न हुआ। इसी उधेड़-बुन में कई दिन बीत गए।

मेरे पड़ोस में एक बुढ़िया रहती थी। वह कभी कभी मेरे पास आया करती थी और घण्टों बैठ कर इधर-उधर की बातें किया करती थी। उसने युवक के धोका देकर भाग जाने का समाचार सुना तो बड़ी सहानुभूति प्रगट की और फिर आश्वासन देकर बोली कि तुम्हें चिन्ता किस बात की है। भगवान ने तुम्हें रूप और जवानी दी है। तुम तो चाहो, तो ख़ुद दस आदमियों को खिला सकती हो। पहले तो उसकी बात मेरी समझ में न आई। परन्तु अन्त में मेरे प्रश्न करने पर उसने साफ़-साफ़ शब्दों में मुझे वेश्यावृत्ति करने की सलाह दी और साथ ही इस सम्बन्ध में मेरी सहायता करने का भी वचन दिया। यद्यपि मुझे पहले इस काम में बड़ी हिचकिचाहट

मालूम हुई ; परन्तु बुढ़िया ने मुझे समझा दिया कि इसके सिवा और कोई पथ नहीं है। उपायान्तर न देख कर, मैं राज़ी हो गई।

शहर में उपयुक्त स्थान पर बुढ़िया ने किराए पर एक मकान ले दिया और आवश्यक सामान अपने पास से दिया। मेरा रोज़गार चलने लगा और बुढ़िया भी मेरी अभिभाविका बन कर मेरे साथ ही रहने लगी। एक उस्ताद जी को बुला कर उसने मुझे गाने और नाचने की भी तालीम दिलाई।

बस बाबू जी, यही मेरी संक्षिप्त रामकहानी है और यही वह बुढ़िया है। अब स्वयं विचार कीजिए कि मैं पतिता हूँ या मुझे पतित बनाने वाले पतित हैं ?

मैंने कुछ उत्तर नहीं दिया। चित ग्लानि से भर गया था। कुछ पढ़ने की चेष्टा की, परन्तु तबीयत नहीं लगी।

शाम को दिल्ली स्टेशन पर उतर कर उससे विदा होने के समय मैंने उसका पता नोट कर लिया और फिर कभी मिलने का वादा करके उसे पवित्र जीवन व्यतीत करने का परामर्श दिया। पण्डित जी आगरा होकर पहले ही मथुरा चले गए थे।

४

इस बात को बहुत दिन बीत चुके थे। मैं दिल्ली से कलकत्ते लौट आया था। रविवार का दिन था और मई का महिना ; सख़्त गरमी पड़ रही थी। शाम को भाँग-बूटी छान कर हम लोग क़िले के मैदान की ओर टहलने जा रहे थे। रास्ते में एक पुराने मित्र मिल गए। जब मैं बनारस रहता था तो इनसे बड़ी घनिष्टता थी। कुशल-प्रश्न तथा अन्यान्य बातों के बाद पण्डित

मुरलीधर का ज़िक्र आया तो आश्चर्य से बोल उठे—अरे, तुम्हें मालूम नहीं, वह तो एक ख़ून के मामले में गिरफ़्तार हैं !

मैंने आश्चर्य से पूछा—ख़ून के मामले में ?

वे बोले—हाँ भई, उन्होंने पुलिस के दारोग़ा को मार डाला है।

मैंने कहा—क्या बक रहे हो ? कहाँ पण्डित मुरलीधर और कहाँ दारोग़ा का ख़ून ?

उन्होंने कहा—बक नहीं रहा हूँ, बिल्कुल सच्ची बात बता रहा हूँ।

मैं—तो क्या किसी राजनीतिक उद्देश्य से पण्डित जी ने दारोग़ा को मार डला है ?

वे—नहीं जी राजनीति से उन से क्या वास्ता।

मैं—तो आख़िर बेचारे दारोग़ा ने उनका बिगाड़ा क्या था ?

वे—उनका नहीं, बल्कि किसी और का ही बिगाड़ा था।

मैं—अच्छा, तो अब पूरी कथा सुनाओ।

वे—सुना तो रहा हूँ, परन्तु तुम सुनते कहाँ हो ? बात यह है कि गत यमद्वितीया के अवसर पर पण्डित जी मथुरा जा रहे थे। रास्ते में एक वेश्या से मुलाक़ात हो गई, जो गाड़ी के उसी डिब्बे में बैठी थी। बातचीत के सिलसिले में उसने अपनी आत्म-कथा सुनाना आरम्भ किया, जिससे मालूम हुआ कि वह कोई साधारण वेश्या नहीं, वरन् किसी उच्च वंश की लड़की थी। दारोग़ा जी ने ढलती उम्र में ज़बरदस्ती उससे विवाह कर लिया था। इसलिए पहली ही रात को पति-पत्नी में कुछ ऐसी अनबन हो गई कि दारोग़ा जी को उसे सदा के लिए परित्याग कर देना पड़ा। परन्तु पत्नी ने दारोग़ा जी से अपने सतीत्वापहरण का बदला लेने की ठान ली। यह

बदला लेने की धुन यहाँ तक सिर पर सवार हो गई कि उसी के लिए अन्त में वेश्या बन जाना पड़ा। कई युवकों से इसी शर्त पर उसने दुराचार भी कराया। पण्डित मुरलीधर ने यह सारी कहानी सुनी तो एकदम आपे से बाहर हो गए। मथुरा से दिल्ली चले गए और वहाँ उसी वेश्या के पास ठहर कर उसके पति का पता लगाया। इसके बाद किसी तरह उक्त दारोग़ा के पास पहुँचे और एक दिन मौक़ा देख कर उसके पेट में छुरी घुसेड़ दी।

पण्डित जी ने अदालत के सामने अपना अपराध स्वीकार कर लिया है और बड़ी प्रसन्नता से फाँसी पर चढ़ जाने को तैयार हैं।

मैंने कहा—यह रेलगाड़ी वाली घटना तो मेरे सामने की है। उस समय मैं दिल्ली जा रहा था और पण्डित जी यमद्वितीया नहाने मथुरा जा रहे थे। बल्कि सच पूछो तो मेरे ही अनुरोध से उस वेश्या ने अपनी राम-कहानी हम लोगों को सुनाई थी। ख़ैर तो क्या उस स्त्री को भी यह सब हाल मालूम है?

वे—हाँ, वह भी पण्डित जी के साथ ही दिल्ली से आई थी। पहले उसने दारोग़ा जी को देख कर अच्छी तरह पहचान लिया तब यह घटना हुई। पण्डित मुरलीधर ने तो अपने बयान में उसके आने का कोई ज़िक्र नहीं किया था। परन्तु इनके गिरफ़्तार हो जाने पर वह ख़ुद कोतवाली में आई और बयान दिया कि यह ख़ून मैंने कराया है। इसकी सारी ज़िम्मेदारी मुझ पर है।

पुलिस ने उसे गिरफ़्तार करके हिरासत में ले लिया। परन्तु वहाँ जाने से पहले उसने ज़हर खा लिया था, इसलिए उसी रात को उसका देहान्त हो गया।

मैंने कहा—परन्तु पण्डित मुरलीधर तो विचित्र मनुष्य निकले। उनके मुक़दमे के सम्बन्ध में तुम्हारा क्या अनुमान है ?

उन्होंने कहा—उन्हें फाँसी की सज़ा होगी।



राजा मेहरा

लखनऊ के विख्यात दानी और उदार-हृदय मुसलमान शासक नवाब आसिफुद्दौला के दरबारियों में राजा मेहरा नाम के एक सज्जन रहते थे। ये नवाब के निकट पार्श्ववर्तियों में थे और इन पर उसकी विशेष कृपा-दृष्टि भी रहती थी।

राजा मेहरा स्वयं भी बड़े उदार, दानी और धर्मात्मा पुरुष थे। उनकी बनवाई हुई अन्यान्य कीर्त्तियों के सिवा लखनऊ में राजा मेहरा की हवेली और इमाम-बाड़ा आज भी मौजूद है।

नवाब आसिफुद्दौला का ज़माना 'हातिमे सानी का ज़माना' कहा जाता है। उदारता, गुणग्राहिता और दानशीलता में नवाब आसिफुद्दौला वास्तव में बेजोड़ था। धार्मिक कट्टरता और जातिगत भेद-भाव का उसमें नितान्त ही अभाव था। वह गुणों सा प्रेमी था, गुणियों का आदर करना जानता था। उसकी दृष्टि में हिन्दू-मुसलमान और ऊँच-नीच का कोई भेद-भाव न

था। वह किसी के ज़रा से सद्गुण पर उसे मालामाल कर देता था। किसी कवि या शायर की एक चुटीली उक्ति पर उसे मालामाल कर देता था। उसके शासनकाल में लखनऊ कवियों, शायरों, गायकों, मदारियों, कारीगरों और पहलवानों का प्रधान केन्द्र बना था। नवाब आसिफ़ुद्दौला की उदारता का हाल सुन कर देश-देश से गुनी-ज्ञानी आ कर लखनऊ में बस गए थे। उसके राज्य में हिन्दू-मुसलमान और ईसाई सभी सुखी थे। उसकी दानशीलता के सम्बन्ध में यह कहावत प्रचलित थी कि 'जिसको न दे मौला, उसे दे आसिफ़ुद्दौला।'

ऊँचे-ऊँचे सरकारी ओहदों पर हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। एक ओर सरफ़राज़ुद्दौला, नवाब हसन रज़ा खाँ, सय्यद मीरतक़ी खाँ, नवाब हैदर-बेग खाँ आदि मुसलमान राजकर्मचारी थे, तो दूसरी ओर राजा टिकैतराय, राजा भाऊलाल और राजा मेहरा आदि हिन्दू राजकर्मचारी भी मौजूद थे। नवाब बहादुर की तरह राजा टिकैतराय और राजा भाऊलाल भी बड़े दानी और उदार थे। ये दोनों ही धर्मात्मा राजे साल में लाखों रुपए धर्म-कार्य में खर्च करते थे। राजा टिकैतराय और राजा भाऊलाल की बनवाई हुई धर्मशालाएँ, कुएँ, तालाब, मन्दिर और मसजिदें आज भी उनकी पवित्र स्मृति-स्वरूप मौजूद हैं। इसी तरह राजा बलभद्रसिंह नाज़िम भी बड़े शाह खर्च और उदार थे। नवाब आसिफ़ुद्दौला के ज़माने में मुसलमान हिन्दुओं की होली और दीवाली पर आनन्द मनाते थे और हिन्दू उनके मुहर्रम में आँसू बहाते थे। होली और दीवाली पर नवाब-सरकार की ओर से हर साल साठ लाख रुपए खर्च होते थे। इन दोनों त्यौहारों के समय हफ़्तों नहीं, महीनों तक एक विचित्र चहल-पहल मची रहती थी।

इसी उदार-हृदय वाली मुसलमान नरेश ने अपनी पालकी ढोने वाले एक कहार की सेवा से प्रसन्न होकर, उसे लाखों रुपए की जागीर, महल, नक़दी और हाथी-घोड़े के साथ राजा की पदवी प्रदान की थी, जो अन्त में 'राजा मेहरा' के नाम से विख्यात हुआ। राजा मेहरा के सम्बन्ध में एक बड़ी मज़ेदार कहानी प्रचलित है।

उन दिनों पालकी सर्वश्रेष्ठ और बड़ी शानदार सवारी समझी जाती थी। राजा, महाराजा, रईस और ज़मींदार अधिकतर पालकियों पर ही सवार होते थे। ऐसा कोई बड़ा न होता था, जिसके पास एक-दो पालकियाँ और उन्हें ढोने वाले चार-छः कहार नौकर न हों। शहरों में इक्कों और ताँगों की तरह किराए पर पालकी और कहार मिला करते थे। नवाब के दरबारी अपनी-अपनी पालकियों पर ही दरबार में हाज़िरी देने आया करते थे। नवाब बहादुर की भी प्रधान सवारी पालकी ही थी। यहाँ तक कि ईस्ट-इण्डिया कम्पनी के लखनऊ के रेज़िडेण्ट मि० जॉन चेरी भी नवाब के दरबार में आते थे, तो पालकी पर ही आते थे। पालकी की उन दिनों बड़ी महिमा थी।

एक दिन दरबार में सवारियों की चर्चा चल पड़ी। किसी ने घोड़े की तारीफ़ की और किसी ने हाथी की। ऊँट, बहली और बैलगाड़ी का भी ज़िक्र आया; परन्तु अन्त में पालकी का लोहा सबको मानना पड़ा।

रेज़ीडेण्ट ने कहा—हुज़ूर मैं पालकी की ख़ूबी का क़ायल हूँ। बेशक वह बड़े आराम की सवारी है। परन्तु हमारे देश में तो आजकल बग्घियों का बड़ा रिवाज है। एक से एक बढ़ कर सुन्दर और तरहदार बग्घियाँ वहाँ तैयार होती हैं। मैंने हाल में अपनी सवारी के लिए एक बहुत अच्छी

बग्घी इङ्गलैण्ड से मँगवाई है। दो निहायत अच्छे घोड़े भी रख लिए हैं। हुज़ूर एक दिन उस पर सवार हों तो स्वयं अनुभव करेंगे कि आराम और शीघ्र-गमन के विचार से बग्घी और पालकी में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। जितनी देर में पालकी चार क़दम जायगी, उतनी देर में बग्घी कोस भर निकल जाएगी।

नवाब का कहार सुरजी पास ही खड़ा था और बड़े ध्यान से रेज़ीडेण्ट साहब की बातें सुन रहा था। रेज़ीडेण्ट का कथन समाप्त होने पर नवाब बहादुर ने सुरजी की ओर देखा। उसने हाथ जोड़ कर रेज़ीडेण्ट साहब से कहा—हुज़ूर, जैसे घोड़ों में बाज़ अड़ियल टट्टू होते हैं, वैसे ही कहारों में भी सात जातियाँ होती हैं। जो अच्छी जाति के कहार हैं, उनकी पालकी बग्घी से चार क़दम आगे जाती है, चढ़ने वाले के पेट का पानी तक नहीं हिलता और न पैरों के चाप की आवाज़ आती है। सवार को इतना आराम मिलता है कि नींद आने लगती है। परन्तु बग्घी की गड़गड़ाहट, घोड़ों की टापों का शब्द और सड़क की विषमता के कारण लगने वाले धक्के अच्छे स्वस्थ आदमी को भी बीमार डाल देते हैं।

रेज़ीडेण्ट ने कहा—अच्छा, यह तो बताओ, तुम नवाब साहब का बोझ हमारी बग्घी से बराबर ले जा सकते हो?

सुरजी ने उत्तर दिया—नवाब बहादुर के इक़बाल से आशा है कि दो कोस तक पालकी आपकी बग्घी से दो-चार क़दम आगे ही रहेगी। बस, इससे अधिक शेखी यह सेवक नहीं बघाड़ना चाहता।

रेज़ीडेण्ट ने कहा—सुरजी, यह तो तुम हँसने की बातें करते हो। भला, घोड़ों की बराबरी आदमी कैसे कर सकता है। शायद तुमने अच्छे घोड़े नहीं देखे।

सुरजी ने नम्रतापूर्वक निवेदन किया—सरकार, सेवक ने सब कुछ देखा है। अरबी घोड़े भी अच्छे कहारों की बराबरी नहीं कर सकते।

रेज़ीडेण्ट ने कहा—अच्छा, तुम हमारी बग्घी को एक बार देख लो, तब अपने विचार प्रकट करना।

सुरजी बोला—नवाब साहब की बदौलत मैंने बहुत-कुछ देखा-सुना है। आपको विश्वास नहीं होता तो एक दिन बग्घी और नवाब बहादुर के 'बूचे' को एक साथ ही छोड़ कर देख लीजिए।

रेज़ीडेण्ट साहब सुरजी की बातें सुन कर हँस पड़े और नवाब से कहा—हुज़ूर, दिल्लगी ही सही। एक रोज़ आप बूचे पर सवार हों और मैं अपनी बग्घी पर बैठूँ। दोनों का मुक़ाबला करके देखा जाए।

नवाब ने अविश्वासपूर्वक कहा—ऐसा नहीं हो सकता। भला, कहार बेचारे घोड़ों का मुक़ाबला कैसे कर सकते हैं।

सुरजी ने हाथ जोड़ कर कहा—हुज़ूर, एक बार अवश्य परीक्षा करें।

नवाब बोले—परन्तु अगर तुम हार गए तो तुम्हारी सज़ा ?

सुरजी ने कहा—हुज़ूर, जो चोर की सज़ा वही मेरी सज़ा ?

नवाब ने कहा—अच्छा, अगले सोमवार को रमने के मैदान वाली सड़क पर दोनों का मुक़ाबला हो जाए।

उस समय लखनऊ में यही एक सड़क चौड़ी थी। बात पक्की हो गई। परन्तु नवाब को विश्वास न था कि सुरजी इस दौड़ में विजयी होगा।

इसलिए रेज़ीडेण्ट के चले जाने पर उन्होंने कहा—तुमने यह मूर्खता कर डाली ?

सुरजी ने विश्वासपूर्वक कहा—हुज़ूर, अगर हार जाऊँगा तो शहर में मुँह नहीं दिखाऊँगा।

नवाब ने कहा—तुम अपना मुँह काला करके शहर के बाहर चले जाओगे, परन्तु मुझे कितना लज्जित होना पड़ेगा।

सुरजी ने कहा—लज्जित होना पड़ेगा हुज़ूर के शत्रुओं को। मैं श्रीमान के चरणों पर उत्सर्ग न हो गया तो श्रीमान को लज्जित न होना पड़ेगा।

दौड़ के लिए केवल एक कोस का स्थान निर्दिष्ट हुआ। सड़क के ढेले कङ्कड़ आदि साफ़ करा दिए गए और उस पर सुर्खी बिछा दी गई। कहारों को पाला बदलने के लिए जहाँ-तहाँ निशान भी लगा दिए गए।

सुरजी ने अपनी मदद के लिए आठ कहार चुन लिए और उन्हें आध-आध मील के अन्तर पर खड़ा कर दिया।

सोमवार को नौ बजे रेज़िडेण्ट साहब अपनी बग्घी पर सवार होकर आ गए। थोड़ी देर के बाद नवाब साहब की सवारी भी आ गई। नवाब साहब का 'बूचा' बग्घी के बराबर रक्खा गया। सुरजी अपने कई साथियों को लेकर एक मील के अन्तर पर खड़ा हुआ। दूसरे कहारों ने 'बूचा' उठाया। साहब ने घोड़ों की रास ढीली की और कहारों ने भी दुलकना आरम्भ किया। आध कोस तक नवाब का बूचा घोड़ों के साथ-साथ रहा; न एक क़दम आगे, न एक क़दम पीछे। आध कोस पर सुरजी ने अपने साथियों का पल्ला बदला और बूचा लेकर हवा हो गया। साहब ने घोड़ों को शिशकारना आरम्भ किया, परन्तु वे सुरजी को नहीं पा सके। सुरजी ने

बग्घी से पहले निर्दिष्ट स्थान पर ले जाकर सवारी रख दी और ईश्वर का नाम लिया।

सड़क के दोनों किनारों पर तमाशा देखने वालों की भीड़ लगी थी। सारा लखनऊ यह अजीब दौड़ देखने के लिए टूट पड़ा था। वाह-वाह की आवाज़ से आकाश गूँज उठा। रेज़ीडेण्ट साहब आश्चर्य में पड़ गए और नवाब को सलाम करके अपनी कोठी पर चले गए।

नवाब बहादुर उसी बूचे पर अपने महल में आए और प्रसन्न होकर सुरजी को 'राजा' की पदवी प्रदान की। साथ ही बहुत से घोड़े, हाथी, झालरदार पालकी, नौकर-चाकर और सवारों का एक रिसाला दिया। साथ ही खर्च के लिए यथोचित वेतन नियत कर दिया और नाम रख दिया, राजा सूर्यनारायण। रेज़ीडेन्ट साहब ने भी काफ़ी इनाम-इकराम दिया। परन्तु सुरजी का यह सम्मान दरबार के अन्य राजाओं तथा सरदारों को अच्छा नहीं लगा। उन्होंने नवाब बहादुर की खातिर से इसका विरोध तो नहीं किया, परन्तु इस पर कोई प्रसन्नता नहीं प्रगट की और ईर्ष्यावश होकर उसे 'राजा मेहरा' कहने लगे। कहारों ने भी राजा सूर्यनारायण की पालकी उठाने से इनकार कर दिया था। परन्तु उसने उन्हें समझा-बुझा कर राज़ी कर लिया।

'राजा मेहरा' कुछ पढ़े-लिखे और दरबार के क़ायदे-क़ानून से वाकिफ़ थे। राजा की पदवी प्राप्त कर लेने पर उन्होंने फ़ारसी और थोड़ी सी अरबी तथा संस्कृत का भी अभ्यास किया। कुछ दिनों के बाद ही नवाब ने उन्हें अपने 'पुस्तकालय' का दारोग़ा मुक़र्रर कर दिया, इससे उन्हें विद्या-चर्चा के लिए सुन्दर सुयोग प्राप्त हो गया।

नवाब बहादुर ने गञ्ज नामक मुहल्ले में राजा मेहरा के लिए एक सुन्दर हवेली बनवा दी थी और उसी के आस-पास राजा मेहरा ने अपनी कुछ जायदाद भी मोल ले ली थी। अन्त में नवाब ने रूमी दरवाज़ा के पास उनके रहने के लिए एक दूसरा सुन्दर मकान बनवा दिया और वे उसी मकान में आजीवन रहे। यह इमारत अभी तक मौजूद है।

राजा मेहरा जाति के मल्लाह थे। बड़े बुद्धिमान और विचारशील आदमी थे। उनकी जाति वालों ने उन्हें अपना सरपञ्च नियुक्त किया था। उच्च पद प्राप्त करने पर भी वे अपनी बिरादरी वालों की बड़ी खातिर करते थे और उनकी भलाई के लिए नवाब साहब से सदैव सिफ़ारिश किया करते थे।

राजदरबार में उनका यथेष्ट मान था। वे झालरदार पालकी में सवार होकर नवाब के दरबार में जाते थे और दूसरे सरदारों के बराबर के आसन पर बैठते थे। बड़े चतुर और हिसाब-किताब में इतने चौकस थे कि राजा झाऊलाल कभी-कभी हँसी में उन्हें 'कायस्थ का बच्चा' कहा करते थे।

एक बार एक मुसलमान मन्त्री ने नवाब साहब से कहा कि हुज़ूर, आपने एक नीच जाति के मनुष्य को इतना उच्च पद प्रदान करके अपने दरबार के सरदारों को दुखी किया है। वे लोग सदैव उससे जला करते हैं।

नवाब ने कहा, जलने दो। मैंने उसके गुणों का आदर किया है, जो मेरा कर्तव्य था। उच्च वंश में जन्म लेने से ही कोई उच्च नहीं हो जाता, जिसमें सद्‌गुण होते हैं, वही उच्च पद प्राप्त करता है। सुरजी ईमानदार है

हमारे राज्य का शुभचिन्तक और धर्मभीरु है। सच बोलता है, झूठी .खुशा-मद नहीं करता और न कभी कोई अन्याय करने की सलाह देता है।

एक दिन नवाब ने कहा—मैंने कहारों का नाच नहीं देखा है। राजा मेहरा ने कई सुन्दरी स्त्रियों को कहरों का नाच, उनका गाना और 'हुड.क' बजाना सिखाया और एक दिन नवाब के सामने उन्हें उपस्थित किया! नवाब बहुत प्रसन्न हुए और उस नाच का नाम 'कहरवा' नाच रख दिया। इस नाच का इतना प्रचार हुआ कि तवायफ़ों और नक़्क़ालों (भाँड़ों) ने भी उसकी नक़ल की।

राजा मेहरा ने बड़ी लम्बी आयु पाई थी। नवाब सआदतअली ख़ाँ और नवाब नसीरुद्दीन हैदर के काल तक जीवित रहे। नवाब आसिफ़ुद्दौला की तरह ही उनके उत्तराधिकारी नवाबों के दरबार में भी राजा मेहरा का बड़ा मान था। नवाब आसिफ़ुद्दौला की तरह ये भी गुणियों का बड़ा आदर करते थे। मशायरों में बड़े शौक़ से जाते थे और कवियों को अपने घर बुला कर उनका सम्मान करते थे। आग़ा मीर नाम के एक कविता-प्रेमी सरदार से इनकी गहरी मित्रता थी। एक बार लखनऊ के विख्यात कवि 'नासिख़' ने आग़ा मीर की प्रशंसा में एक कविता लिखी। राजा मेहरा ने आग़ा मीर से उन्हें सवा लाख रुपए इनाम दिलवाए। ये स्वयं भी कवियों को बहुत रुपए दिया करते थे। इसके सिवा यदि कोई भी शरीफ़ आदमी इनके पास अपनी किसी आवश्यकता की पूर्ति के लिए जाता, तो कभी ख़ाली हाथ नहीं लौटता था। चुपके से जो कुछ बन पड़ता, उसे दे देते और कहते, मैं इस योग्य नहीं हूँ कि आपकी कुछ सेवा कर सकूँ। पान

खाने के लिए जो कुछ बन पड़ा है, सेवा में उपस्थित किया है। इसे स्वीकार कीजिए। परन्तु इसका कहीं ज़िक्र न कीजिएगा।

अपने काम के लिए राजा मेहरा किसी को कष्ट देना नहीं चाहते थे। एक बार नवाब आसिफुद्दौला ने कहा कि हमारी इच्छा है कि तुम अपना मकान छोड़ कर मेरे पास चले आओ। हमारे महल के आस-पास जो जगह पसन्द करो, तुम्हारे लिए मकान बनवा दिया जाए।

राजा ने हाथ जोड़ कर कहा—हुजूर, राजमहल के आसपास भले आदमियों की बस्ती है। किसी भले आदमी का मकान तुड़वा कर मेरे लिए मकान बनेगा, तो मैं उसमें सुख से न रह सकूँगा। जहाँ रहता हूँ, वही अच्छा है। अथवा फिर किसी ऐसी जगह बनवा दीजिए, जहाँ रहने से किसी को कष्ट न हो।

नवाब ने ऐसा ही किया और नदी किनारे ज़नाना घाट के पास एक मकान बनवा दिया, जिसका ज़िक्र ऊपर हो चुका है।

नवाब आसिफुद्दौला को मुर्ग़बाज़ी का बड़ा शौक़ था। इसलिए राजा मेहरा ने भी बहुत से लड़ाके मुर्ग़ पाल रक्खे थे। मुहर्रम में ताज़ियादारी भी करते थे। परन्तु अपने धार्मिक विचारों पर दृढ़ थे।

राजा मेहरा अपने जाति के सच्चे सेवक थे और उसकी भलाई करने से कभी भी पराङ्मुख नहीं होते थे।

द्वितीया

उस दिन को सिर्फ़ ४ मास और कुछ दिन व्यतीत हुए थे, इसी बीच में चन्द्रनाथ फिर से हल्दी चढ़ा और कङ्गना बाँध कर एक मुग्धा बालिका को ब्याह लाए।

बालिका का नाम था आनन्दी। आयु चौदह वर्ष, रङ्ग मोती के समान, कण्ठस्वर सितार की मूर्छना जैसा, चाल भीता-चकिता हरिणी जैसी, उङ्गलियाँ चम्पे की कली के समान, उत्तप्त स्वर्ण की मानो सजीव प्रतिमा। परन्तु सुख? सुख हमने देखा नहीं, एक बात देखी—पास-पड़ोस, मुहल्ले और कुटुम्ब की, सभी जाति, आयु और स्थिति की स्त्रियाँ झुण्ड की झुण्ड उस मुँह को देखने गई, अपनी-अपनी हैसियत के अनुसार भेंट चढ़ाई और बालिका का मुँह देखा। वे नेत्रों में रहस्य का

हल्का गुलाबी रङ्ग लिए लौट रही थीं; वह रङ्ग भला किस वस्तु की छाया थी? उसी मुँह की!

चन्द्रनाथ ने भी सुयोग पाकर उसे देखा। उस देखने के मूल्य में उन्हें मुँह-माँगे दाम अर्थात् 'हीरों का हार' देना पड़ा। स्तब्ध रात्रि में, विमल चाँदनी में, चन्द्रनाथ ने वह उत्फुल्ल लज्जावान् मुख देखा। वे हँसे नहीं, बोले नहीं। कम्पित हाथों से घूँघट हटाया, फिर चुपचाप वैसे ही ढक दिया, और उठ कर चले आए। उस दिन वे दिन-भर सोते रहे अथवा यों कहिए कि आँख बन्द किए पड़े रहे।

क्यों? उन हीरों के मूल्य में देखने योग्य उस मुख को नेत्रों से हटा कर हृदय के गम्भीर प्रदेश में, जहाँ ऐसी अमूल्य निधि सुरक्षित रक्खी जाती है, पहुँचाने की चेष्टा में वे बहुत प्रयत्न करने पर भी विफल ही रहे थे। उस रूप की प्रभा को, जो वे आँखों में भर लाए थे, वह भीतर प्रवेश पाता ही न था। आँख खोलते ही वह बाहर खिसक कर गिरा पड़ता था। विवश चन्द्रनाथ दिन भर उस रूप-स्मृति को आँखों की पलकों में छिपाए पड़े रहे। हृत्पट खुले या कब खुले, हमारे लिए कहना कठिन है।

और एक बात हुई, एक दिन ननद के बड़े आग्रह से काँपते-काँपते पेन्सिल हाथ में लेकर बड़े-बड़े टेढ़े अक्षरों में आनन्दी ने अपने हस्ताक्षर कर दिए थे। उन्हें उसी समय दौड़ कर बहिन ने चन्द्रनाथ के हाथ में ला धरा। चन्द्रनाथ कुछ बोले नहीं, हिले भी नहीं। जड़वत् बड़ी देर तक उन टेढ़े अक्षरों को देखते रहे। फिर उन्होंने एक बार मर्मभेदिनी दृष्टि से अबोध बहिन को देखा, और फिर मसनद के सहारे उठँग कर सो गए। बहिन-भाई के साथ हास्य का यह सुयोग खोकर और उस दृष्टि से डर कर भीतर

भाग गई। चन्द्रनाथ की अवस्था ३५ वर्ष की थी। वे इलाहाबाद-यूनिवर्सिटी में अङ्गरेज़ी साहित्य के प्रोफ़ेसर थे। उन्होंने इङ्गलैण्ड से ससम्मान डी० एल० का प्रतिष्ठित पद प्राप्त किया था। वे अतिशय कान्तिवान्, विनम्र, हास्यवदन, सुन्दर, बलिष्ठ, नीरोग, चरित्रवान्, गम्भीर और गण्य-मान्य विद्वान थे। सभा सोसाइटियों की वे जान थे, कॉलेज के प्रिय और मनभावन गुरु, और मित्रों में सभ्य-हास्य और सविवेक-विनोद की प्रतिमा थे।

आनन्दी थी एक दरिद्र और अपढ़ परिवार की मातृहीना बालिका। वृद्ध पिता का नीरस प्यार और विमाता का विष-प्यार पाकर उसने बाल-काल के दिन काटे थे। माँ को उसने देखा था, उसकी स्मृति भी उसके मन में थी। वह चाहे जब तनिक मनोवेदना प्राप्त करते ही 'माँ' कह कर रो उठती थी। चिर-परलोकगामिनी माँ के इतने निकट वह मुग्धा सुन्दरी बालिका अब भी—विवाहिता होने पर भी थी। जीवन का यह प्रबल परिवर्त्तन, सौभाग्य का यह उदय, रानियों जैसा श्रृङ्गार, आदर और प्यार उसे उस माँ से दूर न कर सका था।

इस प्रकार चन्द्रनाथ अपनी द्वितीया वधू से आयु में ढाई गुने अधिक, विद्या में अनन्त तक अधिक, गम्भीरता और अनुभव में सहस्र गुणा अधिक, शरीर-परिमाण में चतुर्गुण और विस्तार में त्रिगुण अधिक थे; किन्तु रूप में चतुर्थांश और हास्य-चापल्य में अष्टमांश तथा लाज में दशांश थे।

यह बालिका मेरी धर्मपत्नी है, सहधर्मिणी है, यह स्मरण करते ही और इस तथ्य पर विवेकपूर्ण दृष्टि डालते ही प्रथम बार तो वे सहम गए थे। अब वे केवल चमक भर उठते थे।

२

इतना अधिक मूल्य चुका कर एक बार उस मुख का दर्शन करने के बाद चन्द्रनाथ फिर उसे बहुत यत्न करने पर भी न देख सके। उसकी एक किरण-मात्र देखने को उन्हें पचासों बार घर में व्यर्थ आना पड़ता, अनेक अस्वाभाविक चेष्टाएँ करनी पड़तीं, विविध हास्य-कलाओं का आयोजन करना पड़ता, जो कुसमय और अनभ्यास के कारण वीभत्स बन जातीं।

बालिका में और कुछ चाहे न हो, पर पति की इस चेष्टा को समझने की मानो दैवी शक्ति थी। वह अपने समस्त यत्न से अपने शरीर के अणुमात्र अङ्ग को भी उनकी दृष्टि से बचाने के लिए सचेष्ट रहती। चन्द्रनाथ की साध्वी माता उसका दुर्ग था, वह उन्हीं के अञ्चल में प्रायः छिपी रहती थी।

ममता, त्याग और प्रेम के जिन उच्च गुणों का माता शब्द में तात्विक अस्तित्व है, वह सब भौतिक रूप में इस पवित्र और पूज्य माता में था। अनाथा मातृहीना बालिका ने अचानक उनकी गोद पाकर अपने अब तक के जन्म को कृतार्थ माना। उसे जन्म देकर जो मातृ-मूर्ति विलीन हो गई थी, वह उसे अनायास ही मिल गई। उसके लिए वही माता पृथ्वी पर उस समय सबसे अधिक घनिष्ठ और सुपरिचित थी।

परन्तु चन्द्रनाथ? उसके धर्मपति? वे तो उससे बहुत दूर थे। उसने उस समय घूँघट के आवरण में छिप कर गुरुजनों के आदेश-पालन से विवश होकर बड़ी कठिनाई, बड़े साहस से, अपना कण्ठकित हाथ चन्द्रनाथ के हाथ में देकर विमूढ़ की नाईं अग्नि-प्रदक्षिणा अवश्य की थी; पर वे उसके पति हैं, पति-पत्नी का सम्बन्ध क्या होता है, उसके शरीर और

आत्मा पर उसके पति का हिन्दू-समाज की रूढ़ि के अनुसार असाध्य अधिकार है, यह उसे कुछ भी मालूम न था।

अलबत्ता विवाहिता सखियों से उसने अस्पष्ट रूप में सुना था कि पतिगण विवाह के बाद कैसे असाध्य और अश्लील व्यापार करते हैं। इस बात से वह बहुत ही भयभीत, चिन्तित और घबराई थी। परन्तु यहाँ माता को पाने पर वह बहुत-कुछ निश्चिन्त हो गई थी। उसे विश्वास था—माता के रहते मुझ पर कौन अत्याचार करेगा? किसका ऐसा साहस है? वह दिन भर माता के साथ रहती—खाती और रात को उसी की खटिया पर सो रहती। इस विषय में उसने अपने हठ के आगे घर भर की महिलाओं को परास्त कर दिया था।

चन्द्रनाथ पूर्व पत्नी की मृत्यु के बाद बाहर की मर्दानी बैठक में अकेले सोते थे। रात्रि में अन्तःपुर में आने का वे दिन की भाँति साहस न कर सकते थे। उनका प्रबल विवेक फिर भी जाग्रत तो था ही, पर वे अतिशय व्याकुल, अनिद्र और सन्ताप से रात काटते थे। इस विवाह से पूर्व कभी उनकी ऐसी दुरवस्था नहीं हुई थी। वे सोचते थे, १५ वर्ष पूर्व जब मेरा प्रथम विवाह हुआ था, तब वह अवसर पाते ही कैसी चितवन से घूँघट के बारीक आवरण में मुझे देखा करती थी। वह हीरे के समान सतेज दृष्टि और दुर्दम्य आनन्द से उत्फुल्ल होठ आज भी मेरे मनोमन्दिर में वैसे ही ताज़े रहते हैं। यह तो उस तरह नहीं देखती, सदैव छिपती है, जैसे हिरणी शिकारी से भय खाती है! क्या इसके हृदय में मेरे लिए प्रेम नहीं! यह मुख उसकी अपेक्षा कितना सुन्दर है? वह मुख चौदह वर्ष के काल में—सर्दी-गर्मी, दुःख-सुख, क्रोध-विराग प्राप्त करके कितना फीका, कितना

साधारण बन गया था। उसकी अपेक्षा यह कितना नवीन, सुन्दर, मधुर, अमूल्य है ? ओह ! इसकी कभी सम्भावना नहीं थी। परन्तु विचार-धारा और हृदय कहाँ दौड़ा जा रहा है। ओह—ओह ! वहाँ अति दूर ! अरे ! यह तारुण्य, यह सौन्दर्य, यह तप्त-स्वर्ण-कान्ति, अरे इसमें डूब। अभागे हृदय ! किस अधेड़ को यह सौभाग्य प्राप्त होता है ? सौभाग्य ! चन्द्रनाथ तड़प उठे। सौभाग्य शब्द ठठा कर मानों प्रेत की तरह हँस पड़ा। वह निर्जीव, निस्पृह, निश्चेष्ट मुख अर्थहीन नेत्रों को खोल कर उन्हें देखने लगा। चन्द्रनाथ विकल होकर रोने लगे। रोते-रोते ही वे सो गए।

३

प्रातःकाल होते ही उन्होंने हठात् हरिद्वार जाने का प्रस्ताव माता से कहा—वे कुछ कह भी न पाई थीं कि उन्होंने कहा—झटपट उसके साधारण कपड़े ट्रङ्क में रख दो, गाड़ी में देर नहीं है। माता अवाक् रह गई। परन्तु चन्द्रनाथ बेटे पर माता का अलभ्य प्यार था। वे पुत्र के और भी निकट आकर बोलीं। अकेली बहू को कैसे ले जाओगे—वह कैसे बोलेगी ?

चन्द्रनाथ ने क्रुद्ध स्वर में कहा—क्या वह गूँगी है ?

क्रोध के प्रवाह को छितरा कर माता ने कहा—बेटे ! पराई बेटी है, नई आई है, बच्ची है, सीधी-सादी, एक दिन में तो सब बातें होती नहीं ?

चन्द्रनाथ ने कहा—तुम भी चलो।

माता चुपचाप भीतर चली गई।

बालिका ने सुना—वह थर-थर काँपने लगी। उसने कहा—अम्माँ जी ! तुम चलोगी ?

"न बेटी। तुम सैर-सपाटे में रहोगे, मेरे पैरों में इतना दम कहाँ ? फिर मेरी तबीयत भी ठीक नहीं। तुम मेरे नाम के २ गोते गङ्गा जी में ज़रूर लगा आना।"

बधू ने माता के पैरों में गिर कर रोते-रोते कहा—अम्माँ ! उनके साथ अकेले मुझे कहीं मत भेज देना !

"बेटी ! उनसे तुझे भय क्या है, वे ही तेरे रक्षक, तेरे स्वामी, तेरे सब कुछ हैं—अब तू उन्हें पहचान—उन्हें सुखी कर और सुखी हो ! इससे मेरी आत्मा भी तृप्त होगी।"

बालिका कुछ भी न समझ कर बोली—नहीं, मैं न जाऊँगी।

चन्द्रनाथ ने सुन कर अपने असाध्य अधिकार का प्रयोग किया। उनकी आज्ञा की अवहेलना करने का घर भर में किसी का साहस नहीं—अधिकार भी नहीं था। घर के आबाल-वृद्ध सभी से एक यही बात सुन कर बालिका को जाना पड़ा—जिस तरह पिता के घर से यहाँ आना पड़ा था। वह सोचने लगी—ओह ! स्त्री-जाति का भाग्य भी कैसा है ? वह अतिशय भयभीत, अतिशय निरानन्द और अति क्रुद्ध-भाव से पति के पीछे-पीछे चली।

४

पुण्य-सलिला जाह्नवी का सौन्दर्य हरिद्वार में अद्वितीय है। वैसा मीठा, शीतल, स्वच्छ और पाचक जल गङ्गा में फिर नीचे कहीं देखने को नहीं मिलता। चन्द्रनाथ के लिए हरिद्वार नया नहीं, परन्तु बालिका आनन्दी के लिए सब कुछ नया था। सेकेण्ड क्लास की गद्दी मण्डित सीट्स,

बिजली का झर-झर चलता हुआ पङ्खा, स्वच्छ पाखाना, चमचमाता डिब्बा यह सब देख कर अबोध आनन्दी क्षण भर को अपना भय भूलकर देखती रह गई, पर जब गाड़ी चल दी और डिब्बे में मुसाफ़िरों की भीड़ न घुसी तो वह घबराई। चन्द्रनाथ जैसे दीर्घकाय और अपरिचित पुरुष के साथ एकाकी रहना ही तो उसका सबसे बड़ा भय था, क्योंकि वह जानती थी—इस व्यक्ति को मेरे शरीर पर असाध्य अधिकार प्राप्त है और यह उस सुयोग की प्राप्ति के लिए ही मुझे अकेली ले आए हैं। ननद ने रहस्य में यह बात उसे चलते-चलते कह भी दी थी।

फिर भी आनन्दी मार्ग भर सब भय को पी गई। वह बोली नहीं—उठी नहीं, खाँसी-खखारी भी नहीं, कुछ खाया-पिया भी नहीं। चन्द्रनाथ अपना सभी पाण्डित्य, प्रौढ़ ज्ञान और महत्व खोकर—हर तरह उस बालिका की अनुनय-विनय करके थक गए। वह सिवा सिकुड़ जाने के और कोई चेष्टा न कर सकी। वह चन्द्रनाथ के बहुत अनुरोध करने पर भी पैर फैला कर सोई नहीं। वस्त्रों को और भी अच्छी तरह समेट कर बैठी-बैठी ऊँघने लगी। हताश चन्द्रनाथ अपने बर्थ पर पड़ गए।

नववधू, विवाह एकान्त—और सुयोग सब कुछ, पर फिर भी कुछ नहीं। उन्होंने वर्तमान आँखें बन्द कर लीं, वे अब भूत की अनेक खट्टी-मीठी स्मृतियों को सोचते-सोचते कभी जाग्रत कभी निद्राग्रस्त होकर स्वप्न देखने लगे।

रात व्यतीत हुई, हरिद्वार में हर की पैड़ी पर एक सजे हुए मकान में चन्द्रनाथ का डेरा पड़ा। आनन्दी ने समझा, सचमुच यह तो घर है। मैं अकेली स्त्री इस घर की स्वामिनी और ये अकेले पुरुष इसके स्वामी।

अब उसे स्वामी के विषय में सोचने का अपने जीवन में प्रथम बार अवसर आया! यह स्वामी क्या वस्तु है? वही? सखियाँ रस-रङ्ग की चर्चा में जिसका ज़िक्र किया करती हैं? जो प्यार करता है, सुख देता है, वस्त्र-अन्न का दाता, रक्षक और पति है। वही है यह? इससे बोलना पड़ेगा? मुँह खोलना पड़ेगा? अपनी आवश्यकता जतानी पड़ेगी! अरे! अरे! इनसे तो भय लगता है—कितने लम्बे-चौड़े आदमी हैं। कैसा भारी मुँह है। कितना कम हँसते हैं। बालिका सोच में पड़ गई। उसने मधुर स्मृतियों को जाग्रत किया। सहेलियों की रहस्यमयी मुस्कान उसे स्मरण हो आई। उसने प्रथम बार चाव की दृष्टि से पति को घूँघट की ओट से देखा। परन्तु शोक—किस प्रबल बन्धन ने उसके हृदय को विकसित न होने दिया? वह देखती तो रही, पर दृष्टिपात के प्रारम्भ में उसके मन में जो माधुर्य था, उसे वह स्थिर न रख सकी।

चन्द्रनाथ थकित पड़े थे, पण्डे ने आकर कहा—यजमान! जोड़े से स्नान होगा? मैं श्रीफल ले आया हूँ!

चन्द्रनाथ ज़रा हँसे—उन्होंने आनन्दी की ओर देखा। पण्डे से कहा—बहूरानी को राज़ी करो। मैं इसे अकेली क्या साथ लाया, आफ़त हो गई। रास्ते भर न खाया न पिया, मिट्टी की लोढ़ी की तरह बैठी रही है।

पण्डा वृद्ध और हँसमुख था। अपने पोपले मुँह पर हज़ारों सिकुड़न डाल कर उसने कहा—सरकार, वे अभी बालक हैं, सब समझ जावेंगी तब क्या ऐसी रहेंगी। भगवान् ने उन्हें राजरानी बनाया है—यह बात भी वे समझेंगी ही!

आनन्दी ने बूढ़े की बात को यथासाध्य समझने की चेष्टा की। उसने अपने बहुमूल्य आभूषण और वस्त्रों को देखा 'राजरानी'! वह सोचने लगी। सच ही तो! उसने उत्फुल्ल नयनों से घूँघट ही में वृद्ध को और फिर पति को देखा।

इस बार चन्द्रनाथ की आँखों से उसकी दृष्टि भिड़ गई। शुभ-दृष्टि की रस्म अब निबटी। उन्होंने कहा—क्या कहती हो, जोड़े से स्नान करना है?

बालिका लजा कर रह गई।

बूढ़े पण्डे ने कहा—भैया! गङ्गा में जोड़े से स्नान करने से सुहाग अचल रहता है—दूध-पूत से गोद भरी रहती है। तीर्थ में ऐसा सुयोग कब-कब आता है?

बालिका ने लालसा की दृष्टि से वृद्ध को देखा। चन्द्रनाथ उठे। दम्पति धीरे धीरे कमर-कमर जल में पैठ गए। गँठजोड़ा बँधा था। अनेक स्त्री-पुरुष हर की पैड़ियों पर विहार कर रहे थे। भगवती गङ्गा झल-झल करती लहरें मार रही थीं। आनन्दी आनन्द के उल्लास में लज्जा और सङ्कोच को क्षण भर के लिए भूल गई। पानी में कहीं डूब न जाय, इस भय से उसने कस कर पति का हाथ पकड़ लिया। अब वह गिन-गिन कर गोते लगाने लगी। प्रकृत बालिका-स्वभाव और चिर-सहचर जीवन ने अस्वाभाविक बधूपन को किसी मोहमयी मदिरा के प्रभाव से दूर कर दिया। हर्षातिरेक से वह किलकारियाँ भरने लगी, चन्द्रनाथ मूढ़ बने चुपचाप बालिका-पत्नी का उल्लसित स्नान और जल-क्रीड़ा देखने लगे। पर उनके हृदय में ज्वार आ रहा था। वे न जाने क्या सोच रहे थे। इसी हरद्वार

के घाट पर, इसी हर की पैड़ी पर! ओफ़ जाने दो। उन्होंने मानों नींद से चौंक कर कहा—चलो, चलो। अब अधिक नहीं! भीगी हुई केसरी रङ्ग की साड़ी को शरीर से चिपकाए, अधिकांश सङ्कोच को गङ्गा में धोकर—उत्फुल्ल होठ और नयनों से पति को घूरती हुई आनन्दी दृढ़ता से पति की मुट्ठी पकड़े बाहर निकली।

५

चैत्र का छलकता हुआ बसन्त, उस पर हरिद्वार की सुनहरी ऋतु, दिन में ज़रा तीखी धूप, जो मन में सदैव लहरों से खेलने की अभिलाषा उत्पन्न करती है और रात की गुलाबी सर्दी ने, जो मीठी नींद लाने में अद्वितीय है, चन्द्रनाथ के लिए क्षण-भर को वास्तव में सुहागरात का स्वाद दे गया। आनन्दी कनखियों से देखने, मृदु-स्वर में अपनी इच्छा प्रकट करने, कभी-कभी उसी तरह स्नान का अनुरोध करने और छोटी-मोटी व्यवस्थाओं में उनका हाथ भी बँटाने लगी। फिर जब वे सन्ध्या के समय खोमचे वालों की भरपूर भीड़ में थोड़े सङ्कोच के बाद हर की पैड़ी के विशाल प्राङ्गण में आनन्द के साथ—फ़ालूदा, कुल्फ़ी की बरफ़ और दही-बड़े खाने लगे, तब चन्द्रनाथ की मानो हृद्वेदना क़तई सी गई, वे एक बार उल्लास के साथ द्वितीया पत्नी के साथ प्रमोद में लगे।

आनन्दी ने सोचा, भय की कोई बात नहीं है। ये देखने में खूब लम्बे-चौड़े अवश्य हैं—जैसे हमारे पड़ोस के वे सेठ जी थे, पर वैसे बुरे मिज़ाज के नहीं हैं, हँस कर बात करते हैं, दस बार आवश्यक वस्तु की पूछताछ करते हैं, हर समय मन बहलाते हैं—फिर अपने पति तो हैं; ग़ैर तो

नहीं। वह मस्तक पर रेखा डाल कर, थोड़ी गम्भीरता से सोचती, और इस प्रकार साहसी और गृहिणी के गाम्भीर्य का उसके मन में धीरे-धीरे उदय होता। दो-तीन दिन बाद एक बार उसने कहा—बाज़ार की पूरियाँ आप कब तक खावेंगे, सामान लाइए तो रसोई बन जाय। चन्द्रनाथ ने चाँद पाया। जिस समय वे प्रथम बार पत्नी के हाथ की रसोई खाने बैठे, कच्ची दाल और जली रोटियाँ सराह-सराह कर खाने लगे। धुएँ के मारे बालिका की आखें अन्धी हो रही थीं। अकेली बिना सरो-सामान के रसोई बनाने का यह उसका प्रथम प्रयास और प्रथम साहस था। भोजन करके चन्द्रनाथ जब थाली को रुपयों से भर कर उठे, तो आनन्दी एक बारगी ही विह्वल हो उठी। वाह! इनके बराबर प्रिय और कौन है। उस दिन उसने पति की जूठी थाली में भोजन करके एक अभूतपूर्व आनन्द अनुभव किया। और जब चन्द्रनाथ मीठी नींद ले रहे थे, वह चुपके से आई और पैरों के पास बैठ कर धीरे-धीरे पैर दबाने लगी। चन्द्रनाथ की आँखें खुलीं। देखा, पत्नी पत्नी के स्थान पर उपस्थित है। उन्होंने अधीर होकर उसे खींच कर हृदय से लगा लिया। अतिशय आनन्नदातिरेक से उनका शरीर बेसुध हो गया। और फिर वे थोड़ा सचेत होते ही किसी अतर्क्य शक्ति के प्रभाव से, उस वेदना-स्थल पर शीतल स्पर्श-मरहम लगा कर फूट-फूट कर रो उठे। बहुत रोए, ज्यों-ज्यों उन्हें सुख मिलता था उनका रुदन फूटता था। उस अज्ञात रुदन के कारण को न जान कर, आनन्दी बहुत घबराई। उसने फौरन प्रश्न किया—यह क्यों? इस प्रश्न में घूँघट भी खसका, स्निग्ध नेत्रों ने प्रश्नों का ताँता बाँध दिया। फिर उसने अपने आँचल से पति के आँसू पोंछ डाले। चन्द्रनाथ ने थोड़ा शान्त होने पर पत्नी का

चुम्बन किया। मुख्य विवाह तो उनका अब हुआ। सारी विषमता नष्ट हुई। अब दोनों व्यक्ति एक-दूसरे के अति निकट, परस्पर एक दूसरे के परम हितैषी, प्रेमी और अकपट बन्धु बने। अब वे वास्तव में पति-पत्नी थे; और आनन्दी अब इसका रहस्य समझ गई थी।

६

चन्द्रनाथ छुट्टी पूरी होने पर नौकरी पर आ गए। साथ में अकेली आनन्दी थी। नौकरी बड़ी आसान थी। अधिकांश समय छुट्टी का रहता और वह उनका पत्नी के पास कटता। चन्द्रनाथ ने देखा, इस पत्निपद पर यह जो बालिका आई है, उसमें नैसर्गिक सरलता को छोड़ कर और कुछ योग्यता इस पद पर बैठने योग्य नहीं। रूप, रूप ? एक पृथक वस्तु है—पत्नित्व से उसका क्या सम्बन्ध ? चन्द्रनाथ की गहन विवेचना-बुद्धि इस बात को ठीक-ठीक समझ गई थी। वे बड़े कर्मठ और धीर पुरुष थे। वे पत्नी की कमी दूर करने, उसे पूर्ण पत्नी बनाने के आयोजना में लगे। साधारण शिष्टाचार से लेकर सीना-पिरोना, रसोई बनाना, पढ़ाना-लिखाना एवं गान-विद्या का भी शिक्षण देना उन्होंने ठान लिया। वे आवश्यकता से ऊँची उड़ान उड़े। केवल कल्पना से नहीं, कर्म से भी। वे दो-दो घण्टे चूल्हे के आगे बैठ कर सब प्रकार के पाक-शास्त्र की स्वयं शिक्षा देने लगे। पाक-विद्या की जितनी हिन्दी पुस्तकें मिल सकती थीं, सभी उन्होंने खरीद लीं। फिर साधारण सिलाई से लेकर क़सीदे तक के काम के लिए उन्होंने शिक्षिकाएँ नियत कर दीं। पढ़ाने के लिए दो अध्यापक प्रतिदिन बारी-बारी से आकर पढ़ाने लगे। एक केवल गणित और दूसरा हिन्दी भाषा। रात

को स्वयं चन्द्रनाथ हारमोनियम लेकर बैठते—परन्तु एकदम वे कल्याण, विहाग और सोरठ पर दौड़ पड़ते।

विवाह के बाद नववधू को ऐसी भयानक विपत्तियों का सामना करना पड़ता है, इतना कठोर परिश्रम करना पड़ता है, यह आनन्दी को ज्ञात न था। वह भौंचक-सी सभी की आज्ञा मानती, सभी कुछ सीखना चाहती, सभी तरह योग्य बनना चाहती। पर सबके बीच में एक वस्तु बाधक थी। उसकी प्रकृति, आयु का विकास, यौवन का विकास, और ठीक समय पर चन्द्रनाथ की—नहीं-नहीं पति की प्राप्ति। परन्तु पति में एक अद्भुतता थी। क्षण-भर में तो वे उस नववधू के नवपति, आनन्द और उल्लास के देवता, प्यार और आदर के उद्गम थे परन्तु दूसरे ही क्षण में, कठोर गुरु, नियन्ता, संरक्षक, शिक्षक और न जाने क्या-क्या? अब बालिका समझे तो क्या? सोचे तो क्या? कहे तो क्या? करे तो क्या?

उसके प्रकृत हास्य और विनोद में व्याघात पड़ने लगा। उसकी प्रत्येक चेष्टा की चन्द्रनाथ आलोचना करते, रहन-सहन में ऐब निकालते। इस तरह इस बात को मत बोलो, इतना ज़ोर से मत हँसो, इस तरह खड़ा होना सभ्यता नहीं, यह वस्त्र इस तरह नहीं पहना करते, अरे! तुमने इस तरह पाँव फैला कर बैठने की आदत नहीं छोड़ी। इन बातों से आनन्दी का खाना-पीना, सोना-जागना—यहाँ तक कि साँस लेना भी हराम हो गया।

उसके हृदय में पति के प्रति प्रेम का पूर्ण स्फोट नहीं हुआ था। उसके हृदय की कली अविकसित थी। इसी पर उस पर दिन पर दिन कठोर होते हुए उसके पति के शासन ने उसे भयभीत और शङ्कित कर दिया। चन्द्र-

नाथ के अन्तस्तल को समझने की शक्ति उस अबोध में कहाँ थी ? जिस आयु में जीवन आँखों में होता है उस आयु में प्रौढ़ वासना का तत्व कैसे समझा जाय ! आनन्दी थकित, चिन्तित और पीड़ित-सी पति की बातों को यथासाध्य मानने का ध्यान करती, चेष्टा करती, परन्तु उससे सदैव भूलें होतीं। वह पति को क्रुद्ध देख कर ज़रा भयभीत होती, पर उन्हें हँसता देख कर निःशङ्क देखने लगती। धीरे-धीरे उसे इस जीवन का भी अभ्यास हो गया। उसे ऐसा भास हुआ, ये तो इसी तरह क्षण में हँसते, क्षण में क्रुद्ध होते हैं—इसका ज़्यादा विचार न करना चाहिए।

चन्द्रनाथ जब कड़े शासक बने थे, तब यदि शासक ही बने रहते तो वे अपने उद्देश्य में सफल होते। परन्तु वे भावुक भी तो थे। पत्नी को प्यार भी करते थे, अपार दया भी उनकी उस पर थी। वे यह जानते हैं कि इस उल्लसित कुसुम-कलिका को समवयस्क पति के साथ पूर्ण विकसित होने देने का स्वाभाविक अधिकार मैंने छीन कर, इस पर अन्याय भी किया है। पर किया क्या जाय ? उसे अति शीघ्र अपनी पत्निपद के योग्य बनाने की बड़ी आवश्यकता भी थी। विवश हो वे उसे शासन में रखने के लिए केवल आवश्यक कड़ाई करते, परन्तु फिर यथासम्भव प्रेम और क्षमा का भाव भी रखते।

इसी का ग़लत अर्थ आनन्दी ने लगाया था और वह अब पति के क्रोध की उपेक्षा करने लगी थी। उसकी आयु का मद, और धीरे-धीरे प्राचीन बनना उसका सहायक था।

७

चन्द्रनाथ को जीवन का पूर्ण विकास प्राप्त था। उनकी आयु, शिक्षा और परिस्थिति ने उस विकास को सहायता दी थी। चन्द्रनाथ जैसे पुरुष अपनी स्त्री को सहधर्मिणी के रूप में अथवा कम से कम पत्नी के रूप में अपने सम्मुख देखे बिना कैसे सन्तुष्ट रह सकते थे। परन्तु आनन्दी पत्नी या सहधर्मिणी थी कहाँ? खास कर चन्द्रनाथ जैसे व्यक्ति की? वह अबोध, अज्ञानी बालिका, हठात् विषम पुरुष की स्त्री बनाई गई और फिर हठात् उसे उसकी सहधर्मिणी और पत्नी बनाने के लिए कई अध्यापक, अध्यापिकाएँ, स्वयं चन्द्रनाथ और न जाने क्या-क्या तूफ़ान खड़ा था! उसका जीवन प्रारम्भ था। विवाह और पति-इन दो मधुर शब्दों से यौवन के प्रारम्भ में जो लहरें उठती हैं, वह आनन्दी के मन में उठती थीं—स्वाभाविक रूप से भी और सखी-सहेलियों तथा पड़ोसिन सम-वयस्काओं के द्वारा उत्तेजन प्राप्त करने पर भी। परन्तु उन लहरों का किनारा तो एक-मात्र पति है—वह पति यदि तिल बराबर पति था तो पहाड़ बराबर बुज़ुर्ग, गुरु और शासक था। वह रत्ती-भर यदि सखा था, तो मन भर अधिकारी था! जैसे वासन्ती वायु अपने झोंकों से कली को खिलाती है और दोपहर की धूप का प्रखर तेज उसे मुरझा कर झुलसा देती है, उसी प्रकार आनन्दी की दशा थी।

चन्द्रनाथ चुटीले हृदय के पुरुष थे। उनकी जीवन-सङ्गिनी छिन चुकी थी, जिसके साथ उन्होंने अपने जीवन, यौवन के उल्लास और विकास के साथ यह प्रौढ़ पद प्राप्त किया था। उसकी मृत्यु के तत्क्षण बाद वे आतुर

होकर एक स्त्री-शरीर के लिए विकल हो उठे। तब तक वे स्त्री-शरीर और पत्नी एवं सहधर्मिणी में क्या अन्तर है, यह समझे न थे। अब पुराने शरीर की जगह नया शरीर, ढले यौवन की जगह उठता यौवन, विषाद की जगह उल्लास उन्हें मिला। पर नहीं मिली पत्नी; सहधर्मिणी, जीवन-सङ्गिनी। उसे खोकर अब वे इतने दिन बाद जाग्रत हुए। तारों से भरी रात थी। बड़े परिश्रम से थकित चन्द्रनाथ बाहर से आए थे। घर में देखा, आनन्दी बेसुध पड़ी सो रही है। चन्द्रनाथ सोचने लगे, मेरा तो अभी भोजन भी न हुआ। यह सो गई। एक वह थी, जो ऐसी अवस्था में रात्रि भर खड़ी प्रतीक्षा करती थी। पत्नी और सहधर्मिणी बनने के लिए स्त्री को कितनी तपस्विनी, कितनी साध्वी, कितनी इन्द्रिय-विजयिनी बनने की आवश्यकता है—अब उन्होंने इस पर गम्भीर विचार किया।

ओह तपस्विनी! तुमने भूख-प्यास, क्रोध-निद्रा को जीत लिया था। तुम अपने साधारण वेश और साधारण आकृति में किस दायित्व को छिपाए मेरे-जैसे प्रकाण्ड पुरुष के साथ आधी आयु तक चलीं। कैसी सरलता, कैसे सुख, कैसे आनन्द के साथ! तुम इतने ज़ोर से कभी नहीं हँसती थीं। पर तुम्हारे साथ उतने ही ज़ोर से मैं भी तो हँसता था। यह कितना हँसती है, पर मैं उस हँसी से इतना भयभीत होता हूँ, जितना बच्चे बिजली की तड़प से। सदैव इसकी आत्मा हँसती है और मेरी रोती है। मेरे जीवन में घाव है, मेरे निर्वाह में किरकिरी है, पर इसका जीवन तो अभी सोकर उठा है, अपने जीवन के प्रभात में यह ग़रीब मुझ घायल के साथ कहाँ तक कृत्रिम वन्दना सहन करेगी! उन्होंने शय्या

पर सुख की नींद लेते आनन्दी के स्वर्ण-शरीर को देखा, फिर उनकी दृष्टि सुदूर आकाश में टिमटिमाते एक तेजस्वी तारे पर जाकर अटक गई। उन्होंने देखा वह शीर्ण मुख, वह शान्त मुद्रा करुणभाव से उन्हें देख रही है। वे दोनों हाथ आकाश की तरफ़ फैला कर 'क्षमा-क्षमा, ओ तपस्विनी क्षमा!' कह कर उन्मत्त की तरह दौड़े।

आनन्दी हड़बड़ा कर उठ बैठी। नींद पर झुँझलाई। अपने पर मलामत की, वह अतिशय अपराधिनी की तरह भयभीत दीवार के सहारे खड़ी पति का उन्माद देखने लगी। बालिका में उद्विग्न पति को सान्त्वना का साहस कहाँ था? चन्द्रनाथ पृथ्वी पर गिर कर रोने लगे और वहीं वे सो भी गए। आनन्दी रात-भर उनके पैरों को गोद में लिए बैठी रोती रही।

८

दूसरे दिन दोनों ही चुप थे। चन्द्रनाथ नीची गर्दन किए चुपचाप भोजन कर गए। आनन्दी ने पति को भोजन करा कर स्वयं कुछ न खाया। सन्ध्या समय चन्द्रनाथ ने घर में आकर देखा, आनन्दी चुपचाप गृह-कार्यों में लगी है। रसोई प्रथम से ही तैयार है। पति को देखते ही उसने विनयपूर्वक पति से भोजन को कहा—चन्द्रनाथ ने पत्नी का वह स्वर प्रथम कभी न सुना था। उन्होंने देखा, गम्भीर विषाद की रेखा और थकित भावना उन उत्फुल्ल नयनों को निर्जीव कर चुकी थी। पर वे स्वयं बहुत गम्भीर थे। उन्होंने आनन्दी पर कुछ ध्यान न दिया—वे चुपचाप भोजन करके बाहर बैठक में चले गए।

धीरे-धीरे रात्रि गम्भीर होने लगी। चन्द्रनाथ ने शयनागार में जाकर देखा, दूध के समान शय्या पर फूलों से शृङ्गार हो रहा है, परन्तु आनन्दी

का वहाँ पता नहीं। चन्द्रनाथ ने इधर-उधर देखा। घर भर देख डाला। आशङ्का और भय से वे छटपटाने लगे—हे ईश्वर ! मामला क्या है ? रसोई के भीतर की ईंधन वाली कोठरी में आनन्दी धरती पर पड़ी थी। उसे होश न था। चन्द्रनाथ ने बाहर लाकर उसे देखा—शरीर ठण्डा, और अकड़ कर लकड़ी के समान बन गया है, आँखें पथरा गईं हैं, मुख से झाग आ रहा है, चन्द्रनाथ सब समझ गए। उन्होंने धैर्य से नाड़ी और हृदय के स्पन्दन को देखा और एक क्षण भर व्यर्थ न खो, डॉक्टर के लिए दौड़े।

प्रभात की ऊषा के उदय के साथ आनन्दी ने चैतन्य लाभ किया। दीप की क्षीण रेखा में उसने विषण्ण-मुख पति को अस्त-व्यस्त वेश में पलङ्ग के सिरहाने खड़े देखा। उसके नेत्र-कोण से अश्रु-जल बह चला। धीरे से आनन्दी ने अपना हाथ ऊपर उठा कर पति का हाथ पकड़ लिया। चन्द्रनाथ झुक कर बैठ गए। उन्होंने कहा—यह तुमने क्या किया ?

आनन्दी के होंठ फड़क कर रह गए। उसने अभिप्राय की दृष्टि से पति को देखा।

"क्या तुम्हें कुछ कष्ट था ?"

"कष्ट ? मैं नवीन जीवन में आई थी। परन्तु मैं अयोग्य, पूरी चेष्टा करने पर भी आपको सुखी न कर सकी। जीवन भर जो प्यार, सुख, आदर मुझे नसीब नहीं हुआ था, वह आपने मुझे दिया। हाय ! कहाँ मैं अभागिनी तुच्छ बालिका और कहाँ आप ? ओह ! आपकी महिमा, वह भी मैं समझ नहीं सकती। मैं पढ़ नहीं सकती, सीख नहीं सकती, मैं जितना आपको

सुखी बनाने की चेष्टा करती उतनी ही मूर्खता करती। मैं आपके जीवन में किरकिरी हूँ—मुझे जाने दीजिए, मुझे चरणों की धूल दीजिए।"

चन्द्रनाथ को इस अवसर पर, इस प्रगल्भ भाषण के सुनने की आशा न थी। आनन्दी फिर बोली—मेरी जितनी योग्यता है उतना ही मैं सीख सकती हूँ, उतना ही कर सकती हूँ—आप मुझे जितनी बड़ी बनाना चाहते हैं उतनी मैं बन कैसे सकती हूँ ?

चन्द्रनाथ ने बात टाल कर कहा—तुमने क्या खाया था ?

"अफ़ीम !"

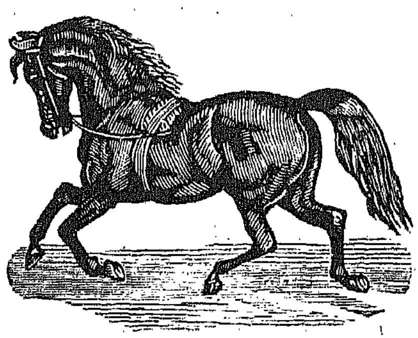
"कहाँ से मिली ?"

आनन्दी चुप रही।

चन्द्रनाथ कुछ देर स्तब्ध बैठे रहे। फिर उन्होंने तीक्ष्ण दृष्टि से पत्नी को देख कर कहा—प्रिये, मूर्ख तो मैं हूँ—तेज़ आँच में रोटी सिकती नहीं, जलती है। ठहरो, तुम इतना समझ सकती हो—यह मैं न जानता था। तुम्हें अल्पवयस्का समझ कर तुम्हारी बुद्धि पर मैं पूर्ण अविश्वास करता था, और उधर तुम्हारी बुद्धि से सहस्र गुणा भार उस पर लादता था। आज से मैं तुम्हारा गुरु नहीं, शिक्षक नहीं शासक नहीं—पति हूँ, मित्र हूँ। आओ, मैं स्वार्थ का त्याग करूँगा।

आनन्दी के नेत्रों में एक और ही प्रभा थी। वह बालिका की नहीं नारी की नहीं—वह प्रभा पत्नित्व के गहन उत्तरदायित्व को व्यक्त कर रही थी। चन्द्रनाथ ने देखा, वे कुछ कह न सके।

आनन्दी फीकी पड़ने लगी। उसकी मुट्ठी शिथिल हुई और चन्द्रनाथ का हाथ उसके कर-पल्लव से पृथक हो गया। चन्द्रनाथ रोए नहीं, एक अतर्क्य वेदना एवं मार्मिक आलोचना उनके मन में उठ रही थी। उन्होंने अतिशय प्रेम और आदर से आनन्दी का चुम्बन लेने का इरादा किया पर आनन्दी वहाँ थी कहाँ? चन्द्रनाथ ने उस निर्जन प्रभात में, आनन्दी के अभाव में उसके शरीर को जी भर के एक बार प्यार किया और फिर उसके उन्मीलित नेत्रों को अनन्त के लिए आच्छादित कर दिया।





बड़नक्की

अजमेर तो बहुतों ने देखा होगा, उसके सी ऊबड़-खाबड़ गन्दी गलियाँ और सड़कें और किस शहर को नसीब हैं ? वैसे मैले, थोंदल, थल-थल हलवाई मिट्टी के रङ्ग की धोती कमर में बाँधे, लोहे के थालों में तेल और गुड़ की मिठाइयाँ—भुन्जे सेव लिए किस तरह चुन्धी आँखों से ग्राहक के ऊपर शुभ-दृष्टि डालते हैं। इसे बता कर कैसे कहा जाय ? अजी वैसी कूँजड़नें धरती के छोर पर कहीं मिल जायँ—तो नाम ! मदार गेट के शैतान की आँत की तरह ऊँची-नीची और रेखागणित की तमाम शक्लों की मुरक्कब गली को पार करते ही फिर कूँजड़न ही कूँजड़न हैं। सभी नमूनों को देख लीजिए—नवेलियाँ महीन झिलमि घूँघट से और प्रौढ़ाएँ कटाक्ष की खुली दुधारो

तलवार से एवं वृद्धाएँ अधनङ्गे सिर और हाथ-भर लम्बी ज़बान से जिस ख़ूबी से सौदा पटाती हैं और उनके मर्दुए जिस सन्तोष से इस सौदे को नयन भर कर देखते हुए मीठी तमाखू का दम पर दम चुपचाप बैठे लगाया करते हैं, इसे जिसने न देखा—उसकी आँखें, चाहे जैसे बढ़िया चश्मे से ढकी रहें, व्यर्थ हैं। इन कूँजड़ों की उर्दू-मारवाड़ी मिश्रित तीखी-मीठी बोली-ठठोली, कलेजे के आर-पार जाने वाले व्यङ्ग वाण झेलने की अपेक्षा लोग चार पैसे झाड़ देने में जो स्वाद पाते हैं, उसे अजमेर के भाग्यवान् ही जान सकते हैं।

इतना होने पर भी आज अजमेर में कुछ तत्व नहीं है। सेठों के नए-नए बँगलों ने शून्य पहाड़ी टेकरियों को एक शोभा तो प्रदान की है। चीफ़ कमिश्नर साहब का फरफराता झण्डा जब अभागे आनासागर के हिलोरें मारते जल में प्रतिबिम्बित होता है और स्वच्छ ख़ालिस सङ्गमर्मर की बनी शाहजहाँ की विधवा बारहदरी पर खड़े होकर जब दो चार भद्रजन उसे निहारते हैं तो समझिए, अजमेर में सब कुछ है। गलियाँ गन्दी हैं तो हुआ करें। महल, मकानात, हवेलियाँ किस शान की खड़ी हैं, दुःख तो यही है कि उनमें रहने वाला आज नहीं। अजमेर में नर हैं, नारी हैं, बाज़ार हैं, गलियाँ हैं, मुहल्ले हैं—पर नहीं है प्राण। वह प्राण, जिसके लिए अजमेर से महामायावी अङ्गरेज़ों ने विवाह किया था। अजमेर मुर्दा है—वह राजपूताने की एक महानगरी का श्मशान है।

२

पर सदा ही ऐसा न था। एक समय था, जब कि अजमेर में ठक्कर-परिवार ओज पर था। सारे राजपूताने में इसकी तूती बोल रही थी।

सूरत की आढ़त के द्वारा यूरोप तक उनकी हुण्डी चलती थी। चाँदी के बाज़ार में अमेरिका तक उनकी प्रामाणिकता थी। सेठ चाँदमल छगनमल का नाम समस्त भारत के प्रमुख सेठों में था। सोनियों का आज जैसा दौर-दौरा न था, अलबत्ता लढा-परिवार तब भी ओज पर था। सोनियों और लढाओं में लाग-डाट चलती रहती थी। गोटा और जवाहरात एवं हुण्डी-पर्चे की अजमेर एक भारत-प्रसिद्ध मण्डी था। उस समय आठ सौ दूकानें तो सिर्फ़ गोटे की थीं।

सन् ५७ के ग़दर के बाद अङ्गरेज़ों ने अनुभव किया कि राजपूताना हमारी सब से बड़ी ढाल है। साधारण प्रजा की अपेक्षा रईस और रजवाड़े अधिक आसानी से हमारी ग़ुलामी पसन्द करेंगे; इसके सिवा इन्हें सर्वथा बधिया बनाए रखने ही में कल्याण है। इसलिए उन्होंने राजपूताने के लिए अपनी ख़ास नीति निर्धारित की; ख़ास-ख़ास सभी ठिकानों ने अङ्गरेज़ों से सन्धियाँ कर ली थीं। मारवाड़ ने नवीन सन्धि द्वारा सर्वथा अपने आपको बिट्रेन की कृपा पर छोड़ दिया था, निदान अजमेर में अङ्गरेज़ी साम्राज्य का सौभाग्य-सिन्दूर—लाल-बिन्दु लगा दिया गया। अजमेर-सा सम्पन्न नगर उस समय था नहीं। इसके सिवा यदि वर्षा ठीक-ठीक हो जाय, तो काश्मीर को छोड़ कर, अजमेर की सुषमा को धारण करने वाला नगर भारत में नहीं।

अजमेर कमिश्नरी बन गया। आज तक वह भारत के रजवाड़ों के प्रभु का स्थान है। छोटी-छोटी शक्तियाँ, जिनका सम्बन्ध राठौर से अधिक है, अजमेर के चारों तरफ़ छाई हुई हैं। इसके सिवा मेवाड़ का प्रतापी नाम उस समय तक सर्वथा निस्तेज न हुआ था—मेवाड़ का मानो अजमेर सिंह-द्वार है। उधर गुजरात का फाटक भी यहाँ से ही खुलता है।

३

उन्हीं दिनों की बात है। लाखन कोठरी के इस तरफ़, जहाँ आजकल धान-मण्डी का मोड़ है और इस समय जहाँ सड़े हुए अन्न की दुर्गन्ध सदा बनी रहती है तथा टूटी हुई सड़क और फूटी-सी एक दुमंज़िला इमारत खड़ी है, वहाँ एक तिखण्डा आलीशान महल था, जिसके द्वार पर सदैव श्रीमन्तों और उमरावों की सवारियों का ताँता बँधा रहता था। यह आलीशान महल एक वेश्या का था। और उसका नाम था—'बड़नक्की'।

'बड़नक्की' अपने ज़माने में समस्त राजपूताने में प्रख्यात वेश्या थी। उस समय वेश्याओं से सम्बन्ध रखना रईसों और उमरावों के लिए एक शान की बात समझी जाती थी। जातीय सुधारक युवक-दल तब कहाँ था, खद्दर और स्वराज्य के नारे सोए पड़े थे। उत्थान और नव्य जीवन राजपूताने को त्याग चुका था। तब थी एक मूर्च्छा की बदमस्ती। उसमें समस्त मारवाड़ सो रहा था और प्रतापी ब्रिटेन का यूनियन-जेक हवा में लहरा कर उस बदमस्त सोते हुए मारवाड़ रसिया का ठण्डे थपेड़ों से सुला रहा था।

वेश्या और मद्य उस समय के जीवन की आवश्यक सामग्री थी। घर-घर भट्ठियाँ थीं और अनेक जाति की सुवासित मदिरा घरों में ही तैयार होती और पानी की तरह पी जाती थी।

बड़नक्की की आयु ४० को पार कर गई थी। उसकी नाक अपेक्षाकृत कुछ बड़ी थी, उसी ने उसे इस नाम से प्रसिद्ध भी किया था। ४० वर्ष की आयु तक उसने बड़े-बड़े घर वाले, बड़े-बड़े मार्के जीते, बड़े-बड़े मूँछ-मरोड़ों को ढीला किया। सरदारों को भिखारी बनाना और सेठों के दिवाले

निकलवाना बड़नक्की के बाएँ हाथ का खेल था। प्रति वर्ष सुन्दर बालिकाएँ देहात से संग्रह करके, उन्हें पहनने-ओढ़ने, अदब-क़ायदे की तालीम देकर रईसों और सेठों को बेचना उसके व्यापार का एक ख़ास अङ्ग था। श्रीमन्त, साहूकार और सरदारों को दूसरे धनपति मित्रों से क़र्ज़ा दिलाना, जायदाद गिरवी रखाना, सुलह और विग्रह कराना, बड़े घराने की बहू-बेटियों को अनायास ही उड़ा लेना बड़नक्की के व्यवसाय का विस्तार था। उसकी शाखाएँ—बीकानेर, जयपुर, उदयपुर, कोटा, बूँदी, जोधपुर आदि सर्वत्र फैली हुई थीं। इन सब धन्धों में लाखों रुपयों की सम्पत्ति उसके पास उमड़ी चली आती थी। इस सघन व्यापार को करते बड़नक्की अपने यौवन का पूरा मोल-तोल ले-लिवा कर प्रौढ़ा बनी थी। पर उसका धन्धा वैसे ही ज़ोरों पर था। १०-१२ अनिन्द्य सुन्दरियाँ—सभी नमूनों की—उसके महल में सजीव पुतलियों की भाँति बनी रहती थीं—मारवाड़ का कोई भी रईस-छैला उन ड्योढ़ियों में घुस कर बिना पिए और बिना छके बाहर न निकल सकता था!

४

शीतकाल की सन्ध्या थी, ७ बज चुके थे। धुँधला अन्धकार सर्वत्र व्याप्त हो गया था। बड़नक्की स्नान-उबटन करके बन-ठन कर बैठी थी। उसका रङ्ग गौर-वर्ण, शरीर मांसल, त्वचा साफ़ और चमकीली, आँखें अनीदार, होठ उत्फुल्ल और खड़ी होने की धज निराली थी। स्वास्थ्य भी उसका खूब था, ४० वर्ष की उम्र होने पर भी उसमें सिवा कुछ स्थूलता उत्पन्न हो जाने के उसके रूप में अन्तर नहीं पड़ा था। वह एक हलकी दुलाई ओढ़े हुक्के की नली मुँह में दबाए, गद्दे पर मसनद के सहारे बैठी

थी। नौकरचाकर बड़े यत्न से कमरे को सजा रहे थे। रङ्गीन हाँडियों में काफूरी बत्तियाँ जल रही थीं। धीमी और सुगन्धित वायु से कमरा महक रहा था। सब कुछ ठीक-ठाक करके उसने नौकर को आवाज़ देकर कहा—"बसन्ती यदि कपड़े बदल चुकी हो तो उसे ज़रा यहाँ भेज दो।" बसन्ती ने सहमते-सहमते कमरे में प्रवेश किया। बड़े दुलार से बड़नक्की ने कहा—"बेटी! देखो, इस पोशाक में तुम कितनी अच्छी लगती हो। पर देखो, बण्डी इस तरह नहीं पहना करते। तुमने तमाम गर्दन और कान ही ढक लिया—वाह, यह कैसा भद्दापन है! सिर का पल्ला ज़रा पीछे रक्खा करो। घूँघट का इस घर में काम नहीं। और हाँ, देखो, वह मेरा काश्मीरी नया शाल निकाल लो—वह तुम्हारा हुआ। पर इतनी सुस्त क्यों हो? क्या पराए घर हो? घर तो तुम्हारा है, ख़ुश रहो—खाओ, खेलो, मौज करो। औरों को नहीं देखती क्या? अच्छा देखो, उस मसनद पर बैठो तो सही। नहीं, इस तरह नहीं, सिकुड़ती क्यों हो? हाँ, अब ठीक है। अच्छा ज़रा उस बोतल और गिलास को तो उठा लाओ।"

बालिका ने विनम्र भाव से बोतल-गिलास बड़नक्की के सामने धर दिया। बड़नक्की ने अधिकार के स्वर में कहा—गिलास भरो बेटी! बालिका ने गिलास भरा। बड़नक्की ने उसे हाथ में लेकर पी लिया और कहा—एक गिलास तुम भी पियो!

"जी नहीं, मैं नहीं पिया करती।"

"यह क्यों, तुम्हारे ठाकुर साहब तो सदा पीते हैं?"

"जी हाँ, पर मैं नहीं पीती।"

"पगली बेटी! ऐसी नियामत बिना पिए रहा जा सकता है?"

बड़नकी ने गिलास भरा। बालिका के होठों से लगा दिया—बालिका पी गई। इसके बाद बालिका को प्यार से चूम कर बड़नकी ने कहा—बसन्ती, तुम किसी दिन बड़ा नाम कमाओगी। अच्छा, अब काम की बात सुनो। देखो, यह कसबन का घर है। अपना-अपना कर्म अपना-अपना धर्म। मैं चाहती हूँ कि किसी लखपती को तुम्हें सौंप कर तुम्हें खुश देखूँ। अभी जो सरदार आने वाले हैं—अजमेर तो क्या, मारवाड़ में उनके-सा सुन्दर जवान नहीं है। कैसे बाँके जवान हैं—कि वाह! उम्र भी २०-२१ के इतनी ही। रङ्ग, जैसा कुन्दन का, वाणी, जैसे फूल बरसते हैं, दाँत जैसे मोती, छरहरा बदन, कैसा प्यारा जवान है। तुझे बेटी, उनकी सब तरह खातिर करनी होगी। लजाने-शर्माने से काम नहीं चलेगा, समझी? अच्छा, ऊपर जाकर ज़रा देख आओ, नाश्ता और खाने-पीने का सब सामान तैयार है न? पर देखना, जो वे बहुत इसरार करें तो पी लेना! ज़्यादा ना-नूँ इन रईसों को पसन्द नहीं। जाओ, उस कमरे में शराब, गिलास और नाश्ता सब ठीक-ठीक चुनवा दो।

बालिका नीची गर्दन किए सुनती रही, और फिर धीरे से चली गई।

बड़नकी ने उसकी तरफ़ देखा और धीरे-धीरे सिर हिला कर मुस्कराई। इतने में एक सेवक ने चिट्ठी लाकर दी। उसमें लिखा था—

प्रिये!

खेद है, मैं न आ सकूँगा। आज तुम्हारी बात रखना असम्भव है। ऐसा भी विश्वास नहीं होता कि फिर कभी तुमसे मुलाक़ात होगी। बहू जी

आ गई हैं, और उनकी पवित्रता, भोलापन और सौन्दर्य देख कर मैंने मन में कुकर्म त्यागने और चरित्र सुधारने का दृढ़ सङ्कल्प कर लिया है। कृपा कर अब उस भोली मूर्ति को दिखा कर को मुझे लालच में न फँसाना, मैं तुम्हारा प्रतिपालन वैसे ही करता रहूँगा। पर देखना, ऐसा काम कोई न करना कि मेरा नाम तुम्हारे घर के साथ लिया जा सके।

"यह स्वप्न में भी न सोचना कि मैं तुमसे नाराज़ हूँ। तुम्हारे द्वारा जीवन में जो सुख मिला है, वह जीवन में भूलने की वस्तु नहीं। अब से हम दोनों विशुद्ध मित्र रहे। प्रिये, विदा!"

पत्र बड़नक्की के हाथ से गिर गया। उसने पत्र से ज्योंही दृष्टि उठाई, दासी ने सेठ......को सम्मुख ला खड़ा किया। बड़नक्की हड़बड़ा कर उठ बैठी और बोली—ओफ़! आज इतने दिन बाद अचानक पधारे—हमारे अहो भाग्य! मैं तो समझी, हुज़ूर ने मुझे भुला दिया। कमला ने कितनी बार याद किया, मैंने कहा कि बेटी, सब्र कर! रईस कब किसके होते हैं! यहाँ तो एक आते और एक जाते हैं। पर सुनती ही नहीं, तभी से उदास रहती है। मैंने सोचा कि आपको लिखूँ, पर कुछ सोच कर रह गई। हाँ, यह तो कहिए, हुज़ूर का मिज़ाज तो अच्छा है?

"बहुत अच्छा हूँ, मैं जोधपुर चला गया था। एक गम्भीर मामला हो रहा है। अब तुमसे तो कुछ छिपा नहीं है।........खान्दान को तुम जानती ही हो, अब या तो अजमेर में वे नहीं या मैं नहीं। मैंने वह हाथ धरा है कि कल १० बजे दुनिया जानेगी कि सेठ........का टाट उलट गया।"

बड़नकी ने पास खसक कर कहा—आखिर तुमने ऐसी कारिस्तानी क्या की है ? कुछ सुनूँ भी ! मुझसे क्या छिपा रहे हो—सभी धन्धे तो मेरी मार्फ़त होते हैं ।

"पर यह धन्धा कुछ और ही है । (धीरे से) कल पचास लाख की हुण्डियों का भुगतान सेठ जी को करना पड़ेगा । (मुस्करा कर) हुण्डियाँ ये जेब में पड़ी हैं, वहाँ रुपया है नहीं । मैं जोधपुर, बीकानेर, जयपुर—सभी जगह से उनकी हुण्डियाँ खरीद लाया हूँ ।"

बड़नकी ने मन का भाव दबा कर कहा—ग़ज़ब करोगे । खैर, तो यह कहिए कि सैकड़ों वर्ष के पुराने घराने को बर्बाद कर देंगे । आपने बड़ा भारी परिश्रम किया ।

"क्या पूछती हो ? कई महीने दौड़-धूप करनी पड़ी है । नहीं तो क्या मैं बिना आपके और कमला के रह सकता था ? हाँ, कमला कहाँ है ?"

"आठ दिन के लिए जयपुर भेज दिया है । बड़ी उदास रहने लगी थी ।"

"वाह, यह तो बुरी सुनाई !"

"क्यों, कमला न सही, मैं तो हाज़िर हूँ ?"

"आप अपनी जगह और कमला कमला की जगह है ।"

"मेरे पास एक ही कमला नहीं है ।"

क्षण भर में बसन्ती ने कमरे में प्रवेश किया । एक अपरिचित अधेड़ व्यक्ति को देख वह ठिठक रही । ओस से भीगे हुए गुलाब की कान्ति के समान लज्जा की लाली और सौन्दर्य के निखार का साथ-साथ उद्गम देख कर कामुक सेठ सक्ते की हालत में हो गए ।

बड़नक्की ने कहा—बेटी! सङ्कोच न करो, अभी तो मैं तुमसे इनका ज़िक्र कर रही थी। आपको ऊपर ले जाओ, ख़ातिर-तवाज़ा करो।

बालिका चुपचाप खड़ी रही। इसी अधेड़ पुरुष की रूप-रेखा क्या उस तरह बयान करी गई थी। पर अभागिनी वेश्या की लड़की को वह सोचने का क्या अधिकार? उसने एक ही क्षण में देख लिया कि यह पुरुष न सुन्दर है, न सुडौल, बल्कि एक ४० साला अधेड़, मोटा, बदरङ्ग आदमी है।

उसके होठ घृणा से सिकुड़ गए। सेठ जी ने उस सौंदर्य-मूर्ति को पाकर मानो आसमान छुआ। वे बड़े चाव से उठे और उसका हाथ पकड़ ऊपर ले चले। बालिका मन्त्र-बद्ध की तरह चुपचाप चल दी।

५

अँधेरी रात में सिर्फ़ तारों की परछाईं थी। उसमें काले वस्त्र से शरीर को ढके एक व्यक्ति टेढ़ी-मेढ़ी गलियों को पार करता तेज़ी से जा रहा था। एक विशाल अट्टालिका पर जाकर उसने ऊँघते हुए द्वारपाल का कन्धा पकड़ कर, हिला कर कहा—सुनो, ज़रा देखो सेठ जी सोते हैं या जाग रहे हैं। सोते हों तो भी उन्हें जगा दो काम बहुत ज़रूरी है।

द्वारपाल ने हड़बड़ा कर, सावधान होकर कहा—पर तुम हो कौन?

आगन्तुक ने मुख पर का आवरण उतार डाला। टिमटिमाते दीपक के धुँधले प्रकाश में द्वारपाल ने देखा, वह अकचका गया और शीघ्र ही भीतर ड्योढ़ियों में चला गया।

सेठ जी की उम्र ६० को पार कर गई थी। वे घबड़ा कर बोले—बड़नकी, तुम इस वक्त ?

"दिल न माना, सेठ जी ! बुढ़ापे में दिल ज़्यादा बेक़ाबू हो जाता है।"

"हँसी रहने दो—खैर तो है ?"

"खैर होती तो इस वक्त मुझे आना पड़ता ?"

"बात क्या है, सो तो कहो ?"

"घर में रुपया कितना है ?"

"तुम्हें कितना चाहिए ?"

"पचास लाख नक़द !"

"पचास लाख ? और इस वक्त ? पागल हो गई हो क्या ?"

"बिना पागल हुए घर से निकल सकती थी !"

"आखिर मामला तो बताओ, क्या है ?"

"कह दिया न, रुपए की ज़रूरत है। घर में कितना होगा ?"

"दो-तीन लाख !"

"कल कुछ देना है ?"

"कुछ नहीं !"

बड़नकी क्षण भर खड़ी रही। उसने एकाएक सेठ जी का हाथ पकड़ लिया, और कहा—मेरे साथ अभी आदमी भेज दीजिए, जो कुछ भी होगा, भेज दूँगी। आपको कल पचास लाख की हुण्डी भुगतान करनी पड़ेगी। तैयार रहिए, सर्वनाश की दुश्मनों ने पूरी तैयारी कर ली है। इतना कह कर बड़नकी ने कान में कुछ कहा।

सेठ जी ने एक भेद-भरी दृष्टि से वेश्या को देखा। उन्होंने बड़े ज़ोर से उसका हाथ दबा कर कहा—बड़नक्की ! तुम्हारा एहसान अब इस बुढ़ापे में नहीं उतर सकता। जाओ, उस जन्म में उतारूँगा। तुम आराम करो, मैं सब भुगत लूँगा। तुम्हें रुपए के लिए तकलीफ़ करने की ज़रूरत नहीं।

सेठ जी ने एक नौकर को पुकार कर बड़नक्की को उसके मकान तक छोड़ आने का आदेश किया।

बड़नक्की विशेष आग्रह न कर, एक दृष्टि सेठ के वृद्ध, किन्तु स्निग्ध नेत्रों में फेंक कर चल दी।

६

"अभी साहब सोते हैं, मुलाक़ात नहीं होगी।"

"मगर मेरा काम बहुत ज़रूरी है।"

"मुझे जगाने का हुक्म नहीं है।"

"मैं बिना मिले जा नहीं सकता।"

ग़ुस्से से लाल मुँह किए चीफ़ कमिश्नर साहब ने बराण्डे में आकर ग़ुर्रा कर कहा—वेल बेरा, क्या ग़ुल है ?

"हुज़ूर सेठ साहब......"

"ओह ! रायबहादुर......आप इस वक़्त कैसे ?"

"हुज़ूर ! बहुत ज़रूरत होने पर आया हूँ।"

"क्या बात है ?"

"भीतर चलिए तो कहूँ।"

भीतर आकर सेठ जी ने पगड़ी साहब के पैरों पर धर दी और सारा मामला सुना कर कहा—कल भुगतान करना या मरना—एक काम मुझे करना होगा। सिर्फ़ तीन दिन के लिए दस लाख रुपया सरकारी ख़ज़ाने से मिलना चाहिए।

साहब ने गम्भीर होकर कहा—मगर यह तो क़ानून नहीं है।

"साहब! मैं क़ानून नहीं जानता, सरकार के लिए हम जान देने के लिए तैयार हैं, क्या सरकार हमारी इतनी मदद भी न करेगी?"

साहब ने पुर्ज़ा लिख दिया।

अङ्गरेज़ी अमलदारी के प्रारम्भिक दिन थे। क़ानून आवश्यकतानुसार काम में आता था। रातोंरात सेठ जी के घर में रुपया पहुँच गया। रातों-रात कोठे में भर दिया गया। रातोंरात दीवार चुन दी गई और सफ़ेदी कर दी गई।

दस बज गए थे। सेठ जी गम्भीर मुद्रा से गद्दी पर बैठे थे। मुनीम-गुमाश्ते अपने-अपने धन्धे में लगे थे। सेठ......अपना भारी शरीर गाड़ी से उतार कर मुस्कुराते हुए भीतर चले आए। सेठ जी ने हँस कर आदरपूर्वक उन्हें बैठाया, कुशल पूछी और आने का कारण पूछा। सेठ जी ने ज़रा हँस कर कहा—सेठ साहब, आप पर थोड़ी सी हुण्डियाँ हैं, उन्हें सकार दें। रुपए की इस वक़्त ज़रूरत आ पड़ी है।

सेठ जी ने मुनीम जी से हुण्डियाँ लेने को हाथ बढ़ाया।

मुनीम जी का मुँह पीला पड़ गया।

सेठ जी ने कहा—क्या बात है मुनीम जी ?

"रुपया नक़द घर में है नहीं ; हुण्डियों की रक़म बहुत है।"—मुनीम जी ने धीरे से कहा।

सेठ जी ने ज़रा उच्च स्वर में कहा—तो क्या हर्ज है, सेठ साहब कोई ग़ैर थोड़े ही हैं। दो-चार दिन के आगे-पीछे रुपए भेज देना।

"सेठ साहब! रुपया आज मिल जाता तो ठीक था—आज रुपए की ज़रूरत है। वरना वैसे तो कोई बात न थी।"

"आप जानते हैं, रुपया नक़द रोक कर हमेशा रक्खा नहीं जाता—हाँ, दो चार दिन में मिल जायगा, यह तो व्यवहार की बात है।"

"व्यवहार की बात तो यह है कि हुण्डी फ़ौरन सकार दी जायँ।"

"पर हमारा आपका वैसे भी तो एक मामला है।"

"यह तो ठीक है, पर रुपया तो आज ही चाहिए।"

"आज रुपया नहीं दिया जा सकता।"

"रुपया आज ही मिलना चाहिए।"

"आज रुपया नहीं मिलेगा।"

"तब हुण्डियाँ नहीं सकारी जावेंगी।"

"क्यों नहीं ?"

"तब रुपया अभी दीजिए।"

"अभी ?"

"जी हाँ, अभी।"

"दो-चार दिन भी न ठहरेंगे ?"

"दो-चार मिनिट भी नहीं"

सेठ जी हँस दिए। मुनीम जी का मुँह फीका हो रहा था, वे थर-थर काँप रहे थे। सेठ जी की हँसी का रहस्य नहीं समझे। मुँह ताकने लगे।

सेठ जी ने कहा—मुनीम जी, बेलदारों को तो बुलाओ।

बेलदारों के आने पर सेठ जी ने हुक्म दिया—इस दीवार को तोड़ तो दो।

दीवार पर घन पड़ने लगे। ईंटों के गिरते ही छनाछन रुपए का ढेर आ पड़ा। लोग हैरान थे। सेठ जी ने गर्ज कर कहा—मुनीम जी, कह दो इस कँगले से अपने हाथ से रुपया गिन कर ले जाय।

आगन्तुक सेठ धरती में गड़ गए। वे हुण्डियाँ वहीं छोड़ कर चुपचाप चल दिए।

उसी दिन रात्रि को बड़नक्की के पास उसके सच्चे प्रेम का उपयुक्त उपहार भेज दिया गया।

७

हीरे के उस हार को, जो सेठ जी ने उपहार भेजा था, बड़नक्की पहन कर क़द्दे-आदम आईने में अपने ढलते यौवन को निहार कर सेठ जी की कुछ मधुर स्मृतियों में लीन हो रही थी। एक दूसरे बड़े रईस की उसके यहाँ आज आमद थी। वह सज-धज कर बैठी थी। दासी सफ़ाई कर रही थीं, क़रीने से सामान सजाया जा रहा था। एक व्यक्ति धीरे-धीरे चुपचाप ऊपर चढ़ गया। बड़नक्की को अपने ध्यान में कुछ सुध न थी। जब

उसने एकाएक गर्दन उठा कर उसके भयानक मुख को देखा तो वह सहम गई।

आगन्तुक ने कहा—बी साहिबा, घबराओ नहीं। उम्मीद है, मुझे पहचान गई होंगी—नजफ़ खाँ पठान हूँ। यहाँ के अमीरों से मैं खिदमत ले चुका हूँ, अब उन्हें सताना नहीं चाहता। अब मैं आपकी खिदमत में आया हूँ, दस हज़ार रुपए की सख्त ज़रूरत है। कल रात को आठ बजे लूझिया मसाण वाले पीपल के नीचे दक्षिण की तरफ़ गड़ा हुआ मिले, वरना खैर न होगी। अच्छी तरह समझ लो, लूझिया मसाण के पीपल के नीचे दक्षिण की तरफ़, रात को आठ बजे तक—समझीं? मैं तुम्हें हरगिज़ तकलीफ़ न देता, पर क्या करूँ, बात ऐसी ही आ पड़ी है। अब ज़्यादा बातचीत की फ़ुरसत नहीं, मैं जा रहा हूँ। यह कह कर वह बिना उत्तर पाए ही गदगद करके ज़ीने से उतर गया। बड़नक्की मुँह देखती सहमी रह गई।

८

नजफ़ खाँ पठान कौन था? वास्तव में यह कोई न जानता था, पर उसकी धाक बड़ी थी। छोटे-छोटे सभी अमीर उसका लोहा मानते थे। वह बहुत डाके वगैरा न डालता था और न चोरी करता था। जब उसे ज़रूरत पड़ती, वह किसी अमीर से कहता—देखो जी, १० या ५ हज़ार रुपए उस दरख्त के नीचे गाड़ आना। अमुक समय तक। यदि वहाँ रुपए जमा न हुए तो याद रक्खो, जहन्नुम-रसीद कर दिए जाओगे।

अगर ठीक समय पर वहाँ रुपया गड़ा मिल गया तो ठीक, वरना अगले ही दिन वह रईस सचमुच जहन्नुम-रसीद, कर दिया जाता था। फिर

या तो उसका कहीं पता ही न लगता या पलङ्ग पर सिर धड़ से अलग; या कहीं जङ्गल में कुचली खोपड़ी, फटा सीना, कटा पेट कुत्ते और कौवों के जमघट में पड़ा मिलता। ये नक़्शे देख कर लोग नजफ़ ख़ाँ की ताक़त को समझ गए थे और जब हुक्म होता, जितने रुपयों के लिए होता, जिस दरख़्त या मुक़ाम का पता होता, रुपया वहाँ गड़ा हुआ तैयार मिलता। इस तरह नजफ़ ख़ाँ मुद्दतों अमीरों के रुपयों पर आनन्द करता रहा। उसे पकड़ने में कोई समर्थ न था। पुलिस सिर फोड़ कर मर गई। सिपाहियों और इन्सपेक्टरों की तो बात ही क्या, पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट तक उससे पिट चुके थे और बन्दूक़ तथा घोड़ा छिनवा चुके थे।

६

बड़नक्की गाल पर हाथ धरे बड़ी देर तक इस मामले पर विचार करती रही। अन्त में उसने निश्चय किया कि पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट से इस घटना की इत्तला करनी चाहिए। भला वेश्या का माल एक डाकू गुण्डा इस तरह हज़म कर जाय—जैसे कि बनियों का खाता है? दुनिया को हम लूटती हैं और यह हमें लूटने चल पड़ा? यह कदापि न हो सकेगा। यह इरादा पक्का करके, जैसे-तैसे बड़नक्की ने रात काटी। सुबह वह मुलाक़ात की पोशाक पहन, गाड़ी मँगा, साहब के बङ्गले को रवाना हो गई।

डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट भी उसके चेले थे। जूतियाँ सीधी कर चुके थे। ख़बर पाते ही फ़ौरन बाहर निकल आए। मुलाक़ात के कमरे में ले गए और ख़ैरियत पूछने लगे।

बड़नक्की—"हुज़ूर, ख़ैरियत कहाँ? वह मुआ नजफ़ ख़ाँ कल आया था। कह गया है कि या तो १० हज़ार कल मसाणिया पीपल के नीचे रख

आओ, नहीं तो खैर नहीं और उस बादमाश से कुछ बईद भी नहीं है, वह जरूर मुझे मर डालेगा, अगर रुपए न गए तो। और आप देखते हैं, रुपए मुझ गरीब के पास कहाँ धरे हैं। गनीमत है, खुदा का शुक्र है! तिस पर......!" बीच ही में डिप्टी साहब बोल उठे—"बी साहबा! रुपए-पैसे की तो आपके पास कुछ कमी नहीं है। मगर वह क्या ऐसे बदमाशों के लिए है? आखिर आपने भी तो उसे अपना तन-बदन दिखा कर किन-किन मुश्किलात से पैदा किया है। वह क्या इस तरह बर्बाद करने के लिए? ऐसा हर्गिज़ नहीं हो सकता।"

बड़नक्की ने ज़रा झेंप कर कहा—हाँ-हाँ, हुज़ूर, गरीब परवर! यही तो—यही तो मैं अर्ज़ कर रही थी। अगर हमारी ऐसी कमाई, अगर वह कुछ हो भी, तो क्या इन बदमाशों के लिए है? हरगिज़ नहीं। हुज़ूर, इसका कुछ बन्दोबस्त तो होना ही चाहिए, वरना मैं मारी जाऊँगी।

डिप्टी साहब कुछ सोच कर बोले—बेशक! अच्छा आप मेरे साथ सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब के बँगले पर चलिए। उनकी जैसी राय होगी वैसा बन्दोबस्त कर दिया जायगा। वह बदमाश मुद्दत से पुलिस को झाँसा दे रहा है, अच्छी बात है, देखा जायगा। चलिए, आपकी गाड़ी तो बाहर है न?

डिप्टी साहब कोट-पैण्ट से लैस होकर और हैट सिर पर रख कर सुपरिण्टेण्डेण्ट साहब के बँगले की तरफ़ चले। चपरासी ने फ़ौरन खबर दी और साहब ने डिप्टी साहब को भीतर बुला लिया।

साहब—हलो मिस्टर सिनहा, आज क्या खबर है?

डिप्टी—हुज़ूर! और तो सब ठीक है, मगर आज वह मशहूर बदमाश नजफ़ खाँ फँसने वाला है।

साहब—अच्छा अच्छा, वह कैसे फँसाया जायगा, क्या तरकीब सोची है आपने ?

डिप्टी साहब ने बड़नक्की का सब क़िस्सा सुना कर कहा—हुज़ूर, वह वेश्या भी गाड़ी में है, उसी के मुँह से सब दास्तान सुन लीजिए।

साहब—हाँ, अच्छा उसे बुला लो।

बड़नक्की ने भीतर प्रवेश करके साहब को फ़र्शी सलाम झुकाया।

साहब—(नीचे से ऊपर तक देख कर) तुम्हारा ही नाम बड़क्की है ?

बड़नक्की—हुज़ूर, ग़रीब परवर, इसी नाचीज़ को बड़नक्की कहते हैं।

"क्या तुम्हारे यहाँ वह बदमाश डाकू कल आया था ?"

"जी हाँ, हुज़ूर !"

"क्या माँगता था ?"

"हुज़ूर, १० हज़ार रुपए। लूँगिया मसाण के पीपल के नीचे आधी रात को आठ बजे तक दबा देने के लिए कह गया है। अगर उस वक़्त तक रुपए वहाँ नहीं पहुँचे तो वह ज़रूर-बिलज़रूर मेरा ख़ून कर देगा। कल ही मेरे मकान में घुस जायगा, ज़िन्दा न छोड़ेगा।"

साहब—हो ! ऐसा ?

बड़नक्की—हाँ हुज़ूर, ग़रीबपरवर।

साहब—अच्छा, डरने की कोई बात नहीं। वेल डिप्टी साहब, अभी पुलिस का पूरा दस्ता इसके मकान पर चुपचाप लगा दो, और मैं कमाण्डिङ्ग ऑफ़िसर अजमेर और ए० जी० जी० को लिख कर कुछ फ़ौजी सिपाही भिजवाए देता हूँ। ५०० की जमात काफ़ी होगी, क्यों ?

डिप्टी—बेशक हुज़ूर, ५०० काफ़ी है। मैं सब ठीक कर लूँगा।

साहब—मगर देखो, मकान पर घेरा उस वक्त डाला जाय, जब कि वह मकान में घुस जाय।

डिप्टी—जो हुक्म हुज़ूर !

साहब—वेल डिप्टी साहब, सलाम !

१०

ठट्ठों के घर में आज बहार थी। कँवर साहब की सगाई चढ़ रही थी। हाथी, घोड़े, रथ और मझोलियों का ताँता लग रहा था, शहनाई बज रही थी। बड़नक्की की तबीयत ठीक न थी, उसने बहुत-बहुत माफ़ी माँगी थी। मगर उसकी अप्सरा बसन्ती महफ़िल में दिप रही थी। हीरे और मोतियों से खचाखच पेशवाज़ पहन कर वह अतुलनीय सुन्दरी दीख रही थी। फिर भी वेश्या की दृष्टि अभी उसमें नहीं पैदा हुई थी। वह इतनी भीड़ में सङ्कोच के मारे मरी जा रही थी। कुछ गाने के बाद ज्योंही वह बैठने लगी, एक नौकर ने उसके कान में कुछ कहा। बसन्ती वहाँ से दूसरे कमरे में चली गई। कमरे में एक सुन्दर युवक अकेला बैठा था। उसने दौड़ कर बसन्ती का आलिङ्गन किया। उसने गद्‌गद कण्ठ से कहा—बसन्ती! मैं नहीं जानता, तुम्हें मेरा यह व्यवहार पसन्द होगा या नहीं। सुना है, वेश्याओं को धन पाकर अपना शरीर चाहे भी जिसे अर्पण करने में ज़रा भी सङ्कोच नहीं होता। पर उस तरह नहीं, मैं सच्चे दिल से तुम पर मुग्ध हूँ। अगर मेरा वश होता तो मैं तुम से ब्याह करता। पर क्या परमेश्वर के सम्मुख तुम मुझे पति समझ सकती हो? ठहरो, मैं शपथ खाता हूँ कि मैं ऐसा समझूँगा। मगर तुम, तुम कह दो। फिर मैं लोक-लाज की परवा नहीं करूँगा।

बसन्ती विह्वल हो गई। इस एकाएक आक्रमण को वह सह गई। उसने मद-भरी आँखों से एक बार युवक को देखा, फिर खेद और विषाद ने उसे अवनतमुखी बना दिया।

युवक ने उसे बैठा कर पूछा—बसन्ती, मैंने सुना है कि तुम वेश्या की पुत्री नहीं हो। क्या यह सच है?

"कँवर साहब! मैं वेश्या हूँ। आप दिल-बहलाव चाहे जिस तरह मेरे साथ कर लें, मुझे उज्र नहीं। मेरा वेश्या-शरीर उज्र कर ही नहीं सकता—फिर आपके प्रति तो मन भी खिंचता है। परन्तु कृपा कर प्रेम की बात न करें। भगवान् आपकी उम्र बढ़ावे—आपका विवाह अभी हुआ है, आप बड़े घर के नौनिहाल हैं। बहू जी देवी हैं, वे आपके लिए पुत्र-रत्न जनेंगी। आप मेरी-जैसी अपवित्र नारी के लिए यह सब सौभाग्य छोड़ देंगे! आप जैसे विवेकी.........!"

बसन्ती कह रही थी, युवक भौंचक सुन रहा था। वह सोच रहा था—यह वेश्या है या कोई महान् देवी? उसने उसका हाथ पकड़ कर कहा—"बसन्ती, मैं अपना सन्देश कितनी ही बार भेज चुका हूँ, आज मैंने मिलने का सुयोग पाया। तुम यदि मुझे वचन न दोगी, तो मैं मर जाऊँगा। जल्दी करने को मैं नहीं कहता, मैं कल तुमसे उत्तर लेने को आऊँगा। ओह! अब तुम बाहर जाकर मेरे लिए सितार पर एक गत तो बजा देना। और देखो, कुछ और न समझ कर, केवल यादगार के तौर पर, ये तो तुम्हें लेनी पड़ेंगी।" यह कह कर युवक ने चार मुहरें उसके हाथ पर धर दीं, और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किए ही बाहर निकल गया।

बसन्ती अपने छोटे से एकान्त कमरे में बैठी उस कोमल सुन्दर युवक का चिन्तन कर रही थी—कैसी सुन्दर दन्त-पंक्ति, कैसा गौर वर्ण, कैसी स्वच्छ आँखें—हे परमेश्वर, इस पाप-जीवन में यह रस देना भी तेरा काम है। क्या सचमुच वे आवेंगे? उनकी विवाहिता पत्नी क्या उन्हें आने देगी? हाय री अधम नारी-जाति! क्या मैं 'पत्नी' शब्द की अधिकारिणी बन सकती हूँ? परन्तु जाति, लोकमत और धर्म-बन्धन की अटूट दीवारें कैसी सामने खड़ी हैं? ख़ैर जाने दो, मैं अधम वेश्या होकर भी यदि समाज के सामने न सही, परमेश्वर के सामने उनकी पत्नी हो सकूँ—वे मुझे प्यार कर सकें, अपना सकें कभी न त्यागें, तो बहुत है—मेरे लिए बहुत है। इतना कह कर उसने वक्षस्थल पर यत्न से छिपाई हुई वे चारों मुहरें निकाल कर हाथ में लीं, उन्हें बार-बार चूमा और फिर वह उनको छिपाने के यत्न में एक बार कमरे के चारों ओर देख गई। उसने उन्हें पलँग के चारों पावों के नीचे छिपा दिया?

अभी वह यह सब काम करके निश्चिन्त भी न हुई थी कि सीढ़ियों पर पद-ध्वनि सुन कर चौंकी। उसके रक्त की एक-एक बूँद नाचने लगी। वह मन ही मन बोली—अभी से आगए! अभी तो आध घण्टे का समय है। क्या उन्हें भी मेरे समान चैन नहीं पड़ता? ओह! वह आनन्द से विह्वल हो गई।

परन्तु यह क्या? उसने दृष्टि उठा कर अन्दर प्रवेश करते हुए आगन्तुक को देखा—एक भीमकाय, बलिष्ठ, अधेड़ पुरुष सामने खड़ा है, खून के समान नेत्र जल रहे हैं, घनी काली दाढ़ी के भीतर कुटिल ओष्ठ स्तब्ध

दाँतों से चिपक रहे हैं। भय से बसन्ती की चीख निकल गई। वह उठ खड़ी हुई और दीवार से चिपक गई।

आगन्तुक ने आगे बढ़ कर कहा—डरो मत, मैं तुमसे प्रेम करने आया हूँ, तकलीफ़ देने नहीं। बैठ जाओ, शराब की बोतल और गिलास आ रहे होंगे। मैं नीचे तुम्हारी लायक़ अम्माँ से कह आया हूँ। वह सितार उठा लो, एकाध गत बजाओ, एकाध चीज़ इस सुरीले गले से गाओ। मैं कुछ देर यहाँ तफ़रीह करूँगा; क्योंकि आज मेरी तबीयत नासाज़ है। तुम्हारी अम्माँ जान ने मेरे साथ सलूक तो बुरा किया है, मगर उसका बदला उसी को दिया जायगा, तुमको नहीं। तुम्हारा जैसा सलूक मेरे साथ होगा, वैसा मेरा तुम्हारे साथ होगा। उसे भी मैं माफ़ कर दूँगा, क्योंकि उसने आध घण्टे में वादा पूरा करने को कहा है। आध घण्टा मैं तुम्हारी सोहबत में सर्फ़ करूँगा। तुम्हारे गाने-बजाने और रूप की तारीफ़ वह साला बनिए का बच्चा करता था, जिसे मैंने कल हलाल कर दिया है। देखता हूँ, देखने में बुरी नहीं हो। इतना कह कर वह दुर्दान्त डाकू एकाकी बसन्ती के सिर पर आ खड़ा हुआ और उसकी कमर में हाथ डाल कर उसे अधर उठा लिया। इसके बाद धीरे से फ़र्श पर रख कर खिलखिला कर कहने लगा—खुदा की क़सम! तुम फूल के बराबर हलकी हो—नाज़ुकी तुम पर ख़तम है। ओह! तुम वाक़ई एक प्यारी चीज़ हो। लो, यह क़ुबूल फ़रमाओ।

इतना कह कर उसने जेब से मुट्ठी भर अशर्फ़ियाँ उसके ऊपर उँडेल दीं। बसन्ती को होश न था, मानो किसी विषधर काल-सर्प ने उसे जकड़

लिया हो। वह बेंत की तरह काँपने लगी—उसके होठ नीले पड़ गए, उसने अशर्फ़ियाँ छुईं भी नहीं, वह कुछ बोली भी नहीं।

डाकू बैठ गया और घूर-घूर कर उसे देखने लगा। बसन्ती का भय कुछ कम हुआ, वह साहस बटोर कर बोली—मेरी तबियत इस वक़्त ख़राब हो गई है, अगर आप मुझे माफ़ कर दें तो बड़ा अहसान हो—वैसे भी मैं इस वक़्त हुज़ूर की ख़िदमत के लायक़ नहीं।

"बेवक़ूफ़, तू सिर्फ़ मुझसे डर गई है। मगर मैं तो पहले ही कह चुका हूँ कि तेरे साथ कोई बुरा सलूक नहीं किया जायगा। तुम्हारा फ़र्ज़ है, तुम मुझे ख़ुश करो। तुम्हारा नज़राना मैं पहले ही दे चुका हूँ। तुम रण्डी हो या और कुछ? समझना मैं ज़्यादा लल्लो-चप्पो नहीं पसन्द करता। या तो गाओ, वरना मैं तुम्हारे टुकड़े कर दूँगा।" यह कह कर उसने तलवार म्यान से खींच ली। बसन्ती पीली पड़ गई। उसके मुँह से बात न निकली। वह सक्ते की हालत में डाकू का मुँह देखती रही।

डाकू ने तलवार धरती पर फेंक कर चीते की तरह झपट कर और उसे उठा कर, भरपूर ज़ोर से पलङ्ग पर फेंक दिया। उसका इरादा पाशविक था, परन्तु इसी समय बहुत से मनुष्यों का जन-रव सुन कर वह चौंका। उसने खिड़की का पर्दा उठा कर देखा—सैकड़ों पुलिस के और फ़ौज के सिपाहियों ने मकान घेर रक्खा है। उसने दाँत मिसमिसा कर कहा—उफ़! दग़ा-दग़ा! इतना कह कर उसने सिंह की तरह हुङ्कार भरी। बिजली की तरह लपक कर उसने बालिका के शरीर पर के आभूषण उतार लिए। इसके बाद वह आँधी की तरह कोठरी से बाहर निकल

गया। ज़ीना भीतर से बन्द किया, बदनक्की उसे देख थर-थर काँप रही थी। मीराषी और नौकर दीवारों से चिपक रहे थे, उसने रस्सी से सबको जकड़ दिया और मकान की तलाशी लेनी शुरू करी। रुपया-पैसा, जेवर जो मिला, गाँठ बाँधी। सब सन्दूक़ तोड़ डाले। जड़ाऊ जेवर और जवाहरात क़ब्जे में किए। बाँध-बूँध कर वह छत पर चढ़ गया।

इसके बाद उसने तेज़ आवाज़ में डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट को लक्ष्य करके कहा—आदाबर्ज़ है डिप्टी साहब!

डिप्टी साहब—अब आप नीचे तशरीफ़ ले आइए। आदाब कोर्निश सब यहीं हो जायगा।

डाकू—आप ही आए हैं या हमारे साले साहब बेज़बर (मेजर वेजवुड पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट) भी हाज़िर हैं?

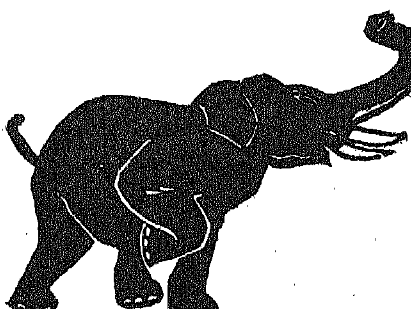
डिप्टी—वे भी हैं जनाब! अब आप ज़रा जल्दी इधर तशरीफ़ ले आइए, सभी लोग आपकी तवाज़े के लिए मुन्तज़िर खड़े हैं।

"बहुत अच्छा, यह लीजिए!" यह कहकर उसने एक बड़ा सा टोकरा, जो कूड़ा-कचरा, राख, टूटी चिमनी आदि भरा छत पर धरा था—झपाक से उठा कर सुपरिण्टेण्डेण्ट के सिर पर पटक दिया।

सिपाही समझे, नजफ़ खाँ सुयोग पा दूसरी तरफ़ कूद कर नौ-दो ग्यारह हुआ।

डिप्टी साहब ने मकान में घुस कर देखा, बदनक्की टुकड़े-टुकड़े हुई पड़ी है, खून में घर डूब रहा है। नौकर-चाकर, दाई आदि बँधे खड़े हैं और नजफ़ खाँ का पता नहीं! आज तक वह बेपता है!

बड़नक्की के कुछ श्रीमान् मित्र अभी ज़िन्दा हैं। वे जब अपनी जवानी के उन रसीले गुज़रे दिनों की याद करते हैं, तो उनकी सफ़ेद मूँछों में हास्य की रेखा दौड़ जाती है, और जब वे लाखन कोठरी में सड़क के नुक्कड़ पर पहुँचते हैं, जहाँ बड़नक्की की वह रहस्यमयी हवेली थी, तब एक ठण्डी साँस छोड़ते हैं। नजफ़ ख़ाँ सुना गया, अजमेर में ही उसके बाद शान्त जीवन व्यतीत करता रहा और हाल ही में उसकी मृत्यु हुई। वह दरगाह-शरीफ़ के पीछे एक गली में तस्बीह लिए चुपचाप पड़ा रहता था।



ठकुरानी

"अन्नदाता ! मैं ग़रीब ब्राह्मणी हूँ।"

"चुप लुच्ची, हाँ रे भूरासिंह क्या है ?"

"सरकार ! यही है वह !"

"तू प्याऊ पिलाती है ?"

"जी हाँ सरकार !"

"तेरा गाँव कौन सा है ?"

"गोराड़ा, महाराज, प्याऊ से कोस भर दूर है।"

"तेरे कोई है ?"

"सरकार ! मैं अकेली दुखिया हूँ।"

"तेरा नाम क्या है ?"

"रामप्यारी !"

"अच्छा ज़रा आगे को सरक के बैठ जा"—इतना कह कर ठाकुर साहब ने अपना एक पैर उसकी छाती पर धर दिया।

ज्येष्ठ की दुपहरी जल रही थी। गर्म लू चल रही थी। मारवाड़ के.........ठिकाने के ठाकुर साहेब अपने सुनसान बैठकखाने में कुर्सी पर बैठे प्याले पर प्याले शराब उड़ेल रहे थे। उस गर्मी में उस भयानक मदिरा ने उनके माथे की नसों को तान दिया था, चेहरा और आँखें लाल हो गई थीं, आवाज़ फटे बाँस के समान निकल रही थी।

स्त्री की अवस्था २२ वर्ष के लगभग थी। साधारण सुन्दरता की झलक उसके समस्त शरीर पर थी—वह मैले वस्त्र पहने अतिशय भयभीत दृष्टि से भूमि पर पड़ी हाथ जोड़ कर ठाकुर साहब से अर्ज़ कर रही थी। ठाकुर के हुक्म से ज्योंही वह आगे को सरकी कि ठाकुर ने अपना पैर उसकी छाती पर धर दिया। इसके बाद वह गिलास की शराब को गटागट पीकर बोले:

"हाँ, रामप्यारी! तुम हमारी भी प्यारी हो!"

"अन्नदाता! दुहाई! आप माँ-बाप हैं।"—इतना कह कर उसने धीरे से ठाकुर साहब का पैर धरती पर रख दिया और आप पीछे को सरक कर अपने वस्त्र सँभाल कर बैठ गई।

ठाकुर साहेब तैश में आगए। उन्होंने मुँह तक डाट कर दो गिलास गटागट पीए और फिर अबला को घूरते हुए उठ खड़े हुए और गरज कर बोले—क्या देखता है रे भूरासिंह! उतार दे दस!!!

भूरासिंह ने अनायास ही उसे अपने बलिष्ठ हाथों में उठा लिया और दूसरे कमरे में ले गया।

* * *

वह अर्द्ध-मूर्च्छितावस्था में खून में लथपथ पड़ी कराह रही थी। ठाकुर साहब ने एक हलकी लात जमा कर कहा—"क्यों? ठिकाने आई?" करुण-नेत्रों से चुपचाप ताकते हुए अबला वेदना से तड़प रही थी। ठाकुर ने कहा—बोल! मेरा हुक्म टालेगी!

अबला ने कहा—सरकार! अब तो पत लुट गई, जान बाक़ी है वह भी ले लो, आपको अख़्तियार है।

ठाकुर साहब ने पैशाचिक हँसी हँस कर कहा—छिनाल! तब इतना नख़रा क्यों किया था?

स्त्री चुप रही। ठाकुर साहब धीरे-धीरे चल दिए।

२

"सरकार! मेरे आपके बीच गङ्गा है!"

"बेवक़ूफ़ तुझे विश्वास नहीं आता!"

"जिन्दगी निबाहनी आपके हाथ है!"

"कह दिया न कि रजपुरा गाँव का पट्टा तुझे दे दिया जायगा?"

"और मुझे ड्योढ़ियों में रहने को जगह मिलेगी?"

"जब तक ठकुरानी नहीं आती जब तक तो ठीक है, पर उसके सामने निबाह होना मुश्किल है—उसका मिज़ाज बेढब है।"

"तब मैं कहीं की न रहूँगी?"

"पर तुझे मालूम है कि मेरे सामने ज़िद किसी की नहीं चलती, जो कहता हूँ उस पर भरोसा कर और मौज कर।"

इतना कह कर ठाकुर ने स्त्री का हाथ पकड़ लिया। मदिरा की गन्ध से स्त्री का सिर भिन्ना गया और उसने बलपूर्वक घृणा को रोक कर कहा—आप तो सरकार मर्द हैं, पर मैं मुँह दिखाने लायक़ न रही, यह भी तो सोचिए!

"कम्बख़्त! प्याऊ पर पानी पिलाने वाली से रानी बनी जाती है, राँड़ और नखरे करे जाती है, क्या फिर भूरासिंह को बुलाऊँ?"

"दया करो, नहीं मैं मर जाऊँगी!"

"मर कर अपनी ही जान से जायगी। जीती रहेगी और मेरी मर्ज़ी के माफ़िक़ काम करेगी तो मौज में दिन कट जावेंगे।"

"पर आप यह वादा करें कि आपकी नज़र तो न फिर जायगी? आप मुझे दूध की मक्खी की तरह तो निकाल न फेंकेंगे?"

"तब क्या बुढ़ापे तक मैं तुझे पोसे जाऊँगा?"

"चार दिन बाद क्या होगा?"

"नई-नई चिड़ियाँ फाँस-फाँस कर लाना, तेरा यही आदर-मान बना रहेगा।"

"हाय! मुझे यह भी करना होगा?"

"इसमें दोष क्या है? तुझे इनाम कम मिला है! निहाल हो गई—इसी तरह मैं उसे निहाल करता हूँ, जो मेरी मर्ज़ी के माफ़िक़ चलता है।"

"ख़ैर तक़दीर में जो लिखा था वह हुआ और जो होना है वह होगा—मैं आपके अधीन हूँ—आपसे बाहर नहीं।"

ठाकुर की बाछें खिल गईं, मद्य की बोतल उँडेली जाने लगी। अभागिनी नारी धीरे-धीरे मन की घृणा रोक कर एक गिलास पी गई। उसके बाद ? वह कुछ कहने योग्य नहीं।

३

शराब के घूँट गटागट करके ठाकुर साहब ने धरती में करबद्ध पड़े हुए एक युवक को लात मारकर कहा—क्यों रे ग़ुलाम ! मंज़ूर करता है—चाबुक मँगाऊँ ?

युवक ने पैरों में सिर दे कर कहा—सरकार माई-बाप हैं—चाहे बोटी काट डालिए—पर अन्नदाता ! यह कुकर्म मुझसे नहीं होगा।

"कुकर्म ! अरे हरामज़ादे, कमीने कुकर्म कहता है ! दो सौ रुपए तो ब्याह में नक़द दिए, सौ अब गौने में दिए ! किस लिए ? गाँव के बड़े-बड़े घरों की बहुएँ गौना होकर पहले यहाँ ढोक देती हैं—तू ऐसा नवाबज़ादा बन गया है।" इतना कह कर ठाकुर साहब ने एक लात युवक के जमा दी।

युवक ने गर्दन ऊँची करके, ज़रा करारे, किन्तु वेदना भरे स्वर में कहा—सरकार चाहे जान ले लें, पर जीते जी यह होने का नहीं। आबरू ग़रीब-अमीर सभी की है ! आबरू के सामने जान क्या चीज़ है।

ठाकुर ने गम्भीर गर्जन से पुकारा—भूरासिंह !

एक लठबन्द गुण्डा कमरे में आ हाज़िर हुआ। ठाकुर ने तत्काल आदेश दिया—दे, साले को गोला-लाठी दे !

देखते-देखते युवक के गोला-लाठी चढ़ा दी गई। ठाकुर ने कहा— कमीने कुत्ते! तेरे सामने ही उस लुच्ची को नङ्गी करके बेआबरू करूँगा!' भूरासिंह! उठा तो ला रे सुसरी को!

युवक की आँखें जलने लगीं। उसने तड़प कर कहा—"मालिक! तुम्हारा नमक तो खाया है—पर यह याद रखना कि मुझे बनिया-बामन न समझना—यदि मेरी इज़्ज़त पर हरफ़ आया, तो मैं ख़ून पी जाऊँगा; इसे याद रखना। मुझे मारते-मारते आप चाहे टुकड़े कर दें, सब सह लूँगा, पर मेरी औरत पर जो हाथ लगा देगा, उसी को जान से मार डालूँगा— चाहे पीछे फाँसी ही लग जाय। मुझे सेठ लोगों की तरह अपनी जान इतनी प्यारी नहीं है!" इतना कह कर युवक ने इतने ज़ोर से अपना होंठ काट डाला कि ख़ून निकल आया।

ठाकुर युवक के भाषण से क्षण भर के लिए सहम गया। इसके बाद उसने खूँटी से चाबुक लेकर युवक की खाल उधेड़नी शुरू की। एक भयानक आर्त्तनाद से दिशाएँ काँपने लगीं। नर-पिशाच ठाकुर ने जब तक युवक बेहोश होकर न गिर पड़ा—अपनी मार बराबर जारी रक्खी।

इसके बाद उसने भेड़िया की तरह गुर्रा कर कहा—"भूरासिंह! उठा ला उस बदज़ात को, देखें कौन उसे मेरे हाथों से बचाता है!" साक्षात् प्रेत-दूत की तरह भूरासिंह उधर को लपका।

* * *

रात्रि के गहन अन्धकार को भेद कर, दीए के धुँधले प्रकाश में बढ़ते हुए नर-पिशाच भूरासिंह को लठ लिए भीतर घुसता देख कर वृद्धा नाइन और उसकी नवागता वधू के प्राण सूख गए। बेचारी सुबह से दोनों भूखी

बैठी थीं—अन्न का दाना भी उनके कण्ठ से उतरा न था। प्रातःकाल ही से उसके लड़के को ड्योढ़ियों में बुला लिया गया था, और वह अब तक लौटा न था। उस पर क्या बीती होगी—इसकी दोनों असहाय नारियाँ भाँति-भाँति कल्पना कर रही थीं। नव-बधू का गवना होकर कल ही आया था—पति के उसने अच्छी तरह दर्शन भी नहीं किए थे। फिर भी वह अपढ़, देहाती, अबोध बालिका हृदय की धड़कन को रोक कर क्षण-क्षण पति की प्रतीक्षा कर रही थी। वृद्धा की बात तो कही क्या जाय, जिसने बीस वर्ष से उसी को देख कर ग़रीबी और बुढ़ापा काटा था। भूरासिंह को देख कर दोनों सकते की हालत में हो गईं। उसने घुसते ही कहा—"बहू ड्योढ़ियों में जायगी!" वृद्धा पर वज्रपात हुआ। उसने लपक कर बहू को छाती में छिपा लिया। जिस अनुनय और करुणा की दृष्टि से उसने वज्र-पुरुष भूरासिंह को देखा, उससे पत्थर भी पानी हो जाता; पर उसने अपने बलिष्ट बाहुओं से बालिका को खींच कर उठा लिया। उसी क्षण कदाचित् बालिका मूर्च्छित हो गई और एक शब्द भी उसके मुख से न निकला। वृद्धा पीछे दौड़ी, पर एक लात खाकर वह वहीं ढेर हो गई। भूत भूरासिंह अभागिनी, अरक्षिता बालिका को लेकर उसी अन्धकार में विलीन हो गया। पृथ्वी पर कौन उसका रक्षक था? लोग कहते हैं, परमेश्वर सबकी रक्षा करते हैं, पर इन नर-पिशाचों की नित्य की करतूतों को न जाने क्यों परमेश्वर हाथ पर हाथ धरे बैठा देखा करता है!!!

४

रात के ग्यारह बज गए थे। अभागिनी बालिका उस अँधेरे और सुनसान कमरे में धरती पर अत्यन्त उदास बैठी थी, जिसमें वह क़ैद की गई

थी। उस अधेड़ औरत के सिवा—जो उसे दिन में दो बार खाना दे जाती थी—तीसरे व्यक्ति की सूरत उसे तीन दिन से देखना नहीं नसीब हुआ था। हर बार अच्छे खाने उसके लिए वह रख जाती थी—और फिर उठा ले जाती थी। बालिका इतनी भयभीत थी कि उसने न खाना छुआ और न पानी पिया, एक प्रकार से वह अधमरी पड़ी थी। वह रह-रह कर चीख़ पड़ती थी।

ऐसे कमरे में बन्द होने का ख़याल ही अत्यन्त भयङ्कर है। वह कमरा मानो इन अभागिनी स्त्रियों को ज़िन्दा क़ब्र में गाड़ देने—दुनिया से एकदम किनारे ले जाने के लिए बनाया गया था। वहाँ न किसी के चीख़ने-चिल्लाने की और न किसी अन्य प्रकार के बचाव की गुञ्जाइश थी।

मनुष्य कामासक्त होकर कैसी बुराइयाँ कर बैठता है, लालसा कैसा खेल खिलाती है; और वासना कैसे-कैसे पागलपन के काम करा बैठती है—यह बात बहुत कम लोग जानते हैं।

धीरे-धीरे बालिका ने अपनी परिस्थिति पर विचार करना शुरू किया वह कभी ज़ार-बेज़ार रोने लगती। कभी सोच-विचार और चिन्ताओं से से अधीर हो जाती। कभी वह साहस बटोर भागने की जुगत सोचती। परन्तु व्याघ्र के मुख में फँसी हुई हिरणी के लिए यह कहाँ तक सम्भव था। फिर भी वह साहस करके उठी—उसने अपने बिखरे हुए कपड़े सँभाले—और वह चारों ओर कमरे में चक्कर काटने लगी। उसने एक बार ख़ूब ज़ोर से चिल्ला कर देख लिया।

एकाएक पद-ध्वनि सुन कर उसने चौंक कर पीछे को देखा—साक्षात् पिशाच-रूप ठाकुर खड़ा था। उसने दोनों हाथ फैला कर आगे बढ़ते हुए

कहा—"आ—आ—प्यारी कबूतरी......।" बालिका अतिशय भयभीत होकर इस तरह भीतर को भागी कि दीवार में टक्कर खाकर गिर पड़ी—रक्त की धार बह चली। वह मूर्च्छित सी हो गई और उसका सिर चकराने लगा। उस यमपुरी-जैसे अँधेरे कमरे में एक विशाल-काय पिशाच को देख कर वह धरती से चिपट गई। कामान्ध पुरुष ने अपने वज्र-हाथों से उसे अनायास ही उठा लिया। उस कुमारी-समान, नव-वधू, मूर्च्छिता और रक्त में लथपथ असहाय अबला की उसने निश्शङ्क होकर पत लूट ली और उसे वहीं धरती में मूर्च्छित छोड़, चला आया।

५

"आप ऐसा नहीं करने पावेंगे!"

"तुम मेरी जोरू हो या मैं तुम्हारी जोरू हूँ?"

"यह तो आप जानिए, पर मैं आपकी विवाहिता पत्नी हूँ!"

"फिर मुझ पर हुक्म किस लिए चलाती हो?"

"मैं हुक्म नहीं चलाती, सिर्फ़ कुमार्ग में जाने से आपको रोकना चाहती हूँ।"

"मैं लुगाई का गुलाम नहीं हूँ!"

"गुलाम तो मैं भी नहीं समझती!"

"तब रोज़-रोज़ का झञ्झट क्यों?"

"आप सज्जन और आबरूदार रईस की तरह रहिए!"

"क्या तुम मुझे सज्जन बनाओगी?"

"अवश्य?"

"तुम्हारी इतनी मजाल ?"

"जी हाँ !"

"मैं दूध की मक्खी की तरह निकाल फेकूँगा !"

"आपकी ऐसी हैसियत नहीं है ?"

"मैं रियासत का मालिक हूँ !"

"हरगिज़ नहीं, आप उसके मुन्तज़िम हैं, मालिक रियाया है—जो पसीना बहाती है।"

"तो रियाया को खज़ाना लुटा दूं ?"

"अगर उसे ज़रूरत हो तो लुटा दो, पर अपनी मौज-बहार में नहीं लुटा सकते।"

"वाह, यह खूब कही, यह तुम्हारे बाप का खज़ाना नहीं है।"

"बाप के खज़ाने में स्त्रियों का हक़ नहीं होता, यह मेरे पति का खज़ाना है, और उस पर मेरा पूरा हक़ है।"

"ऐसी हक़ वाली बहुत देखी हैं !"

"अच्छी बात है, अब मुझे देखिएगा !"

"तुम्हें शायद अपने बाप का घमण्ड है।"

"मुझे किसी का घमण्ड नहीं है।"

"तुम औरत हो या चण्डी ?"

"मैं आपकी धर्म-पत्नी हूँ।"

"मैं तुम्हें चुनौती देता हूँ ! जो कर सको, करो। देखूँ, कैसे औरत मुझ पर क़ब्ज़ा करती है !"

"जो आज्ञा, अब आप जा सकते हैं !"

६

"रामसिंह !"

"बाई जी राज !"

"अपने कितने आदमी यहाँ हैं ?"

"कुल सोलह हैं।"

"पिता जी को लिख दो, आठ मज़बूत विश्वासी गोरखा और भेज दें और प्रत्येक को छः महीने की तनख़्वाह पेशगी दे दें।"

"जो हुक्म !"

"और सुनो !"

"जी !"

"रामप्यारी हवेली के भीतर क़दम न रखने पावे, यदि आवे तो उसे नङ्गा करके चाबुकों से पिटवा दो और बाहर निकाल दो।"

"जो हुक्म !"

"सरकार का इस मामले में कोई हुक्म तामील न किया जाय।"

"बहुत अच्छा।"

"दो आदमी सरकार के पीछे हर समय रहें और वे कब क्या करते हैं, कहाँ जाते हैं—निगाह रक्खें।"

"जो हुक्म !"

"कोई और नई बात है ?"

"बात तो बड़ी सङ्गीन है—परन्तु......"

"फ़ौरन कहो !"

"अपना नाई... हाल में मुकलावा (गौना) करके लाया था। सरकार ने बहू को कल उठवा मँगाया—रात भर बड़ा हो-हल्ला मचा। नाई दो-तीन दिन बन्द रहा। उसे बहुत मारा भी गया है—वह ए० जी० जी० से फ़र्याद करने जा रहा था। उसे पाँच हज़ार रुपए देकर चुप किया गया है। सरकार ने हुक्म दे दिया है कि नाई के घर से हवेली तक पक्की सड़क बनवा दी जाय। वह दुमज़िला मकान भी उसे बख़्श दिया है। गाँव में इस बात की बड़ी चरचा है—सरकार की बड़ी बदनामी हो रही है।"

"हूँ, अभी ए० जी० जी० को मेरी तरफ़ से तार दे दो, मैं स्वयं उनसे मिलना चाहती हूँ।"

"आप स्वयं?"

"हाँ, हाँ, सरकार कब तक लौटेंगे?"

"अभी तीन-चार दिन तो लौटते नहीं। नाई वाला मामला ठण्डा पड़ जाय तो आवेंगे।"

"अच्छी बात है, मेरी मोटर ठीक कर रक्खो और तार का जवाब आते ही ख़बर दो।"

"जो आज्ञा!"

"और सुनो, मेरे आगे-पीछे सरकार भीतर की हवेली में न घुसने पावें, पहरा बैठा दो। अगर ज़बर्दस्ती करें तो गोली मार दो।"

"जो हुक्म!"

७

आबू के मनोरम शृङ्ग पर ए० जी० जी० एक सुन्दर कमरे में विचार-सागर में गोता मारते टहल रहे थे। उनके जीवन में यह अनहोनी घटना

थी, पर्दानशीन रानी तत्काल उनसे मिलना चाहती है। अवश्य कुछ भारी बात है। इतने में बैरा ने कहा.........की रानी साहिबा हाज़िर हैं।

साहब एकदम बाहर निकल कर गाड़ी तक आगए और आदरपूर्वक रानी को भीतर ले आए। रानी साहिबा चुपचाप कमरे में आ गईं।

क्षण भर दोनों चुप रहे। रानी ने ही बात छेड़ी—जनाब! आपको इस मुलाक़ात पर आश्चर्य होगा?

"बहुत कुछ, मेरी ज़िन्दगी में यह पहला ही ऐसा मौक़ा है। पर आपको ऐसी साफ़ अङ्गरेज़ी बोलती देख कर मैं और भी हैरान हो रहा हूँ। मैं नहीं जानता था कि राजपूताने के सरदारों की महिलाएँ भी ऐसी शिक्षिता होती हैं।"

"आप शायद मेरे पिता जी को जानते हों?"

"उनका नाम क्या है?"

"दीवान बहादुर......C. I. E.। वे......रियासत के दीवान हैं?"

"ओह, आप उनकी पुत्री हैं? वे मेरे बड़े दोस्त—बड़े मुरब्बी हैं। तब तो आपसे मिल कर मुझे बहुत ख़ुशी हुई। अब आप मुझ पर उतना ही विश्वास कीजिए, जितना अपने पिता जी पर। जो बात हो, बेखटके कहिए, मुझसे जो कुछ बन सकेगा, करूँगा। कहिए, आपने कैसे कष्ट किया है?"

"धन्यवाद! मैं जानती थी कि आप पिता जी के मित्र हैं, उन्होंने आवश्यकता पड़ने पर मुझे आपकी सहायता लेने को कहा भी था। मैंने

अरसक चेष्टा की पर रियासत डूबा चाहती है—लाचार आपके पास आई हूँ—मेरी आपसे एक प्रार्थना है।"

"कहिए!"

"मैं चाहती हूँ कि रियासत 'कोर्ट ऑफ़ वार्ड्स' में ले ली जाय।"

"वाह! यह कैसी बात? अभी तो ठाकुर साहब को अधिकार मिले हुए कुल तीन साल हुए हैं!"

"पर इन्हीं तीन सालों में क्या कुछ नहीं हो गया?"

"आप मुझे खुलासा तो समझाइए।"

"बहुत सी बातें तो कहने के लायक़ ही नहीं—उनकी शराबख़ोरी, व्यभिचार और फ़िज़ूलख़र्ची में रियासत नष्ट हो रही है। सारा ख़ज़ाना ख़ाली हो गया। कई गाँव गिरवी रक्खे गए। तीन-चार लाख क़र्ज़ा हो गया है। तिस पर भी उनके वही रङ्ग-ढङ्ग हैं। लुच्चे-लफ़ङ्गे घेरे पड़े रहते हैं, रियासत भर में किसी भी बहू-बेटी की आबरू बचनी मुमकिन नहीं। रोज़ ये कुकर्म होते हैं। रियाया तङ्ग हो गई। सब जगह बदनामी फैल रही है।"

"आपने समझाया नहीं!"

"बहुत कुछ, पर बात बहुत बढ़ गई है। आप जानते हैं, हिन्दू-स्त्रियों को हिन्दू-लॉ कुछ अधिकार नहीं देता, और रईसों के घर में तो स्त्रियाँ पैर की जूतियाँ समझी जाती हैं। लोगों की नज़र में वे रानियाँ हैं, पर यहाँ उनकी मिट्टी ख़्वार है। कदाचित् आप हमारी तकलीफ़ों को महसूस भी नहीं कर सकते। हमें छाती पर पत्थर रख कर इन रईसों के व्यभिचार आँखों से देखने पड़ते हैं—उनका प्रबन्ध तक करना पड़ता है!"

"यह आप कहती क्या हैं ?"

"जनाब ! बहुत सी बातें हैं, जिनका सीधा सम्बन्ध ब्रिटिश गवर्नमेण्ट से नहीं है— इसलिए गवर्नमेण्ट उन पर विचार ही क्यों करने लगी । स्त्रियों पर रियासतों में जो ज़ुल्म होते हैं, उन्हें रोकने का तो कोई उपाय ही नहीं है । न क़ानून, न पिता का घर, न सुसराल उन्हें मदद देता है—वह सोलहो आना उस रईस की पिशाच-प्रवृत्ति पर निर्भर रहती हैं, जिसकी नस-नस में पाप-वासना, शराब और कमीनी हरकतें हैं। श्रीमान् ! मैं आप ही से यह पूछती हूँ कि यदि कोई रईस ऐसा ही लुच्चा हो—उसमें ऐसी नीच आदतें हों, जिनसे सारी प्रजा तङ्ग आगई हो—पर आपके पधारने पर स्वागत-सत्कार ख़ूब कर दे, राज-भक्त भी बना रहे, ख़िताब भी लेता रहे—तब आप उसे क्या बुरा समझेंगे ? मुग़लों के ज़माने में भी बादशाह रईसों से सिर्फ़ अपनी वसूली का ख़्याल रखते थे; वे कैसा ज़ुल्म करते हैं, इसकी ओर उनका ध्यान न था ।"

"रानी साहिबा ! आपकी बातों का मुझ पर बड़ा असर हुआ है । मैं इस पर विचार करूँगा । परन्तु यह तो आप भी मानेंगी कि इन सब बातों को ज़ाहिर में नहीं लाया जाता—ख़ास कर स्त्रियाँ चुपचाप सहती रहती हैं—फिर गवर्नमेण्ट करे भी क्या ? और आप अगर नाराज़ न हों तो मैं कहूँगा, यह विषय गवर्नमेण्ट पर निर्भर रहने का है भी नहीं । यद्यपि हिन्दू-लॉ स्त्रियों के अधिकारों में सङ्कुचित है, पर सन्तान के अधिकारों पर उसमें बहुत काफ़ी विचार किया गया है । अगर स्त्रियाँ हिम्मत करें, अपनी सन्तान का पक्ष लेकर ऐसे रईसों से लड़ें, तो उन्हें गवर्नमेण्ट बड़ी सहायता कर सकती है । कारण, रियासत हमेशा रईस के ख़ानदान की बपौती होती है ।

यदि गवर्नमेण्ट को यह यक़ीन हो जाय कि रईस की हरकत से वह रियासत इस तरह नष्ट हो रही है कि उसके खानदानी हक़ों में खराबी आने का अन्देशा है, तो गवर्नमेण्ट निस्सन्देह हस्तक्षेप करेगी।"

"मैंने भी यही विचार किया है। मैं अपनी सन्तानों के पक्ष में आपसे अपील करती हूँ कि आप रियासत को 'कोर्ट ऑफ़ वार्डस' में ले लें। ठाकुर साहब उसकी रक्षा के योग्य नहीं हैं।"

"आप मेरी पुत्री के समान हैं, आपके हित के सभी पहलुओं पर मैं विचार करूँगा। रियासत को 'कोर्ट ऑफ़ वार्डस' करने से रियासत का भला नहीं होगा। आप स्वयं ही सोचें कि आज़ादी एक चीज़ तो है। ब्रिटिश-गवर्नमेण्ट इस बात के पक्ष में भी नहीं है। इसलिए जब आप कहती हैं तो मैं कड़ी धमकी रियासत को 'कोर्ट ऑफ़ वार्डस' करने की दूँगा तो—पर वह कोरी धमकी ही होगी। मैं समझाता हूँ इससे आपका काम सिद्ध हो जायगा, यदि आप ज़रा बुद्धिमत्ता से काम लेंगी।"

"आप पर मैं पूरा भरोसा करती हूँ। और मैं आपका बड़ा बल समझती हूँ। यह तो नामुमकिन है कि मैं अन्य स्त्रियों की तरह सब कुछ देखूँ। मैं इस रईस को ठीक करूँगी और रियासत को नष्ट न होने दूँगी। आप कृपा कर मेरे सदुद्देश्य का ख्याल रक्खें।"

"अवश्य, मैं पूरा ख्याल रक्खूँगा। आपसे मिल कर मैं बहुत प्रसन्न हुआ हूँ। आपसे मैं फिर कहता हूँ कि आप अपने पिता की तरह ही मुझ पर विश्वास रख सकती हैं, आपके किसी भी काम आने पर मैं बहुत प्रसन्न होऊँगी।'

रानी साहिबा ने खड़ी होकर साहब को धन्यवाद दिया और विदा हुईं।

८

पोलिटिकल एजेण्ट ने बन्दर के समान लाल मुँह को ऊपर उठा और बिल्ली के समान कञ्जी आँखों से घूर कर कहा—ठाकुर साहब, बैठ जाइए, बड़ी बुरी ख़बर है।

"ख़ैर तो है हुज़ूर! उस दिन पार्टी में भी तशरीफ़ नहीं लाए। बड़ी इन्तज़ारी थी—हुज़ूर के लिए सब तरह का ख़ास इन्तज़ाम ......"

"मुझे इसका खेद है। परन्तु अभी तो जो बात मैं कह रहा था, उस पर ग़ौर करना होगा—यह ए० जी० जी० साहब का फ़र्मान आया है—उन्होंने लिखा है कि रियासत 'कोर्ट ऑफ़ वार्डस' कर ली जायगी।"

ठाकुर साहब की फूँक निकल गई। उन्होंने धम्म से कुर्सी पर बैठ कर कहा—किस क़सूर पर, सरकार!

"आपकी फ़ुज़ूलख़र्ची और बदचलनी की शिकायत पहुँची है। रियासत आपके हाथ से ले ली जाय, इस बात की हिदायत है और मेरी राय पूछी गई है।"

"मगर हुज़ूर! शिकायत की किसने?"

"किसी ने भी की हो, झूठी तो नहीं है। मेरे ख़्याल में तो आपको सब लेखा-जोखा तैयार रखना चाहिए।"

"तब क्या हुज़ूर भी अपनी रिपोर्ट मेरे ख़िलाफ़ देंगे?"

"आप जानते हैं, मैं अपनी ज़िम्मेदारी पर कुछ भी नहीं कर सकता और इस बात से भी आप इनकार नहीं कर सकते कि मैंने आपको बारहा चेतावनी दी है।"

"तब क्या हुज़ूर ने ही शिकायत की है ?"

"नहीं, खास रानी साहिबा ने।"

"रानी साहिबा ने !"

"जी हाँ, वे ख़ुद आबू जाकर साहब से मिली हैं।"

"ख़ुद मिली हैं ! आप कहते क्या हैं ?"

"आश्चर्य तो यह है, कि आपको अपने घर की इतनी बड़ी बात का पता नहीं, तब रियासत का भला क्या पता रखते होंगे ?"

"यह तो बड़ा ग़जब हुआ !"

"आप तैयार हैं ?"

"आपको मेरी आबरू बचानी पड़ेगी !"

"मैं तो कह ही चुका हूँ—मेरी ताक़त से बाहर की बात है।"

"पर मैं आपसे किसी तरह बाहर नहीं हूँ"—यह कह कर ठाकुर साहब कुर्सी से खिसक कर साहब के पैरों पर गिर गए और एक सङ्केत के बाद हाथ जोड़ कर खड़े हो गए।

साहब ने गम्भीर बन कर कहा—मैं कोशिश करूँगा, पर वचन नहीं दे सकता। आपको उचित है कि अब भी सावधान हो जायँ और रानी साहिबा से मेल कर लें, वरना पछतावेंगे।

"आपके कान में कोई बुरी बात न पड़ेगी"—यह कह और लम्बा सलाम कर ठाकुर साहब चले आए।

६

क्रोध और क्षोभ से पागल हुए, होंठ चबाते ठाकुर साहब हवेली की तरफ़ चले। कमरे से भरा हुआ पिस्तौल निकाल कर जेब में रक्खा और वे ड्योढ़ियों में लपके।

ड्योढ़ियों पर गोरखे सिपाहियों का पहरा था। उनमें से एक ने आगे बढ़ कर अदब से कहा—सरकार के लिए भीतर जाने का हुक्म नहीं है। आप बाहर के दीवनख़ाने में विराजें।

"किसका हुक्म ?"—क्रोध से अधीर होकर ठाकुर साहब ने कहा।

"रानी साहिबा का।"

"मैं कौन हूँ, जानते हो ?"

"जी हाँ सरकार, आप रईस हैं, मालिक हैं!"

"फिर यह गुस्ताख़ी!"

"गुस्ताख़ी कुछ नहीं हुज़ूर! रानी साहिबा के हुक्म की तामील है। हम लोग उन्हीं के नौकर तो हैं न ?"

"हटो, दूर हो!" इतना कह कर ठाकुर साहब ज़बरदस्ती भीतर घुसने लगे। गोरखा ने बन्दूक़ सीधी करके घोड़े पर हाथ रख कर कहा—इसी क्षण पीछे क़दम हटाइए, वरना गोली मारता हूँ, यही हुक्म है।

ठाकुर साहब अकचका कर पीछे हट गए। उन्होंने होंठ काटते हुए कहा—अच्छा हुक्म ले आओ।

"सरकार परचा लिख दें, जवाब आ जायगा।"

ठाकुर साहब ने परचा लिख कर भीतर भिजवा दिया। थोड़ी देर में वह वापस आ गया। पीठ पर लिखा था—तलाशी लेकर आने दो।

तलाशी का नाम सुन कर ठाकुर साहब पहले तो उबल पड़े, पर चारा ही क्या था? ससुराल की तनख़्वाह पर नौकर रखने का स्वाद अब मिला। विवश हो उन्होंने तलाशी दी। जेब से पिस्तौल बरामद करके गोरखे ने रानी साहिबा को सूचना दी। रानी ने रामसिंह को बुला कर कहा—सरकार को भीतर आने दो और पिस्तौल को ए० जी० जी० के सामने पेश करके सब माजरा बयान कर दो। दोनों गोरखों को बतौर गवाह साथ ले जाओ। सरकार का इरादा मेरा खून करने का था—यह साबित करना होगा।

ठाकुर साहब भीतर पहुँचते ही स्त्री के क़दमों पर गिर गए और गिड़-गिड़ा कर कहा—पिस्तौल की बात को यहीं रक्खो, वरना ग़ज़ब हो जायगा। मैं तुम्हारी मर्ज़ी के अनुसार करूँगा, मुझे माफ़ करो। तुम जो कुछ चाहोगी वही होगा—बल्कि 'कोर्ट ऑफ़ वार्ड्स' की जगह 'कोर्ट ऑफ़ रानी जी' बना दो। मैं रियासत से बाज़दावा देता हूँ—तुम जैसा चाहो, प्रबन्ध करो।

रानी ने कहा—मैं आपकी बात पर विश्वास करती हूँ। मैं आपको एक मास का अवसर देती हूँ—इस बीच में यदि मैं देखूँगी, कि आप इस समय के वचन को पाल रहे हैं तो मैं इस पिस्तौल-काण्ड को दरगुज़र कर दूँगी। अभी रामसिंह इसे सील मुहर करके और दोनों गोरखों के बयान लेकर अपने क़ब्ज़े में रक्खेगा।

अनेक ख़ुशामदें करके ठाकुर साहब बाहर निकले।

१०

"रथ वहीं रोक दो। इसमें कौन है ?"

रामप्यारी जी हैं !"

"उन्हें बाहर निकालो।"

"सरकार का हुक्म है कि..."

"रानी साहिबा का हुक्म है कि उन्हें जहाँ देखा जाय, नङ्गा करके कोड़े लगाए जायँ।"

"मगर सरकार..."

"उन्हें फ़ौरन बाहर निकालो"—इतना कह कर एक गोरखे ने पर्दा खींच लिया। रामप्यारी बढ़िया ज़री की पोशाक पहने बैठी थर-थर काँप रही थी। क्षण भर में उसे नङ्गा कर दिया गया और चाबुक की मार पड़ने लगी। अभागिनी नारी रोती-कलपती वहाँ से भाग गई।

११

"ठहरो, इस वक्त सरकार कचहरी कर रहे हैं, मुलाक़ात नहीं होगी।"

रामप्यारी बदहवास, चोट और अपमान से नागिन की तरह चपेट खाकर कचहरी में बढ़ गई थी। नौकर के उपरोक्त वाक्य सुन कर ज़ोर से नौकर का गला पकड़ कर दबा डाला और दाँत किटकिटा कर बोली—"तेरी और तेरे सरकार की ऐसी-तैसी। दुष्ट, हत्यारा, पापी—पहले इज़्ज़त उतारता है, पीछे यों छोड़ देता है। आज मैं उसका खून पीऊँगी।" वह पहरेदार को धकेल कर कचहरी में घुस गई।

सब लोग हैरान थे। रामप्यारी ने उन्मादिनी की तरह पत्थर हाथ में लेकर दराज़ों के काँच फोड़ने, गालियाँ बकनी और मेज़-कुर्सी उलटनी शुरू कर दीं। पापी हृदय ठाकुर हक्का-बक्का हुआ देखता रह गया। उसने समझाने की चेष्टा की, तो वह उस पर टूट पड़ी और मूँछों के बाल उखाड़ लिए। ठाकुर साहब कचहरी छोड़ भागे—अमले लोग मेज़ के नीचे छिप गए। बड़ी मुश्किल से रामप्यारी को क़ब्ज़े में किया गया।

रामप्यारी ने ए० जी० जी० के यहाँ मुक़दमा दायर कर दिया। ठाकुर साहब को दस हज़ार रुपए नक़द देना पड़ा। इस समय रानी जी ही रियासत की सर्वेसर्वा हैं।

इस पुस्तक में खींचा गया है। इसे पढ़ते-पढ़ते यदि पेट में बल न पड़ जाय, तो दाम वापस। पृष्ठ संख्या १५०। प्रत्येक पृष्ठ दो रङ्गों में छपा है। कुछ शीर्षक नीचे दिए जा रहे हैं। सचित्र और सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल २॥) रु०

१—राजा साहब की साल-गिरह २—राजा साहब का शिकार ३—राजा साहब का इश्क़ ४—राजा साहब की तलवार ५—राजा साहब का सफ़र ६—राजा साहब की लीडरी ७—राजा साहब का ख़िताब ८—राजा साहब की सनक ९—राजा साहब की हुज़ूरी १०—राजा साहब का उधार-खाता ११—राजा साहब की बीमारी १२—राजा साहब की लड़की की शादी १३—राजा साहब का दिवाला १४—राजा साहब के मैनेजर।

कान पकड़े

[श्री० शौकत थानवी]

यह भी शौकत साहब की जादू-भरी लेखनी का चमत्कार है। इस पुस्तक में लेखक की चुनी हुई हास्य-रस की कहानियों का संग्रह है, जो समय-समय पर 'कर्मयोगी' और 'गुलदस्ता में प्रकाशित हो चुकी हैं। अधिकांश सर्वथा नई हैं। पढ़ने वालों के पेट में हँसते-हँसते बल पड़ जायँगे। छपाई-सफ़ाई दर्शनीय। प्रोटेक्टिङ्ग कवर सहित सजिल्द पुस्तक का मूल्य केवल २॥) रु०

कर्मयोगी प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद

तराज़ू

[सम्पादक : श्री० आर० सहगल]

हिन्दी तथा उर्दू के प्रसिद्ध कहानीकारों की चुनी हुई रचनाओं का अपूर्व संग्रह आप को इस में मिलेगा। कुछ लेखकों के नाम ये हैं :

डॉक्टर धनीराम 'प्रेम', श्री० अहमद नदीम क़ासिमी; स्वर्गीय मुन्शी प्रेमचन्द; श्रीमती बेगम हिजाब इम्तियाज़ अली; स्वर्गीय बाबू जयशङ्कर प्रसाद; स्वर्गीय मिर्ज़ा अज़ीम चग़ताई; स्वर्गीय पं० विशम्भर नाथ शर्मा 'कौशिक'; श्री० सय्यद क़ासिम अली; श्री० सुदर्शन; श्री० हसन अब्बास; श्री० प्रताप नारायण श्रीवास्तव; श्री० दौलत राम गुप्त; पं० जनार्दन प्रसाद झा 'द्विज'; श्री० 'शिलीमुख'; श्री० कुँवर राजेन्द्र सिंह; स्वर्गीय श्री० 'गिरिजेश'; श्री० पङ्कज; श्री० नलिन विलोचन शर्मा; श्री० बसन्त कुमार पाण्डेय; स्वर्गीय श्री० चण्डी प्रसाद 'हृदयेश'; स्वर्गीय अखौरी गङ्गा प्रसाद सिंह, आदि आदि

पृष्ठ संख्या क़रीब ४०० प्रोटेक्टिङ्ग कवर सहित सजिल्द पुस्तक का मूल्य लगभग ४॥) रु०

पुस्तक के लिए ऑर्डर अभी से रिजिस्टर करा लेना आवश्यक है क्योंकि पुस्तक एक परिमित संख्या में ही छपेगी !

कर्मयोगी प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद

आज़ादी के परवाने

सम्पादक:

श्री० आर० सहगल

भूतपूर्व सम्पादक तथा अध्यक्ष 'चाँद' और 'भविष्य'

तुझे उनसे ख्वाहिशे-दुश्मनी, तेरी आरज़ू भी अजीब है !
वह हैं तख्त पे, तू है खाक पे; वह अमीर हैं, तू ग़रीब है !!

भारतीय विप्लव-यज्ञ की उन आहुतियों से हमारे अधिकांश देशवासी सर्वथा अपरिचित हैं, जिनके साहस, त्याग और बलिदान की नींव पर हमारी राष्ट्रीय-इमारत का आज निर्माण होने जा रहा है ! आज लोग इन हुतात्माओं को भूल चुके हैं; उन्हें मूर्ख, उतावले, पथ-भ्रष्ट तथा आदर्शवादी कहने वाले नेताओं से हमें पूछना है, कि आज कहाँ है वह उत्साह और साहस ? कहाँ है वह निर्भीकता और तत्परता ? आज कितने हैं, जो इसी प्रकार हँसते हुए फाँसी के तख्ते को चूम कर उसका आलिङ्गन कर सकेंगे ? प्रत्येक उन्नतिशील देश ने ऐसे कर्मठ वीरों की पूजा की है पर हमारे अधिकांश कृतघ्न-देशवासियों ने उन्हें सदैव हिक़ारत की नजर से ही देखा है ! अब समय आ गया है, जब कि हमें इन अज्ञात बन्धुओं की यादगार में उनकी स्मृति-शेष को अक्षुण्य रखने के लिए कुछ ठोस प्रत्यन करना होगा ! संस्था ने इन्हीं सदभावों से प्रेरित होकर

कर्मयोगी प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद

आज़ादी के परवाने

नाम से एक वृहत् ग्रन्थ कई खण्डों में प्रकाशित करने का निश्चय किया है, जिसका पहिला भाग प्रेस में है। इस ग्रन्थ का हिन्दी तथा उर्दू—दोनों ही संस्करण एक साथ प्रकाशित करने की वृहत् योजना की गई है। कागज़ तथा उपयुक्त एवं आवश्यकीय साधनों का नितान्त अभाव होने के कारण पहिले संस्करण की केवल १०,००० प्रतियाँ छप रही हैं। पुस्तक में जिन शहीदों का संक्षिप्त परिचय होगा उन के शुभनाम इस प्रकार हैं :

१—कूका विद्रोह की १५० आहुतियाँ २—सर्व श्री० खुदीराम बोस ३-५—चापेकर-बन्धु ६—कन्हाई लाल दत्त ७—सत्येन्द्र कुमार बसु ८—मदन लाल धींगरा ९—अमीर चन्द १०—अवध बिहारी ११—भाई बालमुकुन्द १२—बसन्तो कुमार बिस्वास १३—भाई भाग सिंह १४—भाई वतन सिंह १५—मेवा सिंह १६—काशीराम १७—गन्धा सिंह १८—करतार सिंह १९—वी० जी० पिङ्गले २०—जगत सिंह २१—बलवन्त सिंह २२—डॉक्टर मथुरा सिंह २३—बन्ता सिंह २४—रङ्गा सिंह २५—वीर सिंह २६—उत्तम सिंह २७—डॉक्टर अरुण सिंह २८—सोहन लाल पाठक २९—बाबू हरिनाम सिंह ३०—देशभक्त सूफ़ी अम्बा प्रसाद ३१—मान सिंह ३२—राम सिंह ३३—यतीन्द्र नाथ मुकर्जी ३४—नलिनी वाक्च्य ३५—ऊधम सिंह ३६—पं० गेंदा लाल दीक्षित ३७—खुशी राम ३८—गोपी मोहन साहा ३९-४२—बोमेली युद्ध के चार शहीद (कर्म सिंह, उदय सिंह, बिशन सिंह और महेन्द्र सिंह) ४३—धन्ना सिंह ४४—बन्ता सिंह धामियाँ ४५—वरियाम सिंह घुग्गा ४६. किशन सिंह गर्गज्ज ४७—सन्त सिंह ४८—दलीप सिंह ४९—नन्द सिंह ५०—कर्म सिंह ५१—राम प्रसाद 'बिस्मिल'

कर्मयोगी प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद

ज़ब्त हो गए और 'चाँद' प्रेस तक को ज़ब्त कर लेने की धमकी दी गई थी, इसी से पुस्तक का महत्व समझा जा सकता है।

पुस्तक में अमर-शहीद सर्दार भगतसिंह का पारिवारिक परिचय, संक्षिप्त जीवनी तथा उनकी लगभग सभी कारगुज़ारियों के अतिरिक्त, कुछ ऐसे सनसनीख़ेज़ बयानात भी छपेंगे, जो ज़ब्ती तथा सेन्सर के कारण देशवासियों के सामने अभी तक नहीं आ सके हैं। पुस्तक के अन्त में स्वर्गीय सर्दार भगत सिंह तथा स्वर्गीय श्री बटुकेश्वर दत्त द्वारा ऐसेम्बली बम केस के सिलसिले में दिया गया वह संयुक्त ऐतिहासिक वक्तव्य भी प्रकाशित होगा जो इन लोगों ने दिल्ली सेशन्स कोर्ट में ८ वीं जून, सन् १९३१ को दिया था और जिसे पढ़कर कोर्ट में एक तहलक़ा मच गया था। इनके अतिरिक्त देहली तथा लाहौर षड्यंत्र केस की अदालतों (Tribunals) की दैनिक कार्यवाही का मनोरञ्जक विवरण भी प्रकाशित होगा, जो एतिहासिक महत्व की सामग्री होगी। पृष्ठ संख्या लगभग ३५० और मूल्य ४) रू० होगा।

☞ अपनी कॉपी अभी से सुरक्षित करा लीजिए नहीं तो पछताना पड़ेगा, काग़ज़ आदि की कमी के कारण पुस्तक एक परिमित संख्या में ही छपेगी।

शीघ्र प्रकाशित होगी ! तुरन्त ऑर्डर रजिस्टर कराइए !!

भारत में अङ्गरेज़ी राज्य

पाठकों को स्मरण होगा कि यह वही ऐतिहासिक पुस्तक है, जो सहगल जी तथा 'चाँद' कार्यालय के विनाश का कारण सिद्ध हुई थी। पुस्तक छापने के दूसरे ही दिन यू० पी० गवर्नमेण्ट द्वारा ज़ब्त कर ली गई, समस्त भारत में ११०० से अधिक तलाशियाँ हुईं, सैकड़ों देशी तथा विदेशी पत्र-पत्रिकाओं ने अग्र-लेखों द्वारा इस अमानुषिक अन्याय का विरोध और सहगल जी के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित की और एक बार कोहराम-सा मच गया। ज़ब्ती की इस आज्ञा के विरुद्ध हाईकोर्ट में अपील की गई और माननीय डॉक्टर कैलाशनाथ काटजू, वर्तमान न्याय-मिनिस्टर यू० पी० गवर्नमेण्ट ने ९ दिन तक सहगल जी की ओर से बड़ी योग्यतापूर्ण बहस की, पर फल वही हुआ, जिसकी आशा थी। अपील ही ख़ारिज नहीं हुई, बल्कि सहगल जी से ४०५०) रु० गवर्नमेण्ट को खर्च भी दिलाए गए !! इस प्रकार मुक़दमे के खर्च के अलावा क़रीब २५,००० रुपए स्वाहा हो गए और हमें सन्तोष कर बैठ जाना पड़ा था। इसके बाद जो भी हुआ उसका विस्तृत विवरण आप पुस्तक में देखेंगे ही। लेखक तथा ओङ्कार प्रेस वालों ने साज़िश करके पुस्तक छाप डाली थी। इन पर मुक़दमा चला और इसका निर्णय सहगल जी के पक्ष में हुआ। अब उसी पुस्तक को पुनः प्रकाशित करने की वृहत् योजना हो रही है। पुस्तक तीन भागों में छपेगी और पूरे सेट का मूल्य १६) रु० होगा। ऑर्डर के साथ २) रु० पेशगी भेजने वालों के ही ऑर्डर रिजिस्टर होंगे। समस्त मूल्य पेशगी भेजने वालों को पुस्तक १२) रु० में ही दी जायगी।

कर्मयोगी प्रेस, लिमिटेड, इलाहाबाद